

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

१. भूमिका-मूलपाठ-पाठभेद चै पाठ-सायणमहीधर-भाष्य-  
शास्त्रिक-हिन्दी-रूपान्तर- ) शिरोटिप्पणी-वैदिक-  
स्वर-व्याकरण पदानुसमाखणिकादिभि समन्वितम्

## वेदलावण्यसू

( अ० ११५४, २ १० १०१० सूक्तानि, य० ३१,  
पारम्परियोपनयनसूत्राणि च )

सूत्रार्थसम्पादक तथा अनुवादक

सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (प० गुरुवर दयाल गोल्डमैडलिस्ट)

पी० एचडी०, बी० ए० आर्ग, शास्त्री, प्रभाकर,

केरल कायल उर्मा वलिपा भण्डारकर्माङ्गणपदवी

ऽ आचार्य सम्मृत विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर

भारती



मन्दिर

४ श्रीदापुरी, गोरखपुर

Government College Library  
KOTAH

Class No. 891.24

Book No. S443 V Vol. No. 1

Accession No. 28443

GPB 607-7-59-6000 Bk.

विस्तृतभूमिका-मूलपाठ-पाठभेद-प्रदपाठ-सायणमहीधर-भाष्य-  
शाब्दिक-हिन्दी-रूपान्तर-सुकाशिनोटिप्पणी-वैदिक-  
स्वर-ध्याकरण-पदानुक्रमणिकादिभिः समन्वितम्

## वेदलावण्यसू

( ऋ० १।१५४, २, १२, १०।९० सूक्तानि, य० ३१,  
पारम्करीयोपनयनसूत्राणि च )

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (५० रघुवर ब्याल गोल्डमैडलिस्ट)  
पी० एचडी०, बी० ए० अॉनमं, शास्त्री, प्रभाकर,  
केरल कोयल वर्मा वलिया थम्पूरन स्वर्णपदकी

आचार्य, संस्कृत विभाग  
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर,

भारती



मन्दिर

४ हीरापुरी, गोरखपुर

भारती मन्दिर  
अनुसन्धान शाला  
४ हीरापुरी, गोरखपुर ।

सर्वाधिकार लेखक के अधीन सुरक्षित हैं ।  
मूल्य रु० ८/२५ न.पै.

### मुद्रक

गोरखपुर :—

१. भारत प्रेम, हांगुपुर—कोर, मुग्धपुष्ट, विषयसूची, उपनयन सूत्रों की टिप्पणियाँ आदि पृ० १—६० ।
२. नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, गोलघर—उपनयनसूत्राणि पृ० १—२८; श्रवणसूत्रानि—भूमिका पृ० १—२६

वाराणसी :—

३. ज्वेलियर प्रकाश प्रेस, काल भैरव मार्ग—विष्णु और पुरुष सूक्त, आदि पृ० १ अ मे अन्त तक ।
४. मास्टर प्रिंटिंग वर्क्स, ६१।६४ बुलानाला—इन्द्रसूक्त
५. आर्गन भूषण प्रेस, विलॉनन—उपोद्घातः उपनयनसूत्रों की भूमिका श्रवणसूत्रों की भूमिका, पृ० २७ मे ७३

# विषयसूची

गोद्घात

१

## पारस्करीपोपनयनसूत्राणि

भूमिका

१५—५७

(यहाँ कोष्ठकों में सन्दर्भसख्या दी गई है) ।

सस्कार (१—६); अन्य जातियों में भस्कारों की सत्ता (७—९),

ग्नयन संस्कार की प्राचानता (१०—१६), पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्र (१७—२१), पारस्करीय उपनयनविधि (२२—२८), पारस्करीय विधियों में प्रक्षेप (२९), पारस्कर और आश्वलायन की विधियों में भेद (३०), प्रापस्तम्ब गृह्यसूत्र के विरोध विधान (३१—३३), गोमिल गृह्यसूत्र की विधि न श्रान्तर (३४—३५); पारस्कर के उपनयन सूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों की गलिका (३६), कन्याओं का उपनयन (३७—४०); शूद्रों की स्थिति और उन का उपनयन (४१—४२) ।

- |   |       |
|---|-------|
| १. उपनयनसूत्र और उन का हिन्दी अनुवाद        | १—२७  |
| २. परिशिष्ट १—सुशाशिनी टिप्पणियाँ           | १—८१  |
| ३. (उपनयनसूत्रों की) पद और विषय अनुक्रमणिका | ८२—८९ |

## ऋक्सूक्तानि

- |                           |      |
|---------------------------|------|
| १. भूमिका—ऋग्वेद का परिचय | १—७२ |
|---------------------------|------|

(यहाँ कोष्ठकों में सन्दर्भों की क्रमिक सख्या दी गई है ।)

वेद शब्द (१), शाश्वामहिताप (२—५), ब्राह्मणग्रन्थ (६), आरण्यक (७—८); उानिपद् (१०—११); सूत्र (१२—१५); ऋग्वेद (१६—१७), ऋग्वेद का काल (१८—३८), ऋग्वेद संहिता की उत्पत्ति और विकास (३९—४५), वेदमन्त्रों की मुरझा के साधन (४६—५०), ऋग्वेद में विकार (५२—५३); ऋग्वेद का

विस्तार और विभाजन (५४—५६); ऋग्वेद की संघटना (५७—७८); ऋग्वेद की भाषा (७९—८१); ऋग्वेद में छन्दःप्रयोग (८२—८८); ऋग्वेद का धर्म (८५—११७); देवताओं का वर्गीकरण (९१); प्रमुख देवता (९२); अल्पस्तुत देवता (९३); अमूर्त देवता (९४—९५); देवियां (९६—९७); युग्म देवता (९८); संघ देवता (९९); लघु देवता (१००—१०१); रत्न देवता (१०२); पार्थिव वस्तु—देवता रूप में (१०३); असुर (१०४—१०६); ऋषि दयानन्द का मत (१०७); विवेचन (१०८—११७); ऋग्वेद में लौकिक सामग्री (११८—१२४); लौकिक सूक्त (११८); मंवाद सूक्त (११९); नीति सूक्त (१२०—१२१); ऐतिहासिक सामग्री (१२२—१२३); पहिलिया (१२४); सृष्टिसूक्त (१२५); दानस्तुतियां (१२६); भौगोलिक सामग्री (१२७); सामाजिक अवस्था (१२८—१२९); व्यवसाय (१३०—१३३); मनांविनाद (१३४); ऋग्वेद का साहित्यिक मूल्यांकन (१३५—१३८); ऋग्वेद की व्याख्यानपद्धति (१३९—१६०); प्रस्तुत संग्रह के देवताओं का स्वरूप—विष्णु का स्वरूप (१६१—१६४); इन्द्र का स्वरूप (१६५—१८२); पुरुष का स्वरूप (१८३—१८५) ।

[ आगे दाहिनी ओर छोटे कोष्ठकों में पृष्ठसंख्या दी गई है । कोष्ठकों से बाहर मन्त्रश्रुतीक से पूर्व बाईं ओर मन्त्रों की क्रमशः क्रमिक और सूक्त में की संख्याएं दी गई हैं । ]

## २. विष्णुसूक्तम् [ऋ० १।१५४]

१—२८

ऋष्यादि—(१); १. विष्णोर्नु क्रम्—(१—७); २. प्र तद्विष्णुः—(७—११); ३. प्र विष्णवे शपम्—(११—१४); ४. वस्य त्री पूर्णा—(१४—१८); ५. तदस्य प्रियम्—(१८—२३); ६. ता यां वास्तु०—(२४—२८);

## ३. इन्द्रसूक्तम् [ऋ० २।१०]

२९—८४

ऋष्यादि—(२९); ७।१. यो जात एव—(२९—३६); ८।२. यः पृथिव्यां (३७—४०); ९।३० यो हत्वाहिम०—(४०—४६); १०।४. येनेमा विश्वा

दि—५१), ११५—य स्मा पृच्छन्ति (५१—५४), ११६—या रधस्व  
 दिता—(५४—६०), ११७—यस्याश्वास प्रदिशि—(६०—६१), १४८—  
 कन्दसी—(६१—६३), १५६—यस्मात् अते—(६३—६५), १६१०—  
 शशतो—(६५—६८); १७११—य शम्भ—(६८—७३), १८१२—  
 समरश्मि०—(७३—७६), १६१३—द्याना चिदस्मी (७६—७८), २०१४  
 -य मुन्वन्तम० (७८—८१), २११५—य मुन्वते पचते (८१—८४) ।

• पुरुषसूक्तम्—[ऋ० १०१०, य० ३१] १अ—५०अ

श्रप्यादि (१ अ), २११—सहस्रशीर्षा पुरुष (१ अ—४अ),  
 ३१२—पुरुष एवेद सर्वम् (५ अ—८ अ), २४१३—एतावानस्य महिमा  
 न अ—६ अ), २५१४—त्रिपादूर्ध्व उदैत् (१० अ—११ अ), २६१५—  
 स्माद्विराडजायत (११ अ—१५ अ), २७१६—यः पुरुषेण इगिया (१५ अ  
 न अ), २८१७—त यज्ञ यद्विधि मौक्षन् (१८ अ—२० अ), २६१८—  
 त्मागृहात्सर्वहुत समुतम (२० अ—२२ अ), ३०१९—तस्मात्तजात्सर्वहुत  
 इव (२२ अ—२४ अ), ३११०—तस्मादश्वा अजायन्त (२४ अ—२५ अ),  
 ३१११—यत्पुरुष द्यदधु (२५ अ—२८ अ), ३३१२—ब्राह्मणोऽग्न्य  
 त्मासीद् (२८ अ—३० अ), ३४१३—चन्द्रमा मनसा जात (३० अ—  
 ३४ अ), ३५१४—नान्या आसीद्—(३४ अ—३६ अ), ३६१५—सप्तास्यासत  
 (३७ अ—३९ अ), ३७१६—यज्ञेन यज्ञमयन्त (३९ अ—४१ अ), ३८१७  
 ३७—यद्भय सम्भृत (४२ अ—४४ अ), ३६१८—वदाहमेत (४४ अ  
 —४५ अ), ४०१९—प्रजापतिश्चरति (४६ अ—४७ अ), ४११०—२०—  
 यो देवेभ्य आत्पति (४७ अ—४८ अ), ४२१०—२१—रुच प्राणि (४८ अ—  
 ५० अ), ४३१०—२२—भोश्च ते लक्ष्मीश्च (५० अ—५२ अ) ।

(तीनों परिशिष्टों की इस सूची में दाहिनी ओर कोष्ठकों में  
 संदर्भसंख्या दी गई है ।)

परिशिष्ट १—संहितापाठ से पदपाठ—

५३ अ—५६अ



पदपाठ का स्वरूप (१); संहितापाठ से पदपाठ लिखना (२); उदाहरण (३—४); पदपाठ लिखने के नियम (५); पदपाठ में इति लगाने के नियम—प्रत्यय संज्ञकों के आगे इति (६); अन्य पदों के आगे इति (७); अवग्रह लगाने के नियम (८) ।

### परिशिष्ट २—वैदिक स्वर

६०अ—६५अ

वैदिक स्वर (१—३); स्वर के उपयोगी नियम (४—८); स्वतन्त्र स्वरित (९—१५); नित्य निघात (= अनुदात्त) पद (१६); उदात्त का अभाव (१७—१८); सम्बोधनपदों का स्वर (१९—२०); क्रियापदों का स्वर (२१—२६); उपसर्गों का स्वर (२७—२८); समासों का स्वर (२९—३४) ।

### परिशिष्ट ३—वैदिक व्याकरण

६६अ—८०अ

वर्णमाला (१—२); सन्धि (३—८); स्वरसन्धि (४—५); व्यञ्जन-सन्धि (६); वाद्य सन्धि (७); लोप होने पर सन्धि (८); शब्दरूप (९—३४); एकवचन (१०—२१); द्विवचन (२२—२५); बहुवचन (२६—२९); शब्दरूपों की रचना (३०); रथी (३१); नदी (३२); तन् (३३); मुपां मुलुक् (३४); धातुप्रकिया (३५—६६); आगम (३५—३६); उपसर्ग (३७); तिङ्प्रत्यय (३८—४२); द्वित्व (४३); मण (४४); लकार (४५—५६); काल (४६—४७); भाव (४८—५६); लेट् (४९—५६); √भू (५३); √सु (५४); लेट् रूपों का वर्गीकरण (५५); इंजंकिट्य (५६); सातत्यद्योतक कृदन्त पद (५७—५८); क्त्वा-अर्थ के रूप (५९); तुमर्थ के रूप (६०—६५); कृत्यप्रत्यय (६६); कर्मप्रवचनीय निपात (६७—७०); वैदिक भाषा और व्याकरण की कुछ अन्य विशेषताएँ (७१—७५); कारक (७१); वर्णविकार (७२); सांकेतिक-दीर्घ (७३); प्रत्ययों का प्रयोग (७४); व्यत्यय (७५) ।

वेदमन्त्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका

८१४

ऋक्सूक्तटिप्पणीषु व्याख्यातपदानामनुक्रमणिका

८३६

संक्षेपविवरण

८५

ॐ ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।  
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु ॥ ॐ

## उपोद्धात

प्रस्तुत ग्रन्थ के दो भाग हैं —

१—पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनमूत्राणि २ ऋक्सूक्तानि (य० ३१ च) । दोनों भागों की भूमिकाएँ, टिप्पणियाँ और अनुक्रमणिकाएँ पृथक्-पृथक् रखी गई हैं । उपनयन सूत्रों की भूमिका में ऋक्सूक्तों की टिप्पणियों के निर्देश किए गए हैं और ऋक्सूक्तों की भूमिका और टिप्पणियों में उपनयन सूत्रों की टिप्पणियों की ओर अनेक बार निर्देश किया है । अतः दोनों भाग स्वतंत्र प्रतीत होने पर भी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं ।

२—इन सम्बन्धों में पारस्करगृह्यसूत्र के दो सस्कारणा का उपयोग किया गया है —

(अ) पारस्करगृह्यसूत्रम्—श्री वेदाचार्यविजयचन्द्रगणेशकृतटिप्पणि-  
भि समलङ्कितम्—श्रीवैकुण्ठेश्वर स्टीम्युन्त्रालय, बम्बई स० १९८५ वि० ।

(आ) पारस्करगृह्यसूत्र पञ्चभाष्योपेत महादेवगणेशा मसूत्रम्—  
गुजराती प्रेस, बम्बई, १९७३ वि० ।

३—दोनों सम्बन्धों में कुछ भेद हैं जो इन प्रकार हैं —

(१) आ में अधिकांश स्थलों पर 'ः' के स्थान पर 'ऌ' का प्रयोग किया गया है । प्रकृत मूल में ऐसे स्थलों पर \* चिह्न दिया गया है ।

(२) कुछ स्थलों पर 'ः' को आ में ॐ पढ़ा है । ये स्थल † चिह्न से चिह्नित हैं ।

(३) सूक्त १४, १०८, से १२४ आ में नहीं है ।

(४) आ में ८९ और ९० की संख्या क्रमशः ९० और ८९ है।

४—इस संस्करण में 'अ' के पाठ को ही ग्रहण किया गया है। कोष्ठकों में रखे हुए पाठ दोनों संस्करणों में पाये जाते हैं, परन्तु उन को सब भाष्यकार सूत्रकार का अनभिमत मानते हैं। सूत्र० १०८-१२४ भी इसी श्रेणी में है। छापे में उन में कोष्ठक रह गए हैं।

५—अ और आ में कण्डिकाओं की संख्या के अंकन में भी अन्तर है। अ में यह प्रकरण ३-७ कण्डिकाओं में है, और 'आ' में २-५ में। इन संस्करण में दोनों की संख्या दी गई है।

६—अ में सूत्रों पर अंक नहीं है। कण्डिका ३-६ में आ के अंक दाईं ओर हैं। कण्डिका ७ में भी अंकन कर दिया गया है। इस संस्करण में दाईं ओर प्रत्येक सूत्र और मन्त्र पर अविकल संख्या दी गई है। अनुवाद, टिप्पणियों, भूमिका आदि में सर्वत्र इन अविकल संख्या का प्रयोग नीत्यों की दृष्टि से किया गया है।

७—अनुवाद और टिप्पणियों में पं० सुन्दरदेव वर्मा के हिन्दी अनुवाद, हरिहर आदि के पाँच प्राचीन भाष्यों, संस्कारचन्द्रिका तथा संस्कारविधि से पुष्कल सहायता ली है।

८—दोनों भागों—उपनयन सूत्रों और ऋक्सूक्तों की भूमिकाओं में दोनों से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रामाणिक धनतिविस्तृत वर्णन किया गया है। अपने विचारों के लिए पादटिप्पणियों में पुष्कल प्रमाण भी दिए हैं। इन विचारों में अपनी गड़बड़ों को नमाविष्ट कर दिया है।\* यहाँ वर्णित विषयों का ज्ञान द्विपयसूची पर दृष्टि डालने से ह्रां गकेगा।

\*परमपूज्यगुरुजी श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी का आदेश है कि अपनी विचारधाराओं का समावेश करते हुए वैदिक साहित्य का एक इतिहास लिखें। वेदविषयक यह भूमिका उगी आदेशपालन का एक अंग है।

९—उपनयन सूत्रों के इस सारकरण की टिप्पणियों और अनुवाद में वेदमंत्रों के अर्थ छावदछ ज्ञात भाष्यकारों से अनुभूति लेते हुए भी उनसे पर्याप्त भिन्न है। इस में मरा प्रयास वैकट भाष्य के समान कोई नया सम्प्रदाय स्थापित करने का नहीं है। मैं ने केवल त्रिया और उम में विनियुक्त मन्त्र के अर्थ में समन्वय के प्राचीन नियम का चरितार्थ करने का प्रयास किया है। कर्मकाण्ड के ग्रन्थों के भाष्यकार बहुधा इस नियम का पालन करने में सफल नहीं हो पाए हैं। इस में मैं न ता सफलता की उद्घाषणा करता हूँ, न अर्थों की इयत्ता की। हाँ, एवविधता का दिग्दाम अवश्य है। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थ यदि इस प्रकार न दिए जाएँ तो त्रियाएँ और मन्त्रों के अर्थ असम्यक्त रह कर जभीष्ट फल देने से ही वञ्चित नहीं रहते, प्रत्युत अनिष्ट के कारण भी बन जाते हैं। अतः भाष्यकारों के विभिन्न दृष्टियाँ य कर्मकाण्ड के प्रकरण में अमगत अर्थ यहाँ अवान्छनीय और अप्राप्तगिन हैं।

१०—उपनयन सूत्रों की टिप्पणियाँ मैं अपने अनुवाद के आधारों को देने के साथ ही भाष्यकारों के मता का निर्देश भी किया है। यथास्थान उन की आलोचना भी की है। सस्कार की क्रियाओं आदि के मूल भाव को खोलने का प्रयत्न भी किया है। षण्ड, चरत्र, अजिन आदि पर नई दृष्टि से सम्प्रमाण नद्विचार प्रस्तुत किए हैं। उपनयन के सांस्कृतिक महत्त्व का समझने में ये टिप्पणियाँ उपयोगी हो सकें इसी भावना से इन्हें सुविस्तृत बनाया है। अन्त में पदा और विषयों की एक अनुरमणिका भी दी है।

११—इस ग्रन्थ में मकलित ऋग्वेद के सूक्तों के मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद प्रायः सायण और आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों की शैली पर दिया है। बहुधा आधुनिक विद्वानों के अर्थों की अपेक्षा सायण के अर्थ अधिक स्पष्ट, सगत और बोधगम्य हैं। ऐसे स्थलों पर सायणीय व्याख्यान को अपनाया है। अनुवाद में हिन्दी के शब्दों का चुनाव टिप्पणियों में दिए

गए धरने मुझावों के अनुद्वप करने का प्रयास भी किया है । अपने विचारों को टिप्पणियों में व्यक्त किया है, सामान्यतः उन्हें हिन्दी अनुवाद में समाविष्ट नहीं किया है । इस के दो लक्ष्य हैं :—

१. विद्यार्थियों की परीक्षा की दृष्टि से मन्त्र का विवादहीन ग्राह्य अनुवाद मिल जाए । २. सामान्य पाठकों को सायणीय और आधुनिक जैली के अनुवादों का नाकात् परिचय हो जाए । टिप्पणियों में आधुनिक विद्वानों के विचारों को समाविष्ट करते हुए नैपुण्य जैली पर ब्राह्मण ग्रन्थों और वैदिक संस्कृति के आधार पर प्रमुख पदों और पदसमूहों की व्याख्या की है । समस्त मन्त्रों का अर्थ पाठक स्वयं कर सकेंगे । टिप्पणियों में प्रदत्त वे व्याख्यान वैदिक विद्वानों के विचार के लिए अनेकविध सामग्री प्रस्तुत करते हैं । इन में अनेकों वेदविषयक मान्यताओं के स्थान पर नए और युक्ति-प्रमाण-संगत मुलाव प्रस्तुत किए गए हैं । इसी कारण इस संस्करण का नाम 'वेदलावण्यम्' (✓लु से) रखा गया है । यह संस्करण इस दृष्टि से अन्य संस्करणों से विलक्षण और शोधभूयिष्ठ है । विद्यार्थी ! टिप्पणियों को समझ कर परीक्षा में दे कर अधिक अंक प्राप्त कर सकेंगे ।

१२—देवताओं पर लिखी गई टिप्पणियों में प्रकरणोचित अर्थ का विवेचन करने के लिए जितनी सामग्री आवश्यक थी उतनी ही दी गई है । उन के अन्य स्वरूपों और व्युत्पत्ति आदि का विवेचन सामान्यतः छोड़ दिया गया है । उन के दार्शनिक स्वरूप का परिचय डा० फतहसिंह के वैदिक दर्शन में बड़ी उत्तम रीति से दिया गया है । देवताओं के स्वरूप और व्युत्पत्ति का ज्ञान उन के ग्रंथ की वैदिक ऐटिमोलोजी से प्राप्त किया जा सकता है ।

१३—सामान्यतः आजकल के अधिकांश विद्वान् ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवृत्त की हुई वेदभाष्यजैली की उसे अवैज्ञानिक कह कर उपेक्षा करते हैं और उन के वेदभाष्यों तथा उन की भूमिका को साम्प्रदायिक कह कर उस में हार रहते हैं । परन्तु दयानन्दभाष्य के प्रति उन के उपरोक्त उद्गार उन के

अपने ज्ञान, मस्तिष्क और हृदय का चित्र उपस्थित करते हैं दयानन्द-भाष्य के दोषों का नहीं। यद्यपि वेदाध्ययन के ह्यमित युग में मायण और उवट-महीधर आदि ने वेदज्ञान के दीपक को प्रज्वलित रख कर हम पर महान् उपकार किया है तथापि उन के भाष्य और शैली वैदिक ज्ञान की गरिमा को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं। यह बात विशेष रूप से कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों पर लागू होती है। इन मन्त्रों के अर्थों और उन के विनियोग की तुलना से उन में बड़प्पा कोई सम्बन्ध पता नहीं चलता है। ब्राह्मणों का मत है कि मन्त्र और त्रिया का साक्षात् सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति, में या तो मन्त्र के अर्थ में परिवर्तन किया जाए या त्रिया को बदला जाए तब ही ब्राह्मण का लेख सार्थक होगा। त्रिया परम्परा से चली आ रही है। उन में परिवर्तन से महान् अव्यवस्था आ जाती है। अतः मन्त्र के अर्थों को ही क्रिया के अनुसार करना आवश्यक हो जाता है। यह अर्थान्तर केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित वेदभाष्यशैली से सम्भव है। अन्य किसी शैली से नहीं। इस तथ्य का त्रियात्मक रूप उपनयनमन्त्रों में विनियुक्त मन्त्रों के इस प्रथम में दिए गए अनुवाद और टिप्पणियों में स्पष्टतया दिखाई पड़ेगा।

१४—अतः इस संस्करण के उपनयन में विनियुक्त मन्त्रों के अनुवाद और टिप्पणियों से यह सरलता से ज्ञात हो जायगा कि ऋषि दयानन्द का वेदार्थ और वेदार्थशैली भयावह और अस्पृश्य नहीं है, प्रत्युत वे प्रयोग्य अनुकरणीय, मननीय और लाभकारी हैं। इस वेदभाष्य से अनेकों वैदिक गुणधर्म सुलभ जाती हैं और वेद का प्राचीन गौरव दृष्टिपथ में आने लगता है।

१५ यह ग्रन्थ आर्यसमाज आदि धार्मिक संस्थाओं के क्षेत्र में कार्य करने वाले वैदिक पण्डितों को भी कार्य करने की एक नई प्रणाली और क्षेत्र का दिग्दर्शन कराने वाला होगा। आर्यसमाज की संस्थाओं में गम्भीर वैदिक

राहि १ के मूजन को मात्रा पर्याप्त अन्य है और उन की श्रेणी भी कुछ परिवर्तन की अपेक्षा रखती है।

१६. टिप्पणियों में पद-पद पर अनेकों ग्रन्थों के प्रमाण और उद्धरण दिए हैं। बहुत से ग्रन्थों के स्थलों को देवने का मुजाब दिया गया है। परीक्षार्थी प्रश्नपत्रों के उत्तरों में इन सब को छोड़ दें। इन प्रमाणां का याद करना अनावश्यक है। यदि इन ग्रन्थ में उन में वेदाध्ययन के लिए सचि जासूत हो गई तो ये प्रमाण उन को नहायक होंगे। यही स्थिति छात्रण ग्रन्थों से उद्धृत पदों के अनेकविध अर्थों की है। उन सब को याद करना आवश्यक नहीं। यह सब सामग्री विद्वानों के विवेचन, विषय को गप्रमाण करने और आगे अध्ययन में सचि उत्पन्न करने के लिए है।

१७. इस ग्रन्थ में मेरे दीर्घव्यापी अध्ययन और सोजों को छान चक्षुषा दिखाई पड़ेगी। विद्वानों को इन की अनेकों पंक्तियों के पूर्ण महत्त्व को समझने के लिए मेरे पुराने लेखों और रचनाओं के ज्ञान की आवश्यकता अनुभव होंगी। मेरे स्थलों पर बहुधा अपने विचारों को कुछ विस्तार से वर्णन करने और पाठि० या कोष्ठकों में अपनी रचनाओं के सम्बन्धित स्थलों का निर्देश करने का प्रयत्न किया है।

१८. ऋग्वेद के सूक्तों में दार्ढ और मन्त्रों की अधिकतम क्रमिक संख्या और दार्ढ और सूक्त में मन्त्र की संख्या दी है। यजुर्वेद की संख्या जहाँ भिन्न है वहाँ मन्त्र के नीचे लिख दी है। ग्रन्थ में प्रमाणां में बहुधा और अनुक्रम-णिकाओं में सर्वत्र अधिकतम संख्या का ही प्रयोग किया गया है।

१९. उपनयन सूत्रों के इन संस्करण में मन्त्रों पर स्वर चिह्न नहीं लगाए जा सके हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र के संस्करणों में मन्त्रों पर स्वरचिह्न दिए भी नहीं गए हैं।

२०. सूक्तों में मन्त्रपाठ, पदपाठ और टिप्पणियों के पदों में स्वर दिए

गए हैं। बी० ए० और एम० ए० दोनों ही श्रेणियों में पदपाठ पूछा जाता है। अतः स्वरो के चिह्नों का परिज्ञान भी नितरा आवश्यक है। वैदिक व्याकरण पर भी प्रश्न पूछे जाते हैं। वैसे भी मन्त्रों की भाषा को समझने के लिए वैदिक व्याकरण का ज्ञान परम आवश्यक है। अतः इन दोनों विषयों का मक्षिप्त, समकल, स्पष्ट और आवश्यक परिचय यहाँ सबलित मन्त्रों में उदाहरणों के साथ ऋग्वेद के सूक्तों के अन्त में दिया गया है।

२१ इस प्रकार इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण और सभी विश्वविद्यालयों में प्रयोग किए जाने योग्य बनाया है। यदि यह मस्करण विश्वविद्यालयों में जादूत हुआ तो और अधिक मन्त्रों और सूक्तों पर लिखने का साहस बग्ना सम्भव हो सकता है।

२२ स्वतन्त्रता से पूर्व वैदिक और संहिता के विद्वानों में एक विशेष गुण या परिपाटी थी—द्वन्द्वों के लेखों और ग्रन्थों आदि का गम्भीर अध्ययन कर उन पर अपने-अपने विचार प्रकाशित करना और ऐसे विचारों की आलोचना प्रत्यालोचना। सद्भावनापूर्ण यह शैली अध्ययन और ज्ञान को विस्तृत करने का अत्युत्तम उपाय थी। परन्तु आज इस शैली का प्रचलन पर्याप्त कम हो गया है। इसमें सद्भावना के ह्रास के साथ अहंभाव भी बहुत बढ़ गया है। यदि कोई देव इस रचना को एवविध सद्भावनापूर्ण आलोचना करे तो उसकी एक प्रति विचारार्थ प्राप्त कर उनका परम अनुगृहीत रहूँगा।

२३ भारत के कुछ विश्वविद्यालयों में बी० ए० में वेद पढ़ाने की परिपाटी अंग्रेजों के काल से चली आ रही है। यद्यपि अंग्रेजों का लक्ष्य निर्व्याज रूप से भारतीय साहित्य और संहिता से न्याय करना नहीं था तथापि उन्होंने वेदाध्ययन का श्रम चालू किया जो उन के शासनकाल में उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

२४ परन्तु स्थितिमा बदली। अंग्रेज चले गए। स्वतन्त्रता आई।



देश ने अनेक क्षेत्रों में उन्नति प्रारम्भ की। शिक्षा का क्षेत्र भी अपवाद न रह सका। परन्तु इस उन्नति में भी वेदाध्ययन का ह्रास-सा लक्षित होता है। कई स्थानों पर वी० ए० स्तर पर वेद का पठनपाठन नहीं होता है। कई विश्वविद्यालयों में वेदप्रेमी विद्वानों के कार्यवाहक होने पर भी वेद का वर्ग नहीं है। कई स्थानों पर पाठ्य-प्रणाली में वेद का वर्ग होने पर भी अध्यापन की व्यवस्था नहीं है। परिणामतः आज वेद से सुपरिचित विद्यार्थी विश्वविद्यालयों से अपेक्षाकृत कम निकलते हैं।

२५. आज का विद्यार्थी हिन्दी माध्यम से पढ़ना चाहता है। इस माध्यम में वेद पर ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। इस कारण भी विद्यार्थी वेदाध्ययन से घबराते हैं। उन के लिए उपयुक्त सामग्री हिन्दी माध्यम से प्रस्तुत करना आधुनिक अध्यापक का पवित्र कर्तव्य है।

२६. गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक संचालकों ने पिछले वर्ष का पाठ्यक्रम इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अनुसार निर्धारित किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में वी० ए० में वेद का पर्याप्त अंश पढ़ाया जाता है। परन्तु वहाँ के किसी अध्यापक ने अथवा अन्य किसी ने उस भाग को हिन्दी या अंग्रेजी के माध्यम से विद्यार्थियों और जनता तक पहुँचाने का प्रयास नहीं किया। श्री रघुवर मिट्ठलाल शास्त्री और डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने उपरोक्त वेदभाग को सायण और ज्यौत आदि के भाष्यों और एक भूमिका के साथ प्रकाशित कर पर्याप्त उपकार किया है, परन्तु उस से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति पर्याप्त दूर रही है।

२७. गोरखपुर विश्वविद्यालय ने इस वर्ष अपने पाठ्यक्रम में पर्याप्त परिवर्तन किया। इस परिवर्तन के फलस्वरूप वेद का पाठ्यक्रम बहुत बदल गया है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप वेद का पाठ्यक्रम केवल ऋग्वेद के तीन सूक्त १।१५४, २।१२ और १०।९० रह गए हैं। यह है। इस में पारस्कर गृह्यसूत्र के उपकरण सूत्रों को भी नियत किया गया है। यह पाठ्यसामग्री पूर्व की अपेक्षा

किञ्चित् कम होते हुए भी बहुत महत्वपूर्ण है। इस से विद्यार्थियों का वेद के ईश्वर और सृष्टिविषयक दार्शनिक विचार, प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक सम्प्रदायों और शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय वैदिक सभ्यता की पर्याप्त झंकी मिल जानी है। वैसे भी छोटे पाठ का गम्भीर और विस्तृत अध्ययन लम्बे पाठ के चलते अध्ययन से कोटिश उत्तम है। अतः पाठ्यक्रम का यह परिवर्तन अवाञ्छनीय नहीं है।

२८ जैसा ऊपर लिखा जा चुका है इस समय तक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं है जो विद्यार्थियों को रोचक और गम्भीर शैली में वेद के विषय में विद्वानों के विचारों को पहुँचा सके। पिछले वर्ष के पाठ्यक्रम के परिवर्तन के फलस्वरूप भी एक नए संग्रह की आवश्यकता हो गई है। इस रचना में इन दोनों ही लक्ष्यों को पूरा किया गया है। यदि विद्यार्थियों का इस में अभीष्ट महायत्ना मिल सकी और उन में वेदाध्ययन की प्रवृत्ति जागृत हो सकी तथा वैदिक विद्वानों और जनता को अपने अपने अनुरूप सामग्री मिल सकी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

२९ इस संस्करण के तैयार होने में पर्याप्त समय लगा है। शीघ्रता के लिए कई प्रेसों में छपाई का प्रबन्ध कराने पर भी इस के प्रकाशन में विलम्ब होना स्वाभाविक था। मेरी अपनी व्यस्तताएँ और अध्यापनकार्य भी इस देरी में सहायक रहें हैं। इस बीच में इस ग्रन्थ में सकारण अज्ञान के अथवा सस्ते संस्करण भी निकले हैं। इस संस्करण की उन से तुलना ही इस की उपादेयता को हृदयगत कर देगी। साथ ही मूल्य के अन्तर का भी समाधान कर देगी।

३० इस ग्रन्थ के मुद्रण में भारत प्रेम ज्योतिष प्रकाश प्रेस और भागवत-भूषण प्रेस ने बड़ी तत्परता से काय किया है। अन्तिम दो प्रेसों ने इस पुस्तक में उन के यहाँ छप भाग के लिए नियमित दरा पर कागज भी दिया है। इस के लिए उन का परम अनुगृहीत हूँ।

३१. स्थानीय गीता प्रेम की दुकान में इस पुस्तक के लिए कागज लेने का प्रयास किया गया। परन्तु उन्होंने ने असमर्थता प्रकाशित की। श्री कर्मचन्द थापर के कर्मचारी में सदा कागज न होने का उत्तर मिला। अतः इसमें बहुत-सा कागज पर्याप्त अधिक दामों पर ले कर लगाया गया है। विभिन्न स्थानों में विभिन्न मितियों का कागज होने से उनमें अन्तर होता स्वाभाविक था।

३२. नैशनल प्रेम और मास्टर प्रेम का भी परम आभारी हूँ। उन के सहयोग के बिना पुस्तक इतनी शीघ्र छपनी संभव नहीं थी।

३३. वेदभाग की पदानुक्रमणिका की परचियाँ मेरे प्रिय विद्यार्थियों— श्री अभयानन्दन पाण्डेय, श्री उमाशंकर सुपल और श्री राममुरेज पाण्डेय ने बनाई।

३४. ग्रन्थरचना-काल में रोगग्रस्त मेरी यममय पत्नी श्री मकुन्तला गुप्ता ने अपनी उपेक्षा को सहर्ष स्वीकार कर मेरी परम महायत्ना की है। उन्होंने ने ही इस ग्रन्थ के मुद्रण आदि की व्यवस्था की देवभाल भी की है। प्रेम में श्रूफ लाने ले जाने में मेरे पुत्र चि० सुबोधकुमार गुप्त और मेरी पुत्री चि० मुकेशीकुमारी गुप्ता ने बहुत सहायता की है।

३५. जैसा पहले संकेत किया गया है इस रूप में इस ग्रन्थ की रचना की प्रेरणा अपने गुरु डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी के आदेश से मिली और अनुभूति डा० फतहसिंह की रचनाओं से। इन्हीं प्रेरणाओं के कारण यह पुस्तक ज्ञानी गुरु अन्वया सर्वत्र मात्मर्य के वातावरण में ईर्ष्या और द्वेष माल लेने और आर्थिक लाभ की मृगमरीचिकता में भटकने आदि के अतिरिक्त सामारिक दृष्टि में ऐसे ग्रन्थों की रचना से और कोई लाभ होता है यह संशयास्पद है। श्री भैरवनाथ सा उप कुलरति गोरखपुर विश्वविद्यालय की गुरुप्राप्तता ने भी मुझे इस धारा में गतिशील किया है।

३६ इस ग्रन्थ के प्रणयन में मैंने अनेक ग्रन्था से सहायता ली है। अधिकांश ग्रन्था का निर्देश याद टिप्पणियाँ और मञ्जुसूची में कर दिया गया है। फिर भी बहुत-से ग्रन्था का नाम नहीं दिया गया है।

३७ इन सब का हृदय से परम आभारी हूँ।

३८ स्वल्प मानव स्वभाव है। अतः इसमें अनेक भूलें रही होंगी। उन के उत्तरात्तर परिष्कार का प्रयास करना मेरा कर्तव्य और लक्ष्य है। शेष ईश्वरार्पण है। जो विज्ञ गुणप्राही जन उन पर दृष्टिपात कर मुधार का माग दिवाएँगे उन का परम कर्णा रूँगा।

३९ जन्म में परम पिता परमात्मा का काटिश धन्यवाद है। उन की कृपा से ही ना ये सब विचार मिले हैं—

उत्त न्व पश्यन् ददर्श वाचम् ,  
 उत्त न्व शृण्वन् शृणोत्यनाम् ।  
 उता त्वम्मै तन्व विमन्त्रे ,  
 जायेव पत्य उशवी मुवास्ता ॥'

४ हीरापुरी, गोग्गपुर

२३।२।५९

सुधीरकुमार गुप्त



वेदलावण्ये

पारस्करगृह्यसूत्रे  
उपनयनसूत्राणि

# भूमिका

## संस्कार

१—संस्कार पद सम + कृ करना य घनता है—संवाग्ना शुद्ध करना निम्वाग्ना अपन अनुरूप करना अतः प्रभावित करना। प्राणी जो कुछ भी करता मुक्ता दत्ता और अनुभव करता है उस का प्रभाव उस क मस्तिष्क में रह जाता है। धर्म गति यह प्रभाव जमा हल हल एक दृढ़ रूप प्राप्त कर जाता है और प्राणी का अपन घन में कर कठपुतली के समान अपनी धारा में चलान लग जाता है। प्राणी उस वम म दक्षता चाहता हुआ भी अज्ञान रूप म उस करता जाता है। य अनात शक्तिया ही संस्कार कहलाती है।

२—जन्म संस्कार मानव की व प्रवृत्तियाँ हैं जो अनेक परिस्थितियाँ में उत्पन्न होती हैं। मानव जन्म न विचरण करता है न माचता है। वह सामाजिक प्राणी है। जन्म से प्रभावित होता है और उन को प्रभावित करता है। इस प्रकार एक जैसी प्रवृत्तियाँ और विचारधारा वाले व्यक्तियों को एक समान समाज का अंग समझा जाता है और इन प्रवृत्तियाँ और विचारों को ही उस समाज और उन उन व्यक्तियों की संस्कृति कहते हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य के संस्कार ही उस की और उस के समाज की संस्कृति हैं।

३—वैदिक संस्कारों के समय कुछ क्रियाएँ की जाती हैं मन वाले जाने हैं और मस्तिष्कयुक्त व्यक्ति के मस्तिष्क पर उन वाता का प्रभाव डाला जाता है जिन से वह मस्तिष्कयुक्त व्यक्ति अब तब अपरिचित था। संस्कृत व्यक्ति उस अपरिचित कर्म के प्रभाव का तो ग्रहण करता ही है साथ ही वह यह भी अनुभव करता है कि वह समाज के अन्य व्यक्तियों से पृथक् नहीं

है, उन के मद्देन ही है। संस्कार-काल में प्राप्त सम्मान उस में उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न कर देने हैं और वह अपने को किमी कर्मविशेष के योग्य और उन के लिए अधिकृत समझने लगता है। उपस्थित जन भी संस्कार की क्रिया से प्रभावित होते हैं और उन्हें अपने समय में किए गये संस्कार की क्रियाएँ याद आ जाती हैं।

४—प्रत्येक संस्कार में अन्य विशिष्ट कर्मों के साथ यज्ञ भी किया जाता है। यज्ञ का एका प्रत्यक्ष कार्य है—अग्नि में पड़ी हुई वस्तु जिस प्रकार गृध्रम परमाणुओं में विभक्त हो कर सर्वत्र फैल जाती है और सब का कल्याण करती है उस प्रकार संस्कृत और उपस्थित जन भी अपने को जनहित में लगाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

५—कुमारावस्था में बालक में शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं। उसमें शनैः शनैः कामविकारों का उदय भी होता है। ये परिवर्तन और विकार पूर्वजों द्वारा संवर्धित किए जाने परम आवश्यक हैं अन्यथा इन अवस्था में बालकों में उच्छृंखलता के प्रवेश कर जाने से समाज की व्यवस्था को महान् क्षति पहुँचती है। अतः उसे आत्मनयम के साथ अपने प्रति और समाज के प्रति कर्तव्यों की शिक्षा और उन पर आचरण कराने का अभ्यास प्रारम्भ परम आवश्यक है। यह अभ्याससम्पादन उपनयन से प्रारम्भ हो कर शिक्षाकाल में सम्पादित किया जाता था।

६—पारस्कार का अभिमत उपनयन संस्कार<sup>१</sup> की विधियों का संक्षेप आगे दिया जायगा। इन का जो व्याख्यान टिप्पणियों में दिया गया है उस से

१. गृह्यसूत्रों में विद्यारम्भ संस्कार का कोई उल्लेख नहीं है। प्राचीन-काल में सम्भवतः इस की आवश्यकता नहीं थी। यहाँ माता-पिता की जागरूकता से खेल-पैल में बालक अक्षर-लिपिज्ञान आदि प्राप्त करते रहे होंगे। अतः उपनयन से ही उन की शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। जैसा

यह अनायास ही समझा जा सकता है कि उपनयन की ममत्त विद्याया में गूढ़ भाव निहित हैं। ब्रह्मचारियों को उन सब भावा को हृदयगम कराने से वे न केवल आत्ममयमी और कुल के दीपक मिद्ध हा सकते हैं, प्रत्युत राष्ट्र और मानवता के परम हितकारक बन सकते हैं। उनमें लज्जता और क्षुद्र आत्मीयता, मान्द्रदायित्वता और स्वाधपरता की भावनाएँ समाप्त हो कर उदात्त भावनाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। आजकल उपनयन सम्कार तों किए जाने हैं, परन्तु उस काल में उपनयन की विधिया का भाव और उन का गम्भीर सन्दरा बालका को हृदयगम नहीं कराया जाता है। आगे की शिक्षा में भी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में उदात्त भावा के व्याख्यान और आचरण के लिए शौशातिपीय स्थान हात से युवता की प्रवृत्तियाँ बहूना अवाछनीय धाराआ में बहनी हुई दिनाई पडती हैं।<sup>१</sup> उपनयन का ठीक प्रकार से सम्पादन और उन के उत्तर बाल में बापका के चरित्र-निर्माण और वर्त्तव्य-भरावणना पर ध्यान देने में दम के सामन उपस्थित अनेका समस्याएँ सुविधा से हल हो सकेंगी।

टिण्णिया में लिखा गया है आयु का विधान धीरे-धीरे पाँच वर्ष से आगे बढ़ना गया। कालान्तर में घरेलू शिक्षा सम्पन्न न होने पर विद्यारम्भ मस्कार भी चालू हो गया—हिन्दू-सम्बार, राजबली पाण्डेय, पृ० १३७-१४० भी देखें।

१ ऐसे व्यक्ति वेद की परिभाषा में परमातिपरम पापी होते हैं—केवलाधो भवति केवलादी। उन में महापानत्रिया से भी निवृष्ट होते हैं।

२ डा० राजबली पाण्डेय लिखते हैं कि पहले उपनयन सम्बार मव के लिए अनिवार्य नहीं था। (पृ० १५७)। इस का धार्मिक महत्त्व था, सामाजिक नहीं। उन का यह लेख विचारणीय है। आगे दिए संहिताओं में उपनयन विषयक विवेचन में और ब्राह्मणों के विवरण की दृष्टि में इसे मानना मभव नहीं। डा० पाण्डेय का यह भी कहना है कि कालान्तर में



## अन्य जातियों में संस्कारों की सत्ता

७—संसार की समस्त जातियों में संस्कारों का विशेष महत्त्व पाया जाता है। अविकसित सरल संस्कृति वाली जातियों में कुमारों का अपनी संस्कृति में संस्कार सार्वत्रिक है। इस से वे अपनी सामाजिक एकाता को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। जब उन की संस्कृति या हितों पर अन्यो के सम्पर्क आदि से बाधात पहुँचता है, तब वे इस उपनयन संस्कार को परम कट्टरता से सम्पादित करते हैं। यहाँ उपनयन संस्कार न कराने वाले व्यक्तियों और बालकों का तिरस्कार होता है। इन जातियों में यह विश्वास है कि सम्यता का विकास बालक में एकदम होता है और उपनयन से बालक का भूत समाप्त हो कर उसका नया सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। अब वह अपने में पहली और आगे आनेवाली पाँदियों के बीच एक कड़ी बन जाता है और अपनी समाज के हित का साधक। उन के दो प्रमुख लक्ष्य होते हैं—आत्म-रक्षा और अन्न का संग्रह। इनके लिए ही वे प्रमुख रूप से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इन जातियों में शिक्षाकाल में चरित्रनिर्माण, परम्परा, स्वास्थ्य और धिया-उल्लास पर बहुत बल दिया जाता है।

८—इन जातियों में उपनयन की विधियों में कुमारों की भावनाओं को जागृत करने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है—उन्हें सताया जाता है, सोले, कपड़े पहनने आदि से घञ्चित कर दिया जाता है और उन से समाज और मुखिया की रक्षा की प्रतिज्ञा कराई जाती

उपनयन को अनिवार्य बनाने से अनेकों दोष उत्पन्न हो गए। यहाँ तक कि बूढ़ों आदि का भी उपनयन किया जाने लगा (पृ० १५८-१६०)। परन्तु यह अनिवार्यता का परिणाम नहीं, प्रत्युत उपनयन के सत्य स्वरूप को न जानने, अन्यत्र आदि में अभिमानी देवता और धार्मिकता की कल्पना आदि अज्ञान-जन्य अन्धविश्वास का परिणाम था।

है। इस परीक्षा में अमफल बालका का बध कर दिया जाता है अथवा समाज में निम्न बना दिया जाता है।

९—मन्य और विकर्मित जातियाँ में भी उपनयन का बड़ा महत्त्व दिया जाता है। ईसाइया यहूदिया मुसलमाना और अन्य सभी हिन्दुआ स भिन्न जातियाँ म अपने-अपन टग म उपनयन कर के उन्हें अपने धर्म का ज्ञान कराया जाता है। शिक्षा के माधना के कारण इन जातियाँ की उपनयन-विधियाँ अविकर्मित जातियाँ के समान उग्र नहीं हानी, परन्तु वही-वही खतना (=जगच्छेदन) आदि की विधियाँ में उनका अवशेष पाया जाता है।'

## उपनयन संस्कार की प्राचीनता

१० आर्यसमाज में उपनयन संस्कार प्राचीनतम काल में चला आ रहा है। इस का विस्तृत वर्णन गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है। परम्परागत आचार का ग्रन्थ होने के कारण इन में अपनी विधियों और विनियामों के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए गए हैं।

११ डा० राजबली पाण्डेय लिखते हैं कि यद्यपि आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में सूक्ता का मवलन कर्मकाण्ड की दृष्टि में यथाविधि नहीं है तथापि वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ धार्मिक विधिविधानों से सम्बद्ध सूक्त मिलते हैं जिन में गर्भाधान, विवाह और अन्येषु का वर्णन है।

१ विस्तार के लिए ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सिज, ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स में इनिश्येसन, सोशल औरगेनाइजेसन, एडलैसैस, एडयूकेसन आदि पर लेख, एन मिलर का चाइल्ड इन प्रिमिटिव सोसाइटी (अध्याय १०) और एच० वेन्टर, प्रिमिटिव सोसाइटीज आदि देखें।

वहाँ धार्मिक विधिविधानों में विनियोजन कुछ मन्त्र भी पाए जाते हैं। वहाँ प्रामाणिक रूप में नमाविष्ट अनेक मंत्रों से संस्कारों पर प्रकाश पड़ता है।

१२. ऋग्वेद में उप + √ नी के रूपों का प्रयोग पाँच बार हुआ है। एक मन्त्र में यह वनस्पति के मन्त्र में एक आप्रीगूक्त में आया है। इस मन्त्र के भाष्यकारों के अर्थों से उपनयन पर कोई प्रकाश प्राप्त नहीं होता है। परन्तु हम ने पहले दो मन्त्रों को साथ ले कर विचार करने से इन में उपनयन और उम के परिणामस्वरूप शिक्षा का वर्णन स्पष्ट मालूम पड़ता है। एक अन्य मन्त्र में उपनीता-मन्त्र ब्रह्मजाया का विशेषण है। उम से अगले मन्त्र में देवी का एक अग ब्रह्मचारी बृहस्पति ब्रह्मजाया की पत्नी रूप में प्राप्त करता है। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यदि सायण के द्वारा उद्धृत आख्यान के बिना इन मन्त्रों को पढ़ें तो यहाँ पर बालक और बालिकाओं के उपनयन, ब्रह्मचर्य-पाठन और अध्ययन का उल्लेख मिलता है। इस अध्ययनयज्ञ में देव, मनुष्य और राजा—सभी महयोग देते हैं। स्वा० व्यानन्द सरस्वती ने अनेकों मन्त्रों में धनु, रुद्र और आदित्य को एतत्संज्ञक ब्रह्मचारी के अर्थ में लिया है। इन के भाष्य से वेद में अनेक स्थलों पर शिक्षामन्त्रों का उल्लेख मिलते हैं।

१३. अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त ही ब्रह्मचर्य पर मिलता है। वहाँ एक सूक्त में ब्रह्मचर्य पर भी है। ब्रह्मचर्य सूक्त में उपनयन, उपनयन में

१. ऋ० २।३।१०। २. ऋ० २।३।८-९। ३. ऋ० १०।१०९।४।

४. वहीं, म० ५। ५. वहीं, म० ६। इस में राजानः मृत्यं कृष्णानाः का देवः और मनुष्याः का विशेषण लेना अनुचित न होगा क्यों कि अनेक बार देवी और मानुषी विद्या का ही युगपत् वर्णन मन्त्रों में प्राप्त होता है। इस मन्त्र में पुनः तीन बार आया है और एक बार उत्त ( जिस का अर्थ भी पुनः हो सकता है )। इस दृष्टि से चार देव, मनुष्य, राजन् और सत्यकारी (कर्म-ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र—?) का निर्देश भी माना जा सकता है।  
६. अथर्व० ११।७। ७. अथर्व० ६।१३३।

दूमरे जन्म की प्राप्ति, पृथिवी चुलोक और अन्तरिक्ष रूपा तीन समिधाओं, मेखला, कृष्ण वस्त्रो, दीर्घ श्मश्रुओं, भिक्षा, अग्नि सूर्य चन्द्रमा, मातरिश्वा और जलों में समिधादान, वनस्पति मवत्सर और ऋतुआ के ब्रह्मचारी से सम्बन्ध और स्नातक का वर्णन किया गया है। मेखलामूकन में मेखला की विशेषताआ, गुरु से दान और ब्रह्मचारी से बन्धन का वर्णन है।

१४. शोपय ब्राह्मण में<sup>१</sup> उपनयन का थोड़ा सा विवरण मिलता है और शतपथ ब्राह्मण<sup>२</sup> में भी। दोनों में कुछ भेद लक्षित होंगे। डा० राजवली पाण्डेय ने शतपथ ब्राह्मण में अजिन या मृगधर्म का उल्लेख<sup>३</sup> बताया है, परन्तु यह विचारणीय है। उन के निर्दिष्ट स्थल पर अजपभ के अजिन को विछाने का वर्णन है। वही आगे चल कर इस अजपभ का प्रजापति से तादात्म्य बताया गया है।<sup>४</sup> अतः यह अजिन चर्म नहीं रहा होगा। इसी प्रकरण में औदुम्बरी होने का वर्णन है। यह उदुम्बर अत्र रूप ऊर्ज् ही है।<sup>५</sup> गृह्यसूत्रा में औदुम्बर दण्ड वैश्य का बनाया गया है<sup>६</sup> जो जज्ञोत्पादन या उत्तरदायी था। इस ब्राह्मण में वाजपेय यज्ञ में यूपारोहण का विधान है। यह क्रिया ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर के विवाह कर गृहस्थ बनना ही है। यह सब वर्णों पर चरितार्थ होती है, किसी एक वर्ण के लिए नहीं है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में ब्राह्म्या और वात्यस्तोम का वर्णन है। इन वात्यस्तोम से तितितसावित्रिका को शुद्ध कर के पुनः आर्यममाज में ग्रहण कर लिया जाता था।

१५. उपनिषदों में ब्रह्मचर्याश्रम की अनेक ज्ञानियाँ मिलती हैं। यहाँ पर शतपथब्राह्मण के समान उपनयनविधि का वर्णन नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मचारी के मुकुल में वाम,<sup>७</sup> गोपालन, गुरु की सेवा, गुरुकुल में प्रव्रम,

१ शौ० १।२।१-८। २ शौ० १।१।३।३।१। ३ शौ० ५।२।१।२।१।  
 ४ शौ० ५।२।१।२।४—प्रजापतिर्वा एष यदजपभ । ५ शौ० ५।२।१।२।३।  
 ६ पाउ० सू० ९०। ७ आगे सू० १ (vii) में मुवाग्निनी टिप्पणियाँ देखें। इन से मुवाग्निनी टिप्पणियाँ में प्रकाशित भाव—समस्त राजा—विश्व वैश्य हूँ—की पुष्टि हाती है।

अव्ययन और अव्यापन विषयक प्रतिबन्ध, त्रिष्य के गुण, ब्रह्मचर्य की अवधियों, गायत्री के उपदेश की रीति और उपदेश तथा गुरुकुल छोड़ते समय उपदेश आदि का वर्णन पाया जाता है।

१६. गृह्यसूत्रों में मानव के जीवन में होनेवाले—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह और अन्येषु—संस्कारों का विस्तृत विधान किया गया है। पीछे के साहित्य में भी बहुत-सी पद्धतियाँ, प्रयोग और कारिकाएँ आदि लिखी गई हैं। इन में भी संस्कारों की विधियों का सविस्तार वर्णन है, परन्तु मन्त्रों और विनियों में समन्वय और विधियों के सांस्कृतिक महत्त्वों आदि पर प्रकाश डालने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। ऐसा प्रयास स्वा० दयानन्द सरस्वती की संस्कार-विधि में बीज रूप में और पं० आत्माराम की संस्कारचन्द्रिका में सविस्तार लक्षित होता है। स्मृतियों में सामान्यतः संस्कारविषयक विनियों के बिना ही विधियों का वर्णन है। पुराण आदि पिछले साहित्य में भी संस्कारों का परिचय उपलब्ध होता है। कुछ सामग्री परम्परा से प्रचलित आचारों से भी मिलती है।

### पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्र

१७. उपनयन संस्कार का रूप ऋग्वेदिक काल में ही विकसित हो गया प्रतीत होता है। अथर्ववेद के वर्णनों में यह पूर्ण विकसित रूप में पाया जाता है। इन दोनों ही ग्रन्थों में उपनयन समस्त प्रजाओं के लिए बताया गया है। वस्तुतः इन वर्णनों में समस्त मानव जाति को एक माना है। उस में कोई भेद नहीं समझा गया है।

१८. गतपथब्राह्मण में उपनयन संस्कार की विधियाँ वैदिक वर्णनों में साम्य रखती हैं। यहाँ समस्त मानवजाति को ब्राह्मण मान कर उपनयन के धर्म बताया गए हैं।

१९ पारस्कर गृह्यसूत्र ने प्रमुखतया शतपथब्राह्मण की विधियों को ही अपनाया है। दोना की पदावली में घनिष्ट साम्य है। कुछ उदाहरण ये हैं—

सूत्र० पारस्करोय पदावली

शतपथब्राह्मण की पदावली

- |       |  |  |
|-------|--|--|
| ७     | ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति  | ब्रह्मचर्यमागामित्याह।   |
| २८    | अथास्य दक्षिण हस्त गृहीत्वाह<br>को नामासीति ।  | अयंनमाह्वो नामासीति ।<br>अथास्य हस्त गृह्णाति ।  |
| ३१    | इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्त-<br>वाहमाचार्यस्तवासाविति ।   | इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्य-<br>स्तवाहमाचार्यस्तवासाविति ।   |
| ३२    | अथैन भूतेभ्य परिददाति ।  | अथैन भूतेभ्य परिददाति ।  |
| ३३    | प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय<br>त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौ-<br>पथीभ्य परिददामि द्यावापृथिवी-<br>भ्या त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा<br>देवेभ्य परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा<br>भूतेभ्य परिददाम्यरिष्ट्या इति । | प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा<br>सवित्रे परिददामि<br>अद्भ्यस्त्वौपथीभ्य परिददा-<br>मीति । द्यावापृथिवीभ्यान्त्वा<br>परिददामीति विश्वेभ्यस्त्वा<br>भूतेभ्य परिददाम्यरिष्ट्या इति । |
| ३६ ३८ | ब्रह्मचार्यसि । अपोज्ञान ।<br>कर्म कुरु ।  | ब्रह्मचार्यसीत्याह । अपोज्ञान ।<br>कर्म कुरु ।   |
| ४१    | समिधमाधेहि ।   | समिधमाधेहीति ।   |
| ४१ ४२ | मा दिवा सुपुष्या । अपोज्ञान ।<br>इति ।   | एतन्तदाह—मा सुपुष्या इति ।<br>अपोज्ञानेति ।  |

२० इसी प्रकार पारस्कर के बहुत से अन्य सूत्र शतपथब्राह्मण की पदावली ही हैं। शतपथब्राह्मण ने कतिपय विधियों का भाव या महत्त्व वर्णित किया है। पारस्कर ने इन स्थलों का निजाल दिया है। साथ ही कुछ विधियों को छोड़ भी दिया है। जो विधियाँ अपनाई हैं, उन के क्रम में भी कुछ आगा-पीछा कर दिया है।

२१. पारस्कर ने कुछ ऐसे विधान भी दिए हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थ में नहीं हैं जैसे विभिन्न वर्णों के आयु, दण्ड, वस्त्र, मेखला आदि में भेद । गतपथ-ब्राह्मण ने सावित्री के उपदेश के लिए विभिन्न अवधियों (वर्ष, छै मास आदि—सूत्र ० ४६-४७) का विधान भी ब्रह्मचारियों के लिए किया है, जब कि भाष्यकारों के अनुसार पारस्करीय विधान ब्राह्मणोत्तर ब्रह्मचारियों के लिए है । पारस्कर के गृह्यसूत्र में भी कतिपय ऐसे सूत्र और विधान हैं जो पारस्कर ने स्वीकार नहीं किए हैं, परन्तु पीछे के लोगों ने अन्य सूत्रों में ले कर इन में जोड़ दिए हैं । इन में से कुछ स्वल तो सर्वसम्मति में प्रक्षिप्त माने गए हैं । हो सकता है शेष में भी कुछ प्रक्षिप्त अंश हों । प्रक्षिप्त रवीश्रुत अंश इस संस्करण में कोष्ठकों में दिखाए गए हैं ।'

## पारस्करीय उपनयन विधि

२. ब्राह्मण के गृहों के अभिलषायी बालक का उपनयन संस्कार आठ वर्ष की अवस्था में, क्षत्रिय गृहों के अभिलषायियों का ब्यारह वर्ष की अवस्था में और वैश्य गृहों के अभिलषायियों का बारह वर्ष की आयु में होना चाहिए । यदि इन आयुओं पर उपनयन सम्भव न हो तो मुविधानुसार कराया जा सकता है, परन्तु इसकी चरम अवधि ब्राह्मण गुणाभिलषायी के लिए गोलह वर्ष, क्षत्रिय गुणाभिलषायी के लिए बार्डेस वर्ष और वैश्य गुणाभिलषायी के लिए चौबीस वर्ष की आयु है । इन के पश्चात् वे सावित्री से वञ्चित हो कर गायत्री के उपदेश और अन्य सामाजिक सम्मर्कों से वञ्चित कर दिए जाएं । प्रायश्चित्त कर के ये उपनयन करा सकते हैं । जिस की तीन पीढ़ियों तक उपनयन न हुआ हो उन्हें ब्राह्मन्तोम करना पड़ता है ।

२३. ब्राह्मणों को भोजन कराने के पश्चात्, निर मुण्डवा कर अर्पित

१. इन में अन्तिम कण्डिका सारी प्रक्षिप्त है । मुद्रण में कोष्ठक लगने रहे गए हैं ।

बालक को यज्ञवेदी पर लाने हैं। वह बालक पश्चिम की ओर बैठ कर कहता है—मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ हूँ। मैं ब्रह्मचारी हो जाऊँ। आचार्य 'येनेन्द्राय' मन्त्र से वस्त्र-परिधान, 'इय दुरम्न' अथवा 'युवा भुवाम्ना' मन्त्र से अथवा चुप-चाप मेखलाबन्धन, (यज्ञोपवीत मन्त्रों से) यज्ञोपवीतपरिधान, 'मित्रस्य चक्षु' से अजितग्रहण, 'यो मे दण्ड' मन्त्र से दण्डधारण कराने हैं। आपो हिंष्टा' आदि तीन मन्त्रों से जल में अपनी अजलि द्वारा बालक की अञ्जलि को भरना है। 'तच्चक्षु' मन्त्र से सूर्य को दिखाना है। 'मम क्रने' मन्त्र से दाहिने कंधे और हृदय को छू कर अनुबलता की भावना कर के दाहिना हाथ पकड़ कर पूछता है—तुम्हारा नाम क्या है। ब्रह्मचारी नाम बनाता है। आचार्य कहता है कि तुम इन्द्र, अग्नि और मेरे ब्रह्मचारी हो। अब 'प्रजापतये त्वा' आदि से भूता से कुशलक्षेम की प्राप्ति की कामना कर के अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है। अब बालक को कुछ खिला कर ब्रह्मचर्यपालन, आचमन और व्रत करने, दिन में न सोने, प्रश्न का उत्तर देने और हवन करने का उपदेश देता है।

२४ जब आचार्य बालक को अपने सामने वेदी के उत्तर अथवा दक्षिण की ओर बिठा कर सावित्री का उपदेश करता है। ब्राह्मणगुणाभिलाषी को गायत्री छन्द वाली सावित्री, क्षत्रियगुणाभिलाषी को त्रिष्टुप् छन्द वाली सावित्री और वैश्यगुणाभिलाषी को जगती छन्द वाली सावित्री का अथवा सब को ही गायत्री छन्द वाली सावित्री का उपदेश किया जाता है। गायत्री के उपदेश के पश्चात् अग्नि को समिधादान, 'अग्नेसुधव' मन्त्र से परिममूहन, अग्नि की प्रदक्षिणा, पडे हो कर 'अग्नये समिधमाहार्यम्' मन्त्र से समिधाधान कर के फिर पहले के समान परिममूहन और पर्युक्षण करे। अब हाथ तपा कर 'तनूपा अग्नेऽसि' और 'मिधा मे देव नक्षिता' मन्त्रों से मुख को मले। अपने-अपने के वर्ण अनुसार मन्त्रोद्यन पूर्वक पहले माता में फिर अग्न्य इन्कार न करनेवाली स्त्रिया में शिक्षा मांगे। उसे गृह को दे कर दिन भर मीन रहे। सायंकाल जगल से गिरी हुई सूखी समिधाएँ ला कर अग्नि में डाल कर ही बोले।



२५. ब्रह्मचारी पृथिवी पर सांण । अधिक सोर और नमक न खाण ।  
मदा दण्ड रखे, गुम की सेवा, हवन और भिक्षावृत्ति किया करे । शराव,  
मांस, हानिकारक स्नान, ऊँचा बैठना, मैथुन, अठ और चारी—उन से बने ।  
यदि आचार्य लेटे हुए, बैठे हुए, खड़े हुए अथवा चलने हुए को बुलाएँ तो प्रम-  
मे बैठ कर, उठ कर, चल कर और दौड़ कर उन की बात मुने । ऐसा व्यव-  
हार करने पर ब्रह्मचारी की ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती है ।

२६. विभिन्न वर्णों के दण्ड आदि इस प्रकार हैं :—

	ब्राह्मण के लिए	क्षत्रिय के लिए	वैश्य के लिए	मन के लिए (वैकल्पिक)
वामम् (यस्त्र)	सन के	रेजम के	भेड़ की	(ऊन) के ।
उत्तरीय अजिन	एणी की	रु की	अजा या गों की ।	गों की
रजना	मूँज की अथवा कुम, अदमन्तक बल्य की	धनुष की	मूर्धा की	
दण्ड	पन्नाम का	विल्व का	उदुम्बर का	गव हीं गक- टियाँ

२६अ. वेदाध्ययन के लिए अष्टाश्रीम वर्ष की आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी  
रहे । यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक वेद का अध्ययन बारह-बारह वर्ष  
तक ब्रह्मचारी रह कर करे । यदि ऐसा भी न हो सके तो जब तक वेद का  
पूरा न पढ़ ले ब्रह्मचारी रहे ।<sup>१</sup>

२७. अध्ययन समाप्त कर चुकने वाला स्नातक होता है । ये तीन प्रकार  
के होते हैं—१. विश्वस्नातक—केवल वेद को पढ़ कर गंगार में प्रवेश करने  
वाला २. ब्रतस्नातक—ब्रह्मचर्य की अवधि तो पूरी कर लेना है परन्तु

१. यावद्ब्रह्मणम् का वह अर्थ भी हो सकता है—ब्रह्मण तक, समाप्त  
तक । अर्थात् जब तक पढ़ सके तब तक पढ़े । जब न पढ़ सके, तो छोड़ दे ।

वेदाध्ययन पूरा नहीं होता। ३ विद्याप्रतम्नातक—जो वेदाध्ययन और ब्रह्मधर्म की अवधि—दोनों को पूरा कर लेता है।

२८ ब्राह्मण १६ वर्ष की आयु तक, क्षत्रिय २२ वर्ष की आयु तक और वैश्य २४ वर्ष की आयु तक उपनयन न कराने पर गायत्री के उपदेश से वञ्चित हो जाते हैं। यही नहीं। इन के मायन व्यवहार किया जा सकता है, न दान का उपनयन। इन का अध्यापन भी बन्द कर दिया जाता है। ऐसे व्यक्तियों की तीन पीढ़ी तक यह स्थिति बनी रहने पर चौथी पीढ़ी के उपनयन आदि निषिद्ध हैं, परन्तु ब्राह्मस्तोम कर के ये पुनः उपनयन और अध्यापन के पात्र हो जाते हैं।

### पारस्करीय विधियों में प्रक्षेप

२९ उपरोक्त विधि में कुछ ऐसी बातें भी मिला दी गई हैं जो पारस्कर में नहीं लिखी हैं। ये इस प्रकार हैं—

- १ यज्ञोपवीत-परिधान के लिए यज्ञोपवीत परम पवित्रम् आदि मन्त्र।
- २ मित्रस्य चक्षु आदि मन्त्र से अग्निदान।
- ३ अगालम्भन और त्रिपुण्ड तिलक लगाना।

४ उपनीत ब्रह्मचारी के लिए चोटिया, सावित्र ब्रह्म—छँ और तीन रान तक या तुरन्त ही सम्पन्न होने वाला—तीन बार मीठे की आहुति दे कर पाँच मावत्सरिक वेदव्रत—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौल्भ और गौदान का आचरण और व्रतों की समाप्ति पर अवगुण्ठनी का विसर्जन और गोदान।

### पारस्कर और आश्वलायन की विधियों में भेद

३० ऋग्वेद के गृह्यसूत्रकार आश्वलायन की उपनयन विधि मुख्यतः पारस्कराचार्य की विधि से मिलती-जुलती है। दोनों के सूत्रों में शब्दावली भी समान-ही है। दोनों में कुछ भेद भी हैं, जो इस प्रकार हैं —

( १ ) आम्बलायन लिखते हैं कि उपनयन के लिए बालक अपने-अपने वर्णों के लिए विहित रंग' के कोरे वस्त्र अथवा अपने-अपने वर्ण के लिए विहित अग्नि पहन कर सजवेदी पर आए ।

( २ ) आम्बलायन ने दृष्टि की मालिका आदी — भेद के बालों की बतलाई है । पारस्कर सूत्रों की बताने हैं ।<sup>१</sup>

( ३ ) आम्बलायन ने दृष्टों के माप का विधान किया है । यहाँ पर धृतिव्य का दृष्ट औदुम्बर और दैत्य का वैश्व बताया है । यह पारस्कर के विधान के विपरीत है ।<sup>२</sup>

( ४ ) अञ्जलिपूजन में आम्बलायन ने 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धियो रमन्ते' का विनियोग बताया है । अञ्जलि को खाली कर के आचार्य 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे' मन्त्र में ब्रह्मचारी के हाथ को पकड़ता है । सविता को बालक का दूसरा और अग्नि को तीसरा आचार्य बतताया है । आचार्य सूर्य को दिखाने कर ब्रह्मचारी के दीर्घायुष्य की कामना करता है । यहाँ 'तच्चक्षुः' आदि मन्त्र का उच्चारण नहीं किया जाता है ।<sup>३</sup>

( ५ ) आचार्य बालक को प्राण का ब्रह्मचारी बताने पर उसे प्रजापति को देता है । 'युवानुवामाः' मन्त्र से आचार्य बालक से अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है, पारस्कर मखलावन्धन । हृत्कार और कन्धे के स्पर्श में आम्बलायन ने किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया है ।<sup>४</sup>

( ६ ) आम्बलायन समिधाधान को चुपचाप चाहते हैं, परन्तु कुछ तत्कार्यान् आचार्य 'अग्नये समिधमाहाप्यम्' मन्त्र में । एन मन्त्र का पाठ—

१. आम्ब० सू० १।११। ८-९। ये रंग ब्राह्मण का काषाय, धृतिव्य का माञ्जिष्ठ और दैत्य का हाग्नि हैं । भाष्यकार ने रंगे वस्त्रों का परिधान वैकल्पिक माना है । २. वही, सू० ११। ३. वही, सू० १३। ४. पाठ., सूत्र० ८१-९०। ५. आम्ब० सू० १।२०। ४-६। ६. वही, सू० ७।

‘अग्नये समिधमाहार्णं बृहते जातवेदसे । तथा त्वमग्ने वर्धस्व समिधा ब्रह्मणा वय स्वाहा’—पारस्कर के पाठ से भिन्न है (देखो सू० ५५) ।’

(७) आश्वलायन तेजसा भा ममनज्मि’ मे तीन वार मुख वा मार्जन वतान हैं । मयि मेभाम’ जादि मन्त्र म उपस्थान कर के दायी घटना देव कर आचाय के पैर छ कर वालव माविथी के उपदेश के लिए प्रार्थना करता है । आचाय वाङ्म के हाथ का वस्त्रमहित पकड कर गायत्री का उपदेश करता है और ब्रह्मचारी की योग्यता के अनुसार उस से मन्त्र का उच्चारण कराता है और उस एकाग्र हाकर मुनने तथा आचाय के अधीन हो कर वेद पढ़ने का उपदेश देता है ।’

(८) आश्वलायन के मत में वेदब्रह्मचर्य का काल केवल बारह वर्ष अवका वेद पूरा पढ़ लेने तक होना है ।’ भिक्षा पुरुष या स्त्री मे माँगी जा सकती है । यहाँ भिक्षा का आचार्य के समर्पण करने के पश्चात् दोप दिन में खडे रहने का (?) विधान है । सायकाल ब्रह्मोदन और अनुप्रवचनीय पका कर आचार्य को वताए । आचार्य ब्रह्मचारी द्वारा प्रारम्भ किए हुए हवन में मदसस्पतिमद्भुतम् और गायत्री मन्त्र से दो, ऋषिमा के लिए और शीविष्ट जाहुतियाँ दे । ब्रह्मभोज के पश्चात् ब्रह्मचारी पूर्ण वेद पढ़ाने के लिए आचार्य से प्रार्थना करे और तीन रात, बारह रात या एक वर्ष तक शार और लवण का प्रयोग न करे ।’

(९) आश्वलायन गव्य अजिन का विधान नहीं करने हैं ।

१ वही १।२०।१०, २।१।१ २ वही, १।२।१२-७। ३ वही, १।२।२।२। ४ वही, सू० ३-४। भाष्यकार ने इस वर्णन में विद्या, व्रत और विद्याव्रत स्नानका को उल्लेख माना है । यह पारस्कर की अवधियों से भिन्न है । ५ वही, सू० ९-१७।

## आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के विशेष विधान

३१. आपस्तम्ब उपनयन काल में ही केशवपनसंस्कार चाहते हैं।<sup>१</sup> ये उपनयन के लिए बर्णों के लिए क्रम से वसन्त, शीष्म और शरद्वर्षतु का विधान करते हैं।<sup>२</sup> ये क्षत्रिय का दण्ड न्यग्रोध का, स्वल्प का या अवार्चन वनभाग वाला और वैश्य का वेर या गूलर का बताते हैं।<sup>३</sup> सावित्री के उपदेश के पश्चात् ब्रह्मचारी ऊपर के हाँठ और कानों का स्पर्श करता है।<sup>४</sup>

३२. केशवपन के पश्चात् समिधाधान, पत्थर पर सीधे पैर का स्थापन और तद्योनिर्मित वस्त्र का परिधान किया जाता है।<sup>५</sup>

३३. आपस्तम्ब ने विभिन्न बर्णों के लिए वस्त्रों, अजिन, मेखला, दण्डों के माप आदि का कोई विधान नहीं किया है। गव्य अजिन का विधान भी नहीं है। इन के मन्त्रों में भी भेद है। विधि अनेकावृत्त संक्षिप्त है।

## गोमिल गृह्यसूत्र की विधि में अन्तर

३४. यहाँ गव्य अजिन का विधान नहीं है।<sup>६</sup> परिधान के लिए धौम या पाण, कार्पास और ऊन के वस्त्र बताए हैं, मेखला मूँज, काश और तम्बल (= मण) की, दण्ड पलाश, विल्व और पीपल के।<sup>७</sup> वालक 'अग्ने व्रत-पते' आदि मन्त्रों से पांच आहुति देता है।<sup>८</sup> अभिवादन के लिए नया या पुराना नाम कल्पित किया जाता है।<sup>९</sup> आचार्य वालक के दक्षिण स्वल्प, नाभि, हृदय और बाएँ कन्धे का स्पर्श करता है।<sup>१०</sup> तीन रात के सावित्र व्रत के पश्चात् उन का चरु करे और दक्षिणा में गौ दान दे।<sup>११</sup>

१. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १.०।५-८। २. वही, सू० ४। ३. वही, १.१।१५। ४. वही, १.१।१०-१३। ५. वही, १.०।९-१०। ६. गोमिल गृह्यसूत्र, २।१.०।८। ७. वही, सू० ७-१२। ८. वही, सू० १५। ९. वही, सू. २१। १०. वही. सू. २४-२८। ११. वही, सू. ४३-४५।

३५ अन्य विनियोगों में और मन्त्रों के विनियोग आदि में गौतमिलगृह्य-सूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र एक दूसरे के बहुत समीप हैं। यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् छन्द की सावित्री का उपदेश केवल पारस्कर ही कराने हैं, अन्य सूत्रकार नहीं।

## पारस्कर के उपनयनसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों की तालिका

### ३६ मन्त्रप्रतीक

क्रमसंख्या	सूत्र०	विनियोग
( १ ) अग्नये ममिन्द्रमाहापम्	५५	सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिन्द्राधान में।
( २ ) अग्ने सुश्रव	५३	सावित्री के उपदेश के पश्चात् हाथ से अग्नि के परिममूहन में।
( ३ ) (अगानि च म आप्यायन्ताम्)	६२	जगालम्भन में जप।
( ४ ) (अदृथमस्य)	११९	सूर्योदय पर जप में।
( ५ ) (अप्स्वन्तर्)	११०	मेखला और यज्ञोपवीत का जल में म्थापन (हि-अ० में पाटि० १ भी देखें)।
( ६ ) (आ नो भद्रा)	११५	वेदशिरम् से अवगुण्ठन में
( ७ ) आपो हि ष्ठ	२३	जलो से अजलिपूरण में।
( ८ ) (आ ब्रह्मन्)	११५	वेदशिरम् से अवगुण्ठन में।
( ९ ) (आसु शिशान)	११५	वही।
( १० ) इन्द्रस्य ब्रह्मचारी	३१	ब्रह्मचारी को 'आप वा शिष्य हूँ' कहने पर आचार्य का अपनी भावना का प्रकाश।

- ( ११ ) ( इमा नुकम् ) ११५ वेदगिरन् से अवगुण्डन में ।
- ( १२ ) इयं दुरुवनम् ११ मेनकायन्धन में ।
- ( १३ ) ( उदीरतामवर ) ११५ वेदगिरन् से अवगुण्डन में ।
- ( १४ ) ( उदृ त्यम् ) ११९ सूर्योदय पर जप में ।
- ( १५ ) एषा ते ५७ नावित्री के उपदेश के पश्चात् समिधाधान में वैकल्पिक मन्त्र ।
- ( १६ ) गायत्री मन्त्र ( भूर्भुवः स्वः ।  
तत्सवितुः ) ४७ ब्राह्मण को गायत्री के उपदेश में ।
- ५० राव वरुणों को गायत्री के उपदेश में वैकल्पिक मन्त्र ।
- ( १७ ) ( चित्रं देवानाम् ) ११९ सूर्योदय पर जप में ।
- ( १८ ) जगती गायत्री  
( ) यद्भर्जन मनः । य० ५।१४ वैश्व को गायत्री के उपदेश में ।  
( ii ) विश्वा मपाणि । य० १२।३ ) ४९
- ( १९ ) तच्चक्षुः २५ सूर्यदर्शन में ।
- ( २० ) तनूपा अग्नेर्जनि ६० ह्राथ तपा कर मुख को मन्त्र में ।
- ( २१ ) तस्मा अरंगमाम २३ पाटि० १ ज्यों में अंजलिपूरण में ।
- ( २२ ) त्रिष्टुभ गायत्री ४८ क्षत्रिय को गायत्री के उपदेश में ।  
( i ) तां सवितुः । य० १।७।४ ।  
( ii ) देव सवितः प्रमुव । य० १।१ )
- ( २३ ) ध्यायुषं जमदग्नेः ६३ राव से ध्यायुष ( निर्यक ) प्यमाने में ।
- ( २४ ) ( र्शाः जाम्निः ) १२० वर्षा हाने पर जाम्नि ( जप ) में ।

(२५) (नमो वरुणाय)	११०	तीन बार मीठा देने में ।
(२६) प्रजापतये त्वा परिददामि	३३	ब्रह्मचागी को भूता को समर्पित करने में ।
(२७) मम धने ते हृदयम्	२७	अविहृदय दक्षिणाम के आलम्भन में ।
(२८) (मित्रस्य चक्षुर्धरणम्)	१७	अजिनप्रदान में ।
(२९) मेधा म दव मविना	६१	हाथ तथा कर मुख का मलने में ।
(३०) (यज्ञोपवीतममि) } (३१) यज्ञोपवीत परमम् } (३२) युवा सुवासा	१५	यज्ञोपवीतपरिधान में ।
(३३) येने द्राव बृहस्पति	९	याम परिधापन में ।
(३४) यो मे दण्ड परापतत्	२०	दण्डग्रहण में ।
(३५) यो व निवतम	२३पाटि०१	जला से अजलिपूरण में ।

इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में १६ मन्त्रों का विनियोग प्रक्षिप्त भाग में है, और १९ का प्रामाणिक भाग में है ।

### कन्याओं का उपनयन

३७—संस्कृतभाषा की शैली है कि जहाँ स्त्री और पुंस्व दोनों का वर्णन अभिप्रेत होता है वहाँ भी पुल्लिङ्ग से ही निर्देश किया जाता है । अतः यदि माहित्य में स्त्रियों के उपनयन का विधान स्पष्ट, साक्षात् और मविस्तार नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य नहीं । ब्राह्मण और ब्राह्मणी का, राजन्य और राजन्या का, वैश्य और वैश्या का समास श्रमण ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य ही होता है । अतः ब्राह्मण आदि पुल्लिङ्ग के प्रयोगों से ब्राह्मण कन्या आदि का भी बोध होता है । इस प्रकार उन का उपनयन विहित है ।



३८—इती शैली का अवलम्बन करने हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्यों में पुरुषों की शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों की शिक्षा का भी वर्णन किया है ।<sup>१</sup> एक मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि 'विद्वानां कां अपनीं (सु- ) शिक्षा ने कुमार आर कुमारी ब्रह्मचारिणियों का परमेश्वर ने ले कर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का घाँघ कग्ना चाहिये...।' उन्हीं ने सत्यार्थ-प्रकाश के तीसरे समुल्लान में लड़कियों के अध्ययन और ब्रह्मचर्य का विवेचन भी किया है ।

३९—ऋग्वेद में देहियों की कल्पना, वाक् अपाला घोषा लोपामुद्रा आदि ऋषिकार्यों की नत्ता की मान्यता ने तथा वैदिक साहित्य में विदुषी नारियों और ब्रह्मवादिनियों के वर्णन से वैदिक काल में लड़कियों के उपनयन और उच्चतम शिला प्राप्त करने की स्थिति का अनुमान सुकर है ।

४०—अथर्ववेद के ब्रह्मचारी-मूक्त में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों का युगपत् वर्णन हुआ है :—

‘ब्रह्मचर्येण कत्या युवानं विन्दने पतिम् ।

अनङ्कान् ब्रह्मचर्येणाश्वो धानं जिगीषति ।’

इन मन्त्र ने उस काल में लड़के और लड़कियों के उपनयन की नत्ता सुस्पष्ट है । इन की पुष्टि ब्रह्मचारिणी, आचार्या आदि पदों, ‘पुंग नारीणा-मपि मोर्जावन्वतमिष्यते’ आदि स्मृतिवाक्यों, स्मृतियों में स्त्रियों के मन्त्र-

१—उदाहरण के लिये य० ६।२४, २५ आदि का दयानन्दभाष्य देखें ।

२—य० ६।८ का भाष्य ।

३—अथ० ११।३।१८ । यहाँ अनङ्कान्-शब्द कामसूत्र में वर्णित वृष-शुक्र का द्योतक है, बैल का नहीं । इती प्रकार ‘अश्व’ अश्वजाति के पुत्र्य और ‘धान’ नतिशुक्र के द्योतक है ।

हीन सस्कारा' के विधान रूप ऐतिहासिक अवसोपा, समायण में कौशल्या के यज्ञ करने के वर्णन, शेष साहित्य में म्रियया की शिक्षा और आश्रमा में निवास और यज्ञोपवीतिनी आदि पदों में होती है ।

## शूद्रों की स्थिति और उन का उपनयन

४१—इस विषय पर कई विद्वानों ने अधिकृत रूप में लिखा है ।<sup>१</sup> डा अम्बेदकर के 'दू वर ही शूद्राज और डा शर्मा के शूद्राज इन एन्सिक्लोपिडिया' में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है । शूद्रों के विषय में जितने अध्ययन अब तक हुए हैं उन में दो दृष्टियों काम करती हैं — १ शूद्र श्रमिक और समाज में नीचतम वर्ण हैं २ इस भावना की प्रतिनिया रूप शूद्रों को उच्च वर्ण का सिद्ध करना । किसी भी अध्ययन में शुद्ध साहित्यिक और भाषा की दृष्टि में विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है । यह विवेचन बहुत विम्वृत है । जत यहाँ कतिपय विचार परम सक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं ।

४२—त्रैदिक मन्त्रों के अध्ययन से ज्ञान हाता है कि वहाँ मानव जाति के एक, दो, तीन, चार और पाँच विभागों का बहुधा उल्लेख पाया जाता है । समान सख्या के विभागों का वर्णन भी सर्वत्र समान नहीं है । उन के मूल में विभिन्न दृष्टियाँ रखी प्रतीत होती हैं । तो भी थोड़े में व्याख्यान में उन में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है ।

४३—ऋग्वेद के एक मन्त्र में मनुओं की समस्त प्रजाओं का अग्नि द्वारा सृष्ट बताया गया है —

१ यथा मनु० २।६६ देखें ।

२ देखो डा शर्मा का शूद्राज इन एन्सिक्लोपिडिया में प्रदत्त विवरण ।

'न पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम् ।  
वियस्वता चक्षना द्यामपश्च देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम् ॥'

इस मन्त्र में प्रजा के अन्य कोई विभाग नहीं बताया है । ये प्रजाएँ आर्य ही हैं :—'उरु ज्यातिश्चक्रधुरायाम्' ।<sup>१</sup> इसी मन्त्र में 'दुहन्ता मनुष्याय ददा' तथा पुनरुक्त अंश 'ज्यातिर्जनाय चक्रधुः' में आर्य, मनुष्य और जन को समानार्थक माना है ।

४४—पं० अग्निलान्द्र ने लिखा है कि 'वेद के संबंध में जहाँ कहीं पर किसी जाति का नाम मिलता है तो ब्राह्मण जाति का ही मिलता है अन्य का नहीं, वेद और ब्राह्मण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है ।' वस्तुस्थिति यह मालूम पड़ती है कि वैदिक काल में मानव मात्र को ब्राह्मण कहा जाता था ।

४५—अन्यत्र प्रजाओं के दो विभाग किए गए हैं । इन के नाम भिन्न-भिन्न हैं—

## ( १ ) आर्य और दस्यु

'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवां वहिष्मते रुधया मासद्व्रतान्' ।<sup>२</sup>

दस्युओं को धनिन् बताया है ।<sup>३</sup> ये व्रत और यज्ञ से हीन कहे गये हैं—

'अन्यत्रतगमानुपमयज्वानमदेवयुम् ।

अथ स्वः नपा दुधुवीत पर्यतः नुष्ताय पर्यतः' ॥<sup>४</sup>

मनु के अनुसार चारों वर्णों में वहिर्भूत आर्य और म्लेच्छ भाषी बोलने वाले नव दस्यु हैं :—

१. ऋ० १।९६।२. २. ऋ. १।११।७।१. ३. ऋ. १।९२।१७।

४. वेदप्रयोगशास्त्रेण पृ० १८२। ५. आगे मंसं० ४२।५ तथा ऊपर नंदर्न १७—१८ देखें। ६. ऋ. १।५।१।८। ७. ऋ. १।३३।४ ८. ऋ. ८।७०।११.

‘मुखबाहूरपज्जाना या लोके जातया वहि ।  
भ्लेच्छवाचश्चार्यवाच भवे ते दम्यव स्मृता ॥’

स्वामी श्यामनन्द ने ये विभाग चारा वर्णों के व्यक्तियों के माने हैं ।<sup>१</sup>

## (२) दास और आर्यः—

‘अन्तर्यच्छ जिघामतो वज्रमिन्द्राभिद्रामन ।  
दामस्य वा मघवद्धार्यस्य वा मनुतर्यत्रया वधम् ॥’<sup>२</sup>

इस वर्णन में दासों और आर्यों को सम स्तर पर रक्खा गया है । कम में पहले दास का उल्लेख है, फिर आर्य का ।

## (३) ब्रह्म और क्षत्रः—

‘यत्र ब्रह्म च क्षत्र च सम्यञ्ची चरत मह ।  
त लोक पुष्य प्रज्ञेप यत्र देवा सहाग्निना ॥’<sup>३</sup>

प्रजा के ये विभाग राष्ट्र की शक्तियों के धोतव हैं । समस्त शक्तियाँ इन के अन्तर्गत ही हैं । ये दोनों अगले मन्त्र के इन्द्र और वायु के अनुरूप माने जा सकते हैं ।<sup>४</sup>

## (४) मानुषी क्षिति और दैवी विश्व

‘मलस्य ते तद्वियम्य प्र जूतिमिर्यामि वाचममृताय भूपन् ।  
इन्द्र क्षितिनामसि मानुषीणा विना दैवीनामुन पूर्वयावा ॥’

१ मनु १०।४५ १ ऋभाभू० पृ० २९९—वेदरीति से इन के दो भेद हैं, एक आर्य और दूसरा दम्यु । २ ऋ १०।१०२।३ ३ य० २०।२५। य० १८। ३८-४४ और १९।५ आदि में भी ये ही दो विभाग माने गए हैं । ४ य० २०।२६—यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्ची चरत सह । त लोक प्रज्ञेप यत्र सेदिर्न विद्यते ॥ ५ ऋ ३।३४।२.

मानुषी क्षिति मानुषी विद् ही है—'विद्यां कवि विवर्षति मानुषीणाम्'।<sup>१</sup> यहाँ 'म देवेषु वनने त्रार्याणि' में देवी विद् का निर्देश माना जा सकता है। इस वर्णन में देवी विद् मानुषी विद् के अन्तर्गत ही मानी जा सकती है, उस में पृथक् नहीं।

### (५) अयज्वन् और यज्वन्

'अयज्वानो यज्वभिः स्वर्धमानाः।'<sup>२</sup>

अगले मन्त्र में यज्वानः को 'क्षितयो नवग्वाः' कहा है।<sup>३</sup> ये ऊपर वर्णित दस्यु और आर्य माने जा सकते हैं। 'म निग्ध्या नहुगो यज्ञो अग्निविस्वके बलिहृतः नहोभिः' में इन्हें नहुप् और विद् से वर्णित किया है। सायण-भाष्य की योजना अस्वाभाविक है।

### (६) ब्राह्मण और देव

'तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन गाकम्'।<sup>४</sup>

अन्वय ब्रह्म को ब्रह्मचारियों ने और देवों को अमृत में गतिमान् वताया है। संभवतः ऋग्वेद ने 'अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः' में इन विभागों को मानुष और देव कहा है।

### (७) शूद्र और अर्य

'यद् ग्रामे यदरण्ये यत्नभायां, यदिन्द्रिये ।

यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकुमा वयम्' ॥<sup>५</sup>

१. ऋ. ५।४३। ग० ११। ५।४।१७ में देवी प्रजा को मुख ने उत्तर छन्द और मानुष प्रजा को प्रजनन से उत्पन्न कहा है। २. ऋ. १।३३।५-३. ऋ. १।३३।६. ४. ऋ. ७।६।५. ५. अवे. ११।७।२३. ६. अवे० ११।१९।८. ७. वही, मं० १०। ८. ऋ. ११।१२।५।५। धागे मं० ४२।५ की टिप्पणी भी देखें। ९. य० २०।१७.

इसमें मानवा के ये ही दो विभाग किये गये हैं। इनमें शूद्र का उल्लेख पहले किया गया है। वर्णन की शैली में शूद्र का पूज्यत्व मुस्पष्ट है। इसमें ब्रह्म और राजन्य का उल्लेख नहीं है। इनका अन्तर्भाव शूद्र और अर्य में अभिप्रेत है। यजुर्वेद में अर्य पद आद्युदात्त भी है और अन्तोदात्त भी। 'शूद्रा यदर्यजारा न पोपाय धनायति' और 'शूद्रो यदर्यायं जागे न पोपमनु' मन्त्रों में 'अर्यजारा' पद शूद्रा का और अर्यायं जार 'शूद्र' का विशेषण है। इन दोनों मन्त्रों में 'न' सर्वत्र ही उपमावाचक है। इस योजना से इन मन्त्रों में भी मानव जाति के शूद्र और अर्य विभागों का ही वर्णन उपलब्ध होता है।

## (८) शूद्र और आर्य

'ता मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।  
तयाह सर्वं पश्यामि यच्च शूद्र उतार्य' ॥<sup>१</sup>  
'उदग्रभ परिपाणाद् यातुधान किमीदिनम् ।  
तेनाह सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम्' ॥<sup>२</sup>  
'प्रिय मा कृणु देवेषु प्रिय राजसु मा कृणु ।  
प्रिय सर्वम्य पश्यत उन शूद्रे उतार्ये' ॥<sup>३</sup>

अथर्ववेद की पदानुक्रमणीकार ने यहाँ सर्वत्र 'उत' और 'आर्य' की सन्धि मानी है। अथर्ववेद में 'अर्य' पद अन्तोदात्त है। अतः यहाँ 'उन' और 'अर्य' की सन्धि नहीं है। इन मन्त्रों में भी शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया है। ऋग्वेद में आर्यों को तीन प्रजाएँ बताया गया है—'त्रय कृष्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्त्र प्रजा आर्या ज्योतिरग्रा ।'<sup>४</sup> प०अखिलानन्द लिखते हैं

१ य० २३।३० २ य० २३।३१ ३ अवे० ४।२०।४ ४ वही म० ८। ५ अवे० १९।६२।१ ६ ऋ ७।३३।७

कि 'वेद में द्विजों को आर्य कहा है, गूद्रादि को नहीं।' सामान्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही द्विज माना जाता है। यदि प्रकृत विभाग में 'आर्य' को इन तीनों वर्णों का चोतक मान लें, तो गूद्र चौथे वर्ण का वाचक बन जाता है। मतपत्रब्राह्मण में पशुओं को पूपा<sup>१</sup> कहा है। साथ ही पुष्टिकारक होने से पृथिवी को पूपा = शीघ्रवर्ण माना है। वहाँ पशुओं को पुष्टि<sup>२</sup> और 'द्वैव्यो विगः'<sup>३</sup> कहा गया है। ऐसी स्थिति में समस्त पोषक गुण सम्पन्न प्राण, पदार्थ, भाव और स्थितियाँ पूपा = शीघ्रवर्ण = गूद्र हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर मानवों में परोपकार, ज्ञान और सेवा आदि द्वारा पोषण करने वाले व्यक्ति ही 'गूद्र' ठहरते हैं। ऐसे व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के हों सकते हैं। निरुक्त में आर्य—का अर्थ 'ईश्वरः पुत्र', अष्टाध्यायी में स्वामी और वैश्य तथा निघण्टु में 'ईश्वर' दिया गया है। इन अर्थ की पुष्टि में गूद्र का अर्थ 'जो ईश्वरपुत्र नहीं है = असमूद्र = त्वागी, संन्यासी (?)' होगा। वज्रवेद में एक स्थल पर इस विभाग को गूद्र और ब्राह्मण बताया है—'अगूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः'<sup>४</sup>

४६—कई बार मानव जाति के तीन विभाग भी किये गये हैं :—

## (१) देव, असुर और मनुष्य

'यथा चक्रुश्चानुरा यथा मनुष्या उत ।

एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्षमान्यिना ॥'

१. वेदप्रवीणमालोचन, पृ० २१७. २. ग० ३।१।४।९. ३. वही.  
 ४. ग० ३।७।३।९। ५. नि०. ६. पा० ३।१।१०३. ७. नियं २।२२।२.  
 ८. य० ३०।२२। वहाँ यह पदावली दो बार प्रयुक्त हुई है। पहली बार अतिदीर्घ, अतिह्रस्व, अतिस्फूर्ण, अतिकृम, अतिजुल, अतिकृष्ण, अतिकृस्व और अतिलोमन को और दूसरी बार मागध, पुंसनरी, कितव और क्लीय को अगूद्र और अब्राह्मण में विभक्त किया है। ९. अये० ६।१४।३.

यहाँ पर 'देवा' अश्विना का विशेषण है। यदि इसे मानव जाति में भिन्न माना जाये तो यहाँ दस्यु और आय के समान दो ही विभाग रह जायेंगे।

## (२) ऋभु, असुर और ऋषि

'या मेभानृभवो विदुषां मेभाममुरा विदु ।  
ऋषया भद्रा मधा या विदुस्ता मय्या वेगयाममि ॥'

इन तीनों विभागों का एक समान भाव स धर्णित किया गया है।

## (३) ब्रह्म, सोम, राधस्

'य सुन्वन्तमवति य पचन्त य शमन्त य शशमानमूनी ।  
यस्य ब्रह्म वर्णन यस्य नामा यस्येद रात्र म जनाम इन्द्र' ॥<sup>१</sup>

इन के पूर्वार्द्ध में चार विभाग किये गये हैं, उन की दृष्टि में उत्तरार्द्ध में तीन विभाग माने जा सकते हैं।

## (४) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य

'ब्राह्मण एव पतिन राजन्या न वैश्य ।  
तत्सूर्यं प्रत्रुवधेनि पचम्या मानवेभ्य ॥<sup>१</sup>

यहाँ पर समस्त मानव जाति का पच मानव कह कर उम के तीन ही विभाग किये हैं। इन में शूद्र का वर्णन नहीं है। उन का अन्तर्भाव इन्हीं तीन में अभिप्रेत है।

## (५) देव, मनुष्य, राजन्य

'पुनर्वे देवा जददु पुनमनुष्या अददु । •  
राजान मत्य गृह्णाता ब्रह्मजाया पुनर्ददु' ॥<sup>१</sup>

१ अवे० ६।१०।३ २ ऋ २।१२।१४ ३ अवे० ५।१७।१  
४ अवे० ५।१७।१०।



इसमें देव और मनुष्य को पूर्ववर्णिन विभाग के ब्राह्मण और वैश्य कहा जा सकता है। वहाँ राजन्य और वैश्य को ब्रह्मजाया का पति नहीं माना है, वहाँ उन्हें ब्रह्मजाया से सम्पन्न मान कर उसका दाता वर्णित किया है। इस प्रकार में ब्राह्मणपद परमेश्वर के वाचक ब्राह्मणपद' में भिन्न है।

४७—अन्यत्र चार विभागों का उल्लेख है :—

## ( १ ) सुन्वत्, पचत्, शंसत् और शशमान

‘यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।’<sup>१</sup>

सुन्वत्—यजनिष्पादक वैश्य है, पचत्—गुष्टिकर्ता शूद्र है। शंसत्—स्त्रीता ब्राह्मण है और शशमान को क्षत्रिय' कहा जा सकता है।

## ( २ ) उग्र, ब्रह्मन्, ऋषि और सुमेधा

‘यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।’<sup>२</sup> स्वभाव के कारण उग्र क्षत्रिय है,<sup>३</sup> ब्रह्मन् ब्राह्मण है। यतपथ ब्राह्मण' में तप के कारण ऋषि को ऋषि माना है। ऋग्वेद में भी ऋषियों को तपस्वी कहा है—‘पूर्वे सप्त ऋषयस्तपमे ये निपेदुः ।’<sup>४</sup> अग्नि तप से उग्र होती है।<sup>५</sup> ब्रह्मचारी भी तप करता है।<sup>६</sup> यजुर्वेद में शूद्र को<sup>७</sup> और कौलाल को<sup>८</sup> तप से सम्बद्ध किया है। अतः ऋषि को शूद्र का द्योतक

१. अवे० १०।८।३७-३८। २. ऋ. २।१२।१४। ३. आगे मं० २०।५ की टिप्पणी देखें। ४. ऋ. १०।१२।५। ४अ. 'उग्र' शूद्र का एक रूप है। य० ६।१।३।१८। उग्र घोर है—की० १६।७। ५. य० ६।१।१।१। ६. ऋ. १०।१०।९।४। ७. ऋ. १०।१०।९।१ पर साभा० देखें। ८. अवे० १।१।७। ९. य० ३०।५। १०. वही, मं० ७।

माना जा सकता है। योगदर्शन में तप को क्रियायोग<sup>१</sup>, नियम<sup>२</sup> और अशुद्धियों को क्षीण कर के कायेन्द्रिय को शुद्ध करने वाला<sup>३</sup> कहा है। शेष सुमेधा वर्णों के नामा में 'वैश्य' का द्योतक हो जाता है।

### (३) रध्र, कृश, नाधमान ब्रह्मन् कीरि और युक्तप्रावन् सुतसोम

'यो रध्रस्य चादिना य कृशस्य या ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरे ।

युक्तप्राव्णो योऽविता मुशिप्र सुतसोमस्य स जनाम इन्द्र' ॥<sup>४</sup>

आगे मन्त्र १२ में की गई व्याख्या के अनुसार ये पद क्रमशः क्षत्रिय, शूद्र, ब्राह्मण और वैश्य के द्योतक माने जा सकते हैं।

### (४) ब्रह्म और राजन्य; शूद्र और आर्य

'प्रिय मा दभं कृणु ब्रह्मराजन्याभ्या शूद्रायचार्याय च ।

यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते' ॥<sup>५</sup>

यहाँ पर शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है। अथर्ववेद में 'अर्य' पद अन्तोदात्त है और 'आर्य' पद आद्युदात्त। मन्त्र में 'चार्याय' में 'र्या' पर स्वरित है। अतः 'चार्याय' में 'च' और 'आर्याय' की मन्धि है। आर्य पद सामान्यतः आर्यजाति का और पहले लिखे वर्णन के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य का द्योतक माना जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ दो विभागों १ ब्रह्म और राजन्य तथा २ शूद्र और आर्य को इकट्ठा वर्णित किया है। यदि ऐसा मान लें तो ये पद वर्णों के द्योतक न रह कर कर्म या शक्ति विशेषा के द्योतक बन जायेंगे।

१ योगदर्शन २।१। २ वही, २।३२। ३ वही, २।४३।

४. ऋ २।१२।६। ५ अवे० १९।३२।८।

## (५) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र

‘ब्राह्मणोऽप्य मुत्तमानीद् वाहू राजन्यः कृतः ।

ऊरुः तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥<sup>५</sup>

यह मन्त्र यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी आया है। चारों वर्णों का इस क्रम से उल्लेख केवल इसी मन्त्र में मिलता है। पीछे के काल में चातुर्वर्ण्य के लिए इसी मन्त्र को आधार बनाया गया है।

४८—पांच जनों—कृष्टियों—चर्पणियों का बहुधा वर्णन पाया जाता है। यथा ‘अञ्जन्ति सुप्रयसं पञ्च जनाः’; ‘यः पञ्च चर्पणीरभि निपसाद दमे दमे ।’ स्तोत्रा पंचकृष्टि के अन्तर्गत हैं—‘अस्माकं शुग्न्मधि पञ्च कृष्टिषु ।’ प्रार्थनायें पांचों कृष्टियों के लिए की गयी हैं—‘यद् वा पंच क्षितीनां शुग्न्माभर ।’ यहाँ पर उन में पारस्परिक भेद नहीं है। ये पंच जन कौन हैं, उन पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्हें यदु, तुर्वज, दुष्टु, अनू, पुरु कहा है—‘यदिन्द्रान्नी यदुषु तुर्वजेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पुरुषु स्थः ।’ ऐतरेय ब्राह्मण में ये देव, मनुष्य, गन्धर्वाप्सरसू, सर्प और पितृ, निरस्त में<sup>१</sup> गन्धर्व, पितर, देव, अमुर और राक्षस, आपमन्यव के मत में चारों वर्ण और निपाद और पं० अखिलानन्द<sup>२</sup> के विचार में होता, अर्धव्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और यजमान है। इनका परिगणन कुछ भी किया जाये वेद मन्त्रों में इन में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है।

४९—यजुर्वेद में छै विभागों का भी उल्लेख है —

५ अ. ऋ. १०।९०।१२। १. ऋ. ६।१।१४.। २. ऋ. ७।१।५।२।  
३. ऋ. २।२।१०। ४. ऋ. ६।४।६।७। ५. ऋ. १।१०।८।८। ६. ऐ०  
३।३।१। ७. नि० ३।७। ८. वही। ९. वेदत्रयीसमालोचन, पृ० २०५।

ब्रह्म, राजन्य, शूद्र, अर्य (या आर्य ?), स्व और अरण

‘यथेमा वाच कतयाणीमावदानि जनेभ्य ।

ब्रह्मराजन्वाम्या शूद्रायचार्याय च स्वाय चारणाय ।

प्रिया देवाना दक्षिणार्यं दानुरिह भूयाननय मे वाम नमृष्यतामुप  
मादो नमनु ॥’

यदि ऊपर लिखे विभागा पर सामूहिक रूप से दृष्टि डाली जाये तो यहाँ पर मानव जाति के तीन दृष्टिया से दस-दो विभाग स्पष्ट ज्ञात हो जायेंगे—१. ब्रह्मन् और राजन्य २ शूद्र और अर्य (या आर्य) ३ स्व और अरण (अपने और पराये) ।

५०—वेदमन्त्रों में उपलब्ध मानव जाति के कतिपय विभागों का निर्देश किया जा चुका है । शूद्रों की स्थिति के निर्णय में अधोदत्त वर्गों विचारणीय है ।

(१) वेद में मानव जाति के एक या अनेक विभाग विभिन्न दृष्टियों से किये गये हैं । यजुर्वेद के नीचे दिए गए मन्त्रों में इस प्रकार की कुछ दृष्टियों का आभास मिलता है —

‘एश्यास्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् ।

निमृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यन्त ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् ।

पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूताना पतिरधिपतिरासीत् ।

सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्यामीन् ।

एकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्भवा अधिपत्य आसन् ।

त्रयोदशभिरस्तुवत मासा अमृज्यन्त सप्तस्मरोऽधिपतिरानीन् ।

पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रममृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरानीन् ।

सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽमृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥  
 नवदशभिरस्तुवत शूद्रायांबसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् ।  
 एकविंशत्यास्तुवतैकशपाः पशवोऽमृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् ।  
 त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽमृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् ।  
 पञ्चविंशत्यास्तुवताऽऽरभ्याः पशवोऽमृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् ।  
 सप्तविंशत्यास्तुवत छावापृथिवी व्यंतां वसवां रुद्रा आदित्या अनुव्या-  
 यंस्त एवाधिपतय आसन् ॥  
 नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽमृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् ।  
 एकत्रिंशत्यास्तुवत प्रजा अमृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन् ।  
 त्रयस्त्रिंशत्यास्तुवत भूतान्वशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठयधिपति-  
 रासीत् ॥”

इस वर्णन में ब्रह्म, ऋषि और क्षत्र की उत्पत्ति पृथक्-पृथक् बतायी है, परन्तु शूद्र और आर्य (अर्य) की एक साथ ।

(२) उपरोक्त वर्णनों में समस्त विभागों को एक स्तर पर रखा गया है, केवल दस्युओं को हिंसक बता कर उन्हें हीन माना गया है ।

(३) शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है ।

(४) ऊपर दी गई व्याख्या के अनुसार ऋषि और शूद्र पद को समानार्थक माना जा सकता है । वैदिक साहित्य में ऋषि की स्थिति सुविदित है ।

(५) वेदमन्त्रों में चारों वर्णों का युगपत् आधुनिक क्रम से वर्णन

.१ य० १४।२८-३१ । इन में मन्त्र ३० में 'शूद्रायो' में 'राज-  
 दन्तादिषु परम्' (पा० २।२।३१) से शूद्र का पूर्यन्तिपात माना गया है ।  
 परन्तु राजदन्तादिगण में 'शूद्रायम्' पाठ है, 'शूद्रायो' नहीं है । अर्थात् व ।  
 वेद मन्त्रों में अधिकांश स्थलों पर समास के अभाव में शूद्र और आर्य का  
 क्रम ही मिलता है । अतः वहाँ राजदन्तादि सूत्र लगाना अनावश्यक है ।

केवल एक मन्त्र' में पाया जाता है। आगे मस० ३३ की व्याख्या के अनुसार ये ब्राह्मण आदि पद पुरुष के नाम माने जा सकते हैं।

(६) अथर्ववेद के 'शूद्रवृता राजवृता म्त्रीशृता ब्रह्मभि वृता । जाया-पत्या नुत्तेव कर्त्तार वन्ध्वच्छतु ॥'<sup>१</sup> में शूद्रवृता का सर्वप्रथम वर्णन साभि-प्राय है। इसमें शूद्र, राजन् और ब्रह्मन् का ही निर्देश है वैश्य का नहीं।

(७) तैत्तिरीय ब्राह्मण में वैश्या का ऋचाआ से क्षत्रा का यजुषा से और ब्राह्मणा का सामना स उत्पन्न बनाया गया है। साथ ही सब कुछ को ऋचाआ से उत्पन्न बनाया है।<sup>२</sup> सोम अथर्ववेद और शूद्र रह जाते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध अनुमानगम्य है।

(८) सतपथ ब्राह्मण में यज्ञ से उत्पन्न को ब्राह्मण कहा है। इसी लिए वहाँ दीक्षित राजन्य और वैश्य का ब्राह्मण माना है।<sup>३</sup>

(९) सतपथ ब्राह्मण में वर्णों की उत्पत्ति का जम विश्व, शूद्र, क्षत्र दिया है। पहले ब्रह्म (ब्राह्मण) ही था। उस से गोप वर्णों की उत्पत्ति हुई। यहाँ पर चारों वर्णों का एक स्तर का माना है। यहाँ पूषा का शूद्र कहा है और पृथिवी को पूषा।<sup>४</sup> ब्राह्मणा में अनेक पदा के अर्थ एक ही साथ ब्रह्म, क्षत्र, विश्व और पृथिवी (शूद्र भी ?) दिये गये हैं।<sup>५</sup>

(१०) ऐतरेय ब्राह्मण में सोम को ब्राह्मणा का दधि को वैश्या का और अपस् को शूद्रा का भक्ष घताया है। जल वन्याण और सिद्धि के प्रतीक हैं। तु क—'शत्रो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । मयोरभि खवन्तु न ॥'<sup>६</sup> एक स्थान पर इन्हें गतिशील करने वाला भी कहा है।<sup>७</sup>

१ ऋ १०।९०।१२। २ अवे० १०।१।३ ३ तै० ३।१२।९।१-४।

४ श० ३।२।१।४०। ५ श० १।४।४।२।२४-२७। ६ वैको० में वाक्, गौ आदि पद देखें। ७ ऐ० ७।२९। ८ य० ३६।१२। य० ११।५०-५१ भी देखें। ९ य० ११।५२। पाठ० मँपु० २७ पर २३ (1V-V) देखें।

(११) ऊपर दासों को आपों का समकक्ष बताया है। 'यथावम नयति दासमार्यः' में यथावमन् का अर्थ 'यथावमि' करने पर 'इन्द्र दासों का नेतृत्व करता है' भाव निकलता है। ऋग्वेद में दास नमुचि पद एक गार्हपतिक दृश्य का द्योतक है, दासों के तीव्रत्व का द्योतक नहीं है।

(१२) अथर्ववेद के 'नूत्रानिच्छ प्रकर्मम्' में नूत्रा पद किसी स्थान विधेय का नाम प्रतीत होता है, जातिविधेय का नाम नहीं है, क्योंकि इस का प्रयोग मूजवत और दास्हीकान् के साथ हुआ है।

(१३) ऋग्वेद के पुनर्वन अंगों में 'वर्ण शुक्रम्' के लिए 'आर्य वर्णम्' का प्रयोग हुआ है। 'वधेन दस्युं प्र हि चातयस्व वयः कृष्यान्-स्तन्वे स्वायै' की पृष्टि में 'आर्य वर्णम्' का अर्थ 'आरोग्य और स्वास्थ्य' भी समझा जा सकता है।

(१४) छान्दोग्य उपनिषद् में 'श्रद्धाश्रेय, बहुदायी, बहुपायय और आचमन्य निर्मापक जानश्रुति पौत्रायण का मूत्र कहा गया है। स्वामी शंकराचार्य का नमाधान मन्तोपजनक नहीं। वहाँ पर श्रेष्ठ और विद्या के लिए इच्छा प्रकट करने के कारण ही राजा को मूत्र कहा गया है।

(१५) महाभाष्यकार के लेखानुसार तप करने से विद्वामित्र ऋषि हो गये। उन के तप से ही उन के पिता और पितामह भी ऋषि हो गये। पुत्र या पीत्र के तप से पिता वा दादा का ऋषि मन्थार्थद्रष्टा होना बुद्धिगम्य नहीं, ऋषि-श्रेष्ठ-मूत्र होना बुद्धिगम्य है।

(१६) यजुर्वेद के पुत्रभेद में अपने-अपने कर्मों के अनुरूप ही मनुष्यों

१. ऋ. ५।३।४। २. ऋ. ५।३।०।७-८। ३. अवे० ५।२।१।३.

४. ऋ. ३।३।४।५. ५. ऋ. ३।३।४।१। ६. ऋ. ५।४।६। ७. टी-

३० ४।२।३; ५। ८. वेदधर्मीनमालोचन, पृ० २२७ पर पा० ४।१।

१०४—अनुप्यागन्तव्ये विदादिभ्योऽञ् पर पतञ्जलि मति का लेख देवों।

को विभिन्न गुणा और गरितयो आदि से सम्बद्ध किया गया है। वहाँ ब्राह्मण को ब्रह्म से, राजन्य को क्षत्र से, वैश्य को भरता में और शूद्र तथा कौन्त्या का तप से सम्बद्ध किया है। मनु ने ममस्त वर्णों का तप पृथक्-पथक् बताया है। उसमें शूद्र का तप भेदा बताया है। पूर्वोक्त वैदिक धरणा से इस की पुष्टि नहीं होनी है। अतः शूद्र के तप से सम्बन्ध के वाग्म्य 'पद्भ्या शूद्रो अजायत' में 'पद्भ्याम्' का अर्थ 'तप धर्म' करना युक्ति-संगत मालूम पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण ने 'पाद' को प्रतिष्ठा कहा भी है। पट्विंश ब्राह्मण ने पादों का अनुष्टुप् कहा है। अनुस्तोभन, मित्र की पत्नी, गायत्री, वाक्, ज्यैष्ठ्य, पृथिवी प्रजापति, राजन्य, अश्व, आप, सत्यानृत आदि को अनुष्टुप् कहा गया है। पृथिवी शूद्रवर्ण है क्यों कि वह पूषा है। अतः 'पद्भ्याम्' पावन भाव का भी सातक माना जा सकता है।

( १७ ) शतपथ ब्राह्मण में तप को शूद्र कहा है—'तपा वै शूद्र ।'

( १८ ) ऋग्वेद में अग्नि और धिग्ये देवा को द्विजन्मा या द्विज कहा है, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को नहीं।

( १९ ) मनु ने द्विजा के तीन जन्म माने हैं—माता से, उपनयन से

१ य० ३०५, ७। २ मनु ११।२३५। ३ ऋ० १०।९।०।१२। आगे मम० ३३।४ की टिप्पणी भी देखें। ४ श० १३।८।३।५ पट्विंश ब्राह्मण, २।३। ६ देखो वंका० पृ० २५-२६। ७ श० १४।४।२।२५। ८ श० १३।६।२।१० ९ देखो ऋ १।६०।९, १४०।२ १४९।४-५ ६।५०।२, १०।६।१।१९। यहाँ पर मा० ने द्विजा को पृथक् मान कर विप्र अर्थ किया है। मायणीय याजना में भी वर्णभाज नहीं आता। ऋ ३।२७।८ में विप्र का यज्ञ का मापन और ऋ ८।६।२८ में धी (कर्म, बुद्धि) से उत्पन्न बताया है। ऋषि भी विप्र हैं। अतः इस अर्थ में द्विजपद मानव मात्र का द्योतक है।



और यज्ञदीक्षा से ।' अतपथ ब्राह्मण ने प्रत्येक यज्ञ में दीक्षित पुण्य को ब्राह्मण कहा है ।' महाभारत के अनुसार शूद्र भी यज्ञ में दीक्षा लेने हैं और यज्ञसमाप्ति पर 'पूर्ण पत्र' नामक दक्षिणा देते हैं ।'

(२०) ज्योतिष शास्त्र में शूद्रों का स्वामी बुध बताया गया है—  
'विप्रादितः बुधगुरु कुजार्का मधी बुधश्चेत्यमितोऽन्त्यजानाम् ।' यहाँ बुध को शिल्पिवाक्, हास्य में रुचि रखनेवाला और विद्वान् बताया है—  
'शिल्पिवाक् सततहास्यरुचिर्गः ।'

(२१) ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के ऋषि कवप ऐन्द्रूप को दासीपुत्र, कितव और आचारभ्रष्ट माना जाता है ।' कवप को ऋग्वेद में आपन् से सम्बन्धित और इन्द्र ने रक्षित बताया है ।' इस के एक सूक्त का देवता 'आप.' और एक सूक्त का इन्द्र है । दो सूक्तों के देवता विश्वेदेवाः, इन्द्र आदि हैं । शिल्पि सूक्त<sup>१</sup> के ग्यारहवें मन्त्र में 'वृषण्ड' का प्रयोग है । संभवतः इस वर्णन को ऋषि को आपसीना मान कर ऐन्दुरय ब्राह्मण की कथा गढ़ ली गयी । यहाँ पर वृषण्ड पद द्वयर्थक प्रतीत होता है—धर्म का वारक (—वृषं धर्मं लालि गृह्णाति धारयतीति वा) होना हुआ भी आचार से धर्म का नाशक (—वृषं धर्मं लुनाति छिनत्ति) । अतः कवप अपने जन्म के कारण नीच नहीं था, प्रत्युत अपने श्रेष्ठ्य के कारण

१. मनु० २।१६९। २. ज० ३।२।१।४०। ३. डॉ० अम्बेदकर द्वारा श्री गय के कण्डकत्तानंस्वरण के महाभाग्न शान्ति पर्व, अध्याय ६० में उद्धृत श्लोक ३८-४० और उन पर डॉ० अम्बेदकर का लेख—हूवर दी शूद्राज, पृ० १२१। ४. बृहज्जातक २-७। ५. यहीं। ६. ऋ. १०।३०-३४। ७. एतद्विषयक गामग्री आचार्य शिवशुजन सिंह कुशवाहा ने वैदिक धर्म, गिनम्बर १९५७ के अंक में 'उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार विमर्श' में एरुश्रित की है। ८. ऋ. ७।१८।१२। ९. ऋ. १०।३०। १०. ऋ. १०।३२। ११. ऋ. १०।३१; ३३। १२. ऋ. १०।३४।

और उपरोक्त मन्त्र में वृषल पद का प्रयुक्त करने के कारण 'वृषल' कह-  
लाया होगा। वक्षीवान् आदि ऋषियों की म्यति पर इन दृष्टि से पुन  
विचार की आवश्यकता है। वैसे भी मन्त्रों से सम्बद्ध ऋषि उन के रचयिता  
नहीं हैं। वे उन के अर्थों के दानक पद हैं। तन्मन्त्र्या अस्यान आल-  
कारिक मात्र हैं। 'अ

(२२) श्री मीनियर विलियम्स ने अपने काप' में लिखा है कि बौद्ध-  
साहित्य में 'गूद्र' पद ब्राह्मण का नाम है। यह नाम ईर्ष्याविष भी प्राप्त  
हो सकता है, और प्राचीन स्थिति का अवगोप भी। वीरचरित में  
गूद्रिक एक पुण्य का नाम है। हरिवन में गूद्रा रौद्रास्व की पुत्री का  
नाम है।'

(२३) मनु ने गूद्रा का धम का विवचन बताया है --  
यस्य गूद्रन्तु कुरुन राजा धमविवेचनम् ।  
तस्य मीक्षति तद्राष्ट्रं पके गौरिव पश्यत ॥'

बहुश्रुत और सदाचारी व्यक्ति का ही धमविवचन का अधिकार प्राप्त होता  
है। तु व कुल्लुव का व्याख्यान—धार्मिकोर्षि व्यवहारजोर्षि  
गूद्र ।' अ

(२४) मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि उस के काल में गूद्र राजा भी  
होते थे। वहाँ पर नृपतिमात्र को क्षत्रिय कहा है।' अतः गूद्र राजा  
क्षत्रिय ही रहे होंगे।

१२ अ—देखो मुधीर कुमार गुप्त, मीयमं ओफ़ दी ऋग्वेद, देअर ममेअ  
एण्ट फिरोमीफी, ऋक्सुता की भूमिका, सदभं ३०-६५ भी देखें।  
१ विरो० पृ० १०८५, वाग्म ३। २ वही। ३ मनु० ८।२१,  
श्लोक २० भी देखें। अ वही, श्लोक २०। ४ मनु० १०।१०

(२५) 'कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा' कह कर मनु-  
स्मृति ने शूद्र आदि को करमुक्त किया है। वेद में कार और तक्षा आदि  
शिल्पियों का बड़ा सम्मान है। वृषु तक्षा बहा एक ऋषि है, ऋभवः और  
त्वष्टा देवता हैं। अतः इन को उन की श्रेष्ठता, कलाकीमल और  
यजमय जीवन के लिए करों से मुक्त किया गया होगा।

(२६) कर्मा-कामी ब्राह्मण भी शूद्रों की सेवा करते थे। परन्तु  
उन्हें इस सेवा के कारण पतित माना जाना था। आपत्काल में वैश्य  
भी शूद्रवृत्ति कर सकता था।

(२७) शूद्र की हत्या करने पर मनुस्मृति ने प्रायश्चित्त का विधान  
किया है।

(२८) अमरकोष में आभीरी को महाशूद्रा कहा है। मनु  
के मत में ब्राह्मण ने अम्बष्ठ कन्या में उत्पन्न स्त्री आभीरी होती है।  
श्रीज की प्रधानता के कारण आभीरी ब्राह्मणी ही है। उसे महाशूद्रा कहना  
प्राचीन इतिहास का अयोग्य है।

(२९) अग्निस्मृति में विप्रों के दस प्रकार बनाये हैं जिन में शूद्र विप्र  
भी है :—

दिवो मुनिर्द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो निपादकः ।

पशुमूर्च्छोर्जि पाण्डालो दमयिधाः स्मृताः ॥<sup>६</sup>

इस में वदिक और पीछे के काल के मानव जाति के भागों को एकत्र कर दिया  
गया है।

१. मनु० १०।१२०। २. देवो ऋषियों और देवताओं की  
अनुक्रमणिकाएँ। ३. मनु० ११।६९। ४. मनु० १०।९८। ५. मनु०  
११।१३०; १३१; १८०। ६. अर्को० २।६।१३। ७. मनु० १०।१५।  
८. स्मृति संदर्भ, भाग १, पृ० ३८६।

(३०) डा अम्बेदकर ने लिखा है कि महाभारत के हस्तलेखों में से छै में पंजवन मुद्राम को 'शुद्र' एक में शूद्र के स्थान पर शुद्ध कहा गया है। दा में शूद्र शुद्ध के स्थान पर पुरा का पाठ है।<sup>१</sup> शूद्र के स्थान पर शुद्ध का प्रयोग दान दाना को समानार्थक बना रहा है।<sup>२</sup> पुराणा में और ऐतिहासिकों की दृष्टि में ऋग्वेद में पंजवन मुद्रास क्षत्रिय है। अतः क्षत्रिय शुद्ध शूद्र मिश्र होते हैं।

(३१) यजुर्वेद में ब्राह्मण आदि के साथ शूद्रों में भी रच के आधान की प्रार्थना की गयी है।<sup>३</sup>

(३२) सर एम मानियर विलियम्स के काप में मगृहीत शूद्रविषयक जवादत्त पदा में गूढ इतिहास लिखित हाता है—शूद्रप्रिय (प्याज) शूद्रभिक्षित (शूद्र से प्राप्त भिक्षा) शूद्रयाजक शूद्रप्रायश्चित्त शूद्रशामन, शूद्रमस्फार और शूद्रीभू। उहाने शूद्रों से सम्बन्धित अत्रादत्त १९ पुस्तकों का भी नाम दिया है। इन के अध्ययन से भी शूद्रों की स्थिति पर प्रकाश मिलन की सम्भावना है — १ शूद्रकमलाकर २ शूद्रकुलदीपक ३ शूद्रकृत्य ४ शूद्रविचारण ५ शूद्रविचारणतत्त्व ६ शूद्रविचारतत्त्व ७ शूद्रजपविधान ८ शूद्रतत्त्व ९ शूद्रप्राधिनी १० शूद्रपचसस्कारविधि ११ शूद्रपद्धति १२ शूद्रविवेक १३ शूद्रस्मृति १४ शूद्रचिन्तामणि १५ शूद्रशिरोमणि १६ शूद्राह्निक १७ शूद्राह्निकाचार तत्त्व १८ शूद्रोत्पत्ति १९ शूद्राद्यात।<sup>१</sup> इन में से कुछ तो आपानत ही नितान्त अर्वाचीन प्रनीत होती हैं। शूद्रप्रप्य—शूद्र के सेवक ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य से भी शूद्रों के सर्वोपरि भाव का परिचय मिलता है।

१ डा अम्बेदकर, हूवर दी शूद्राज, पृ० १२१। १अ इस प्रकार अर्थ-ग्रहण की शैली का विद्वाना न अनेक बार ग्रहण किया है। वैदिक रीडर में ऋ १।१५४।३ पर मै० की टिप्पणियाँ देखें। वेभाप० ४ भी देखें। १आ य० १।८।४८। २ विको० पृ० १०८५। ३ वही।

( ३३ ) मनु ने शूद्रराज में निवास का निषेध किया है ।<sup>१</sup> शूद्र-राज्य शूद्रों की दलितवस्था में कल्पनातीत है । वह तभी सम्भव है जब वे शक्तिशाली, सुसंगठित हो और क्षत्रियों की श्रेणी में आये । ब्राह्मणों का उन से द्वेष उन के ब्राह्मणों के समान ज्ञानवान् और सम्मानित होने से ही सकता है । आधुनिक युग में भी कहीं-कहीं ऐसी परिस्थिति देखी जाती है । यथा डा० मंगल देव शास्त्री के बनारस सस्यूत कालिज का प्रिन्सिपल बनाए जाने पर कतिपय ब्राह्मणों ने उन के विरुद्ध आन्दोलन किया था । दक्षिण में भी ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का गंधर्ष बहुधा मुनने में आता रहता है । परतन्त्रता के काल में कतिपय अनुदार ब्राह्मण अब्राह्मणों को रास्त पढ़ाने में संकोच करते थे । हरिजनों—शूद्रों को धेद पढ़ाने के लिए तां नमवत। आज भी कम ब्राह्मण तैयार होंगे । शूद्रभूयिष्ठ राज्य के नाश की अवश्यम्भावितता के मूल में भी यही भाव लक्षित होना है । नमवतः शूद्रों की सन्निधि में अध्ययन के निषेध में निग्रह का भय और अपने ज्ञान को शूद्रों में गुप्त रखने की भावना लक्षित होती है । मनुस्मृति के शूद्रों से दान न लेने, उन को न पढ़ाने और यज्ञ न कराने आदि के विधान भी शूद्रों के उत्कर्ष के परिचायक हैं ।

( ३४ ) कश्यपसंहिता में कश्यप ने गव वणों को आयुर्वेद पढ़ने का अधिकार दिया है—ब्राह्मण अर्थपरिज्ञान, पुण्य और परोपकार के लिए, क्षत्रिय प्रजाओं की रक्षा के लिए, वैश्य वृत्ति के लिए और शूद्र सेवा के लिए आयुर्वेद पढ़े । आयुर्वेद पढ़ लेने पर वैद्य की तसरी जाति भिषग् ही जाती है और वह 'त्रिज' हो जाता है ।<sup>२</sup> शूद्रों की त्रिज मंजा तब ही मार्थक

१. मनु० ४६१ । २. मनु० ८।२२ । ३. वही, ४।११ । ४. संस्कारविधि विमर्श पृ० ८८ । 'त्रिज' के स्थान पर 'द्विज' पाठ पीछे का ही माना जा सकता है । यह किनी ऐसे व्यक्तिन द्वारा किया गया होगा जो शूद्रों के त्रिजत्व को स्मरण में अनमर्श न्हा, अथवा उगे यह स्थिति सचिकर नहीं थी ।

हो सकती है जब उन्हें द्विज माना जाए । द्विज में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का ही ग्रहण होना है, शूद्रा का नहीं । उन को द्विज मानने पर उन को इन तीन वर्णों का मानना आवश्यक हो जायगा ।

( ३५ ) श्री शंख गूद्रा को आर्येतर जाति मानने है जो आर्यों के तीना वर्णों के साथ पारस्परिक विवाह आदि सम्बन्ध के द्वारा उत्तम अथिक् आर्य हो गये हैं कि उन में से कुछ जातियाँ तो वास्तव में ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हैं ।<sup>१</sup>

( ३६ ) तत्तृतीय ब्राह्मण में ब्राह्मणा का देवा से और शूद्रा का असुरा और अमत् मे<sup>२</sup> उत्पन्न बताया है ।

( ३७ ) ऋग्वेद के एक वर्णन में एक ही वंश में विभिन्न व्यवसायों के व्यक्तियों का वर्णन है —

१ कुरुह ततो भिषगुपलप्रक्षिणी तना ।

नानाधियो वस्यवोजु मा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि मव ॥<sup>३</sup>

का-स्तोना-ब्राह्मण, भिषक्-वृन्ध्यर्थ वंश वैश्य और उपलप्रक्षिणी-शूद्र (?) हो सकते हैं ।

( ३८ ) शूद्रपद की व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं —

( १ ) √शद् + रक् से—शद्लु शानने भौ० । शीयत इति शूद्र-वर्णान्ति ।<sup>४</sup> वृत्ता ।<sup>५</sup>

( २ ) √शुष् से—शोचयतीति शूद्र । सेवको वा ।<sup>६</sup>

१ डा अम्बेदकर द्वारा ह वर दी शूद्राज, उपोद्धात पृ० ११ पर शंख, हिन्दू ट्राइब्स ऐण्ट कास्टम, भाग १ भूमिका पृ० XXI से उद्धृत ।  
२ वही, पृ० २७ । तथा तै० १।२।६।७ और ३।२।३।१। ३ ऋ १। ११२।३। ४ सक्वोपे 'वर्ण' इति पाठ । ५ दपाउ० ८।३४। ६ पपाउ० (दम०) २।१९ ।

(३) इसे 'श्वयति गच्छति वर्धते' में भी लिया जा सकता है। ऋग्वेद के 'महना शृकृतस्य' और यजुर्वेद के शृकार (= क्षिप्रकारि) और शृकृत (= क्षिप्रकृत) में भी यही भाव है। यद्यपि यहाँ 'शृद्र' पद का कोई आभास नहीं मिलता तो भी अर्थ और रूप में शृद्र की शृकृत से समानता के आधार पर शृद्र को शृकृत का रूप माना जा सकता है।

(३९) व्याकरण में शृद्रीपद शृद्रपत्नी का और शृद्रापद शृद्रजाति की स्त्री का द्योतक है। हाँ सकता है 'आचार्या' पद के समान यह पद उस काल में शृद्रगुणयुक्त - पापक, परांपकारपरगवण स्त्री को कहता है।

(४०) वृपल पद शृद्र का ही वाचक नहीं है, घोड़ा और गाजर का भी द्योतक है और वृपली पद केवल शृद्रा या शृद्री का द्योतक नहीं, प्रत्युत अविवाहित रजम्बला कन्या, रजम्बला, वाँज, मृत्तन्त्रान उत्पन्न करने वाली स्त्री भी वृपली है। ऐसी कन्या और स्त्रियाँ नभी बर्णों में होती हैं, श्रवणों में ही नहीं।<sup>१</sup> मायों को बौद्ध साहित्य में क्षत्रिय कहा है, परन्तु पुत्राणां आदि हिन्दू साहित्य में वृपल और शृद्र।<sup>२</sup> अ ये पद उन के श्रेष्ठत्व के कारण उन्हें मिले होंगे जिन को कालान्तर में आधुनिक अर्थों में समझा जाने लगा।

(४१) लोक में महतर (= महत् + तर) और बृहदा ( चतुर्ध-  
रीण = चौबड़ = चौहड़) पद भी इन के प्राचीन काल में उच्च स्तर के द्योतक हैं।

(४२) ऋग्वेद में वियों में ऋषि को सर्वश्रेष्ठ माना है :—

'श्रद्धा देवानां पदवीः कवीनाम् ऋषिर्विप्राणां महिषा मृगाणाम् ।

१. ऋ. १।१६२।१७। २. य० २०।८; २५।४०। ३. अयो० और अन्य कोषों में इन पदों के अर्थ देखें। ३.अ. देवी ३।० हेमचन्द्र राय चौधरी, पौन्यटिकल हिन्दू आकाशविद्यालय उज्जयिनी, चतुर्थ संस्करण (१९३८), पृ० २९४-२९६।

श्येनो गृध्राणा स्वधितिवंनाना सोम पवित्रमत्येति रेभन् ॥<sup>१</sup>  
मानवमात्र विप्र है और ऋषि शूद्र ।

(४३) वसिष्ठ धर्मसूत्र के मत में ऋषिओं के ज्ञान से हीन व्यक्ति शूद्र का स्वामी नहीं हो सकता है ।<sup>१</sup>

५९—उपरोक्त विवेचन से ये परिणाम निकलने हैं —

(१) आरम्भ में आधुनिक रूप में वर्ण-व्यवस्था की कोई कल्पना नहीं थी ।

(२) वैदिक काल में गुण और कर्म का प्राधान्य था । जैसा गुण और कर्म जिस व्यक्ति में देखा वैसे ही उस का नाम हो जाता था ।

(३) समाज में परापकार, ज्ञान, धर्म, तप, गतिशीलता आदि गुणों को बहुत महत्त्व दिया गया था । इन गुणों से युक्त व्यक्ति को ऋषि और शूद्र कहते थे । ऋषि मद्र में श्रेष्ठ थे । अतः शूद्र मद्र में श्रेष्ठ थे । ऋषि मद्र वर्णों से निकलते थे । इस लिए उन का—शूद्र का पृथक् वर्ण नहीं था ।

(४) इसी कारण शूद्र का पृथक् यज्ञोपवीत सस्कार नहीं बताया गया है । जिस प्रकार त्रयी से चारों वेदों का अवबोध होता है, उसी प्रकार द्विज, आर्य और तीनों वर्णों के कथन में शूद्र वर्ण का भी अन्तर्भाव हो जाता है ।

(५) कालान्तर में ब्राह्मणों का और इन वर्णों के शूद्रों का मध्य चलाने में ब्राह्मण अपनी एकता और समाज में वैदिक कार्य के सम्पादन करने के कारण विजयी हुए और अन्य वर्णों के शूद्र पददलित हुए । जहाँ वही मिल सके वहाँ उन की गोनपरम्परा इन विषय में पर्याप्त प्रकाश डालने वाली होगी ।



अथ

पारस्करगृह्यसूत्रे

# उपनयनसूत्राणि

(द्वितीयकाण्डे ऋषिडकाः ३—७)



१-अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा ॥१॥

२-एकादशवर्षं राजन्यम् ॥२॥

३-द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥३॥

४-ययामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥४॥

---

पारस्करगृह्यसूत्र के उपनयन सम्बन्धी सूत्रों का  
शाब्दिक हिन्दी अनुवाद

( काण्ड २, ऋषिडका ३—७ )

१—ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक ( बालक ) का आठ वर्ष के को अथवा ( उस के ) गर्भ ( म ध्यान ८ दिन से ) आठवें ( वर्ष ) में ( आचार्य के पास ) जाए ( अर्थात्—उम का यज्ञोपवीत सम्कार कराए ) ।

२—राजस्य बनने के योग्य और इच्छुक ( राजकु ) का ग्यारह वर्ष के का ( यज्ञोपवीत सम्कार कराए ) ।

३—वैश्य बनने के योग्य और इच्छुक ( राजस्य ) का बारह वर्ष के का ( यज्ञोपवीत सम्कार कराए ) ।

४—अथवा सब का शुभ परिस्थितियों में ( उपनयन कराया जा सकता है ) ।

५-ब्राह्मणान् भोजयेत् ।

६-तं च पर्युप्तशिग्ममलंकृतमानयन्ति ॥५॥

७-पश्चाद्भनेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति—

ब्रह्मचार्यसानीति च ॥६॥

८-अथैनं वासः परिधापयति—

९-येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् ।

तेन त्वा परिदधाम्यायुपे दीर्घायुत्वाय वलाय वर्चस इति ॥७॥

५—(उस अवसर पर गुरुकुलस्थ आचार्य आदि ) ब्राह्मण ( वृत्ति के लोगों) को भोजन कराए ।

६—श्रीर (श्रव) उस ( ब्रह्मचारी ) को सिर मुँडवा कर श्रीर आभूषण पहना कर ( शब्दार्थ—मुखड़े हुए शिर वाले श्रीर बने हुए को ) ( यज्ञवेदी पर ) लाते हैं ।

७—अग्नि के पश्चिम में ( आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के ) बिठा कर ( आचार्य उस से ) कहलाता है—“( मैं ) ब्रह्मचर्य व्रत का प्राप्त हुआ हूँ तथा “(मैं) ब्रह्मचारी हो जाऊँ ।”

८—श्रव ( आचार्य ) उस ( ब्रह्मचारी ) को वस्त्र पहनवाता है—

९—( बृहस्पतिः ) वेदवाणी के अधिकृत विद्वान् आचार्य [ पूर्व काल से ] ( इन्द्राय ) परम तेजस्वी बलवान् ब्रह्मचारियों को (येन) जिस प्रकार ( अमृतम् ) वेद श्रीर उस की अध्यात्म-विद्या के अध्ययन के लिए नियत (वासः ) वस्त्र ( पर्यदधात् ) धारण कराते आए हैं ( तेन ) उसी प्रकार ( आयुपे ) प्राण-शक्ति ( आयुत्वाय ) [ यज्ञमय ] दीर्घ जीवन ( वलाय ) बल [ श्रीर ] ( वर्चसे ) ब्रह्मतेज [ की प्राप्ति ] के लिए (त्वा) तुम्हें [ इस व्रत के लिए नियत वस्त्र ] ( परिदधामि ) धारण कराता हूँ ।

१०-मेखलां बध्नीते ।

११-इयं दुरुक्तं परिवाधमाना

वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् ।

प्राणापानाभ्यां बलमादधाना

स्वमा देवो सुभगा मेखलेयमिति ॥८॥

१२-युग सुवासाः परिवीत आगात्

म उ श्रेयान् भवति जायमानः ।

तं धीरासः कवय उन्नयन्ति

स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥

इति वा ॥९॥

१०—( अथ आचार्य क कहन पर ब्रह्मचारी इन मन्त्रों को पढ़ कर )  
मखला ( = तगड़ी ) बाँधता है ।—

११—[ दुरुक्तम् ] ( मेरे ) दुष्ट वचनों को [ परिवाधमाना ]  
नष्ट करता हुई ( और ) [ मे ] मेरे [ पवित्रम् ] पावन  
[ वर्णम् ] ( ब्रह्मचर्यमत पालन रूपी ) यश को [ पुनती ]  
पवित्र करती हुई, [ प्राणापानाभ्याम् ] प्राण और अपान  
( के नियमन ) द्वारा [ बलम् ] बल [ आदधाना ] देतो  
हुई [ स्वसा ] ( शैथिल्य को ) दूर भगाने वाला ( अथवा-  
बहन के सदृश ) [ देवी ] चोतनशाल ( = चमकती हुई )  
[ सुभगा ] सुन्दर ऐश्वर्य या कर्मफल ( = भाग्य ) ( देने )  
वाला [ इयम् ] यह [ मेखला ] तगड़ी ( आज से मुझे )  
[ आगात् ] प्राप्त हो गई है ।

१२—[ इति वा ] अथवा इस ( मन्त्र ) को ( पढ़े )—[ सुवासा' ]

१३-तूष्णीं वा ॥१०॥

१४-× अत्र यज्ञोपवीतपरिधानम्—

१५-[यज्ञोपवीतं परमं प्रवित्रं

प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।

आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं

यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनहामि ॥इति॥

सुन्दर बन्ध धःस्य किम् हुए [ परिवीतः ] ( विद्याप्राप्त का भावना से ) भरा हुआ ( वा—आचार्य से मगत हुआ ) [ चुवा ] नया ब्रह्मचारी [ आत्मान् ] ( ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिए गुरु के पास ) आया है । [ उ ] निःसन्देह [ स ] बल [ जायमानः ] ( आचार्य से संन राशों में तप से ) उत्पन्न होता हुआ [ श्रेयान् ] श्रेय ( के ज्ञान का अधिकार ) ( शब्दार्थ—श्रेष्ठ ) [ भवति ] होता है । [ धीरासः ] सम्भार बुद्धिमान् [ स्वाध्यः ] सुन्दर विद्याओं का अध्यापन करने वाले [ मनसा ] मन में [ देवयन्तः ] ( ब्रह्मचारी का ) वेदार्थवेत्ता विद्वान्, ब्रह्मन् का दृष्टा करते हुए [ कथयः ] विद्वान् आचार्य ( उस को ) [ उन्नयन्ति ] ( सद्गुणयुक्त शिक्षा प्रदान आदि द्वारा ) उन्नत करते हैं ।

१३—अथवा चुपचाप ( = मौन हो कर बिना मन्त्र बोले ही ) ( मेखला बोधे ) ।

१४—यहाँ यज्ञोपवीत पहना जाता है—

१५—[ यत् ] जो [ पुरस्तात् ] पहले [ प्रजापतेः ] यज्ञ के [ सहजम् ] साथ उत्पन्न हुआ [ परमम् ] परमात्मा ( के ज्ञान

१६-अयाजिनं प्रयच्छति ।

१७-मित्रस्य चतुर्द्वरुणां बलीयस्तेजो  
यशस्वि स्थविरं समिद्धम् ।  
अनाहनस्यं वसनं जरिष्णु परीदं  
वाज्यजिन दधेऽहमिति ॥ ]

१८-दण्डं प्रयच्छति ॥११॥

के अधिचारी हान ) का परिचायक अथवा परम [ पवित्रम् ]  
पावन [ यज्ञोपवीतम् ] ( ब्रह्मचर्यव्रत रूप ) यज्ञ का शापक  
( जनक ) [ अग्र्यम् ] अत्युत्तम [ आयुष्यम् ] आयु  
[ प्रतिमुञ्च ] प्रदान करे । ( यह ) [ शुभ्रम् ] सफेद रङ्ग का  
[ यज्ञोपवीतम् ] जनक [ बलम्, तेज ] बल और तेज  
[ अस्तु ] देन वाला हो ॥ [ यज्ञस्य ] ( तुम ) यज्ञ के  
[ यज्ञोपवीतम् ] जनक [ असि ] हो । ( में ) [ त्वा ]  
तुम को [ यज्ञोपवीतेन ] जनक [ उपनयामि ] पहनाता हूँ ॥

१६—अय ( आचार्य ब्रह्मचारी को ) काले मृग का चर्म देता है ।

१७—[ मित्रस्य ] मित्र (—तुम से बचाने वाले ) को [ चतु ]  
चौद्वारक सदृश, [ चतुर्द्वरुणां ] चारक, [ बलीयः ] दृढ़, [ तेजः ]  
तेजस्वा [ यशस्वि ] ( और ) यशस्वी [ स्थविरम् ] पुरानी,  
[ समिद्धम् ] चमकती ( = सार-सुधरी ), [ अनाहनस्यम् ]  
पवित्र ( करने वाली ), [ जरिष्णु ] चिरकाल में पटने वाला  
( अर्थात्-गर्मी ) [ इदम् ] इस [ वाजि ] शान और शक्ति  
की प्रतीक [ अजिनम् ] काले मृग की खाल (रूप) [ वसनम् ]  
वस्त्र को [ अहम् ] मैं ( तुम्हें ) [ परिदधे ] पहनाता हूँ ।

१८—( अय आचार्य ब्रह्मचारी को ) दण्ड देता है ।

१६-तं प्रतिगृह्णाति ।

२०-यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधि भूम्याम् ।

तमहं पुनराददे आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥१२॥

२१-द्वौचायदंके दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात् ॥१३॥

२२-अथास्याद्भिरञ्जलिनाऽञ्जलिं पूरयति -

१६—( ब्रह्मचारी ) उस दण्ड को ग्रहण करता है ।

२०—[ यः ] ( वह ) जो [ मे ] मेरे [ परापतन् ] गानने आया हुआ है, [ भूम्याम् अधि ] नव पदार्थों आदि के मन्त्र [ वैहायसः ] निरन्तर गति करने वाला, [ दण्डः ] ( अनुष्ठान करने वाला ) दण्ड ( है ), [ तम ] उस को [ अहम् ] मैं ( ब्रह्मचारी ) [ आयुषे ] ( प्रगतिशाल ) जीवन, [ ब्रह्मणे ] वेदाध्ययन ( श्रान ) [ ब्रह्मवर्चसे ] ब्रह्मतेज ( को प्रति ) के लिए [ पुनः ] ( अपने ने ) पहले के ( ब्रह्मचारियों के ) समान [ आ ददे ] धारण करता हूँ ।

२१—( दीर्घ काल तक चलने वाले ब्रह्मवर्च इत में दीक्षा लेने वाला बालक ) लम्बे मांसमन्त्र में ( दीक्षा ) लेता है ऐसा ( शास्त्र का ) वचन होने के कारण कुछ ( आचार्य मांसमन्त्र को ) दीक्षा ( में दण्डग्रहण ) के समान ( यही भी 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' इत्यादि मन्त्र से दण्डधारण मानते हैं ) ॥

२२—उस जल से ( नरी हुई कपनी ) अञ्जलि में ( पानी छोड़ कर ) उस ( ब्रह्मचारी ) की अञ्जलि को ( जल में ) डरता है ।

१—एतस्मै कात्यायनश्रीतद्वचनं टिलो मन्त्रः—'उच्छ्रयस्व वनस्पते उच्छ्रयं ना पाह' इ म आस्य वक्ष्योदकः अभिप्रैतः ।

२३-आपो हि ष्ठेति तिसृभिः ॥१४॥

२४-अथैनं सूर्यमुदीचयति—

२५ तच्चक्षुरिति ॥१५॥

२६-अथास्य दक्षिणां ममधिहृदयमालभते—

२७-मम व्रते ते हृदयं दधाम मम चित्तमनु चिन्तं ते अस्तु ।

मम वाचमेकमना जुपस्व बृहस्पतिष्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥  
इति ॥१६॥

२३—( आचार्य बालक की अञ्जलि की ) 'आपो हि ष्ठा' आदि तीन ( मन्त्रों ) से ( भरता है ) ।

२४—अथ उस ( ब्रह्मचारी ) को सूर्य का दर्शन कराता है ।

२५—( आचार्य की प्रेरणा पर ब्रह्मचारी ) 'तच्चक्षुः' आदि ( मन्त्र ) को बोलता हुआ सूर्य को देखता है ।

२६—अथ ( आचार्य ) उस ( बालक ) के दाहिने कन्धे और हृदय को छूता है ।

२७—[ मम ] अपने ( = आचार्य के ) [ व्रते ] अनुशासन में [ ते ] तुम्हारे [ हृदयम् ] हृदय को [ दधामि ] व्यापृत करता हूँ ।

१—आपो हि ष्ठा मयोमुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षुसे ॥१॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥२॥

तस्मा अरङ्गमाम धो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।

आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

२—तच्चक्षुर्देवहित पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शत जीवेम शरदः शत शृणुयाम शरदः शत प्रव्रजाम शरदः शतमदीनां स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

२८ अथास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह—कौ  
नामासीति ॥१७॥

२९-असावहं भोऽइति प्रत्याह ॥१८॥

३०-अथैनमाह—कस्य ब्रह्मचार्यसीति ॥१९॥

३१-भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यैरतवाह-  
माचार्यस्तवासाविति ॥२०॥

[ ते ] तुम्हारा [ चित्तम् ] ज्ञान [ सम ] मेरे [ चित्तम् ]  
ज्ञान [ अनु ] क समान [ अन्तु ] हो । [ सम ] मेरे  
[ वाचम् ] वाणी को [ एकमनाः ] एकसाथ मन से [ जुपस्य ]  
तुना करना । [ बृहस्पतिः ] वेदाधिपति परमात्मा [ त्वा ]  
तुम्हें [ मलयम् ] मेरे लिए ( अर्थात्—मेरे से शिक्षा प्राप्त  
करने के लिए ) [ नियुक्तु ] नियुक्त करते रहें ।

८—अब उस के नीचे दाहिने हाथ को पकड़ कर ( आचार्य ) कहता है—  
तुम्हारा क्या नाम है [श० तुम किस (मुख्य) नाम वाले हो] ।

२९—वह ( बालक ) उत्तर देता है—हैं ( भीमन् ) यह मैं—हूँ ।

३०—अब ( आचार्य ) उस से पूछता है—[कस्य] तुम (मुख्य) नाम  
किस के ब्रह्मचारी हो ।

३१—‘आप का’ यह कहे जाने पर ( आचार्य कहे कि ) तुम [इन्द्र]  
परमेश्वरवर्णशाली और शक्तिमान् परमेश्वर के ब्रह्मचारी हो ।  
[ अग्निः ] अज्ञान और पाप आदि का अग्नि के समान जल  
देने वाला परमेश्वर वा वेदज्ञान तुम्हारा आचार्य है । यह मैं  
भो तुम्हारा आचार्य हूँ ।



३२-अर्थेनं भूतेभ्यः परिददाति-

३३-प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददा-  
म्यद्भ्यस्त्वापधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा  
परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा  
भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति ॥२१॥२।३॥

३२—अब उस ( ब्रह्मचारी ) को [ भूतेभ्यः ] समस्त उत्पन्न पदार्थों से ( उचित उपयोग लेने के लिए ) करता है ( शब्दार्थ— देता है ) ।

३३—[ अरिष्ट्या ] सुखा के लिए ( मैं ) [ त्वा ] तुम्हें [ प्रजापतये ] प्राणियों के रक्षक परमात्मा को [ परिददामि ] समर्पित करता हूँ । [ देवाय ] दीक्षिमान् [ सवित्रे ] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर को [ त्वा ] तुम्हें [ परिददामि ] समर्पित करता हूँ । ( मैं तुम्हें ) [ अद्भ्यः ] जनो को ( और ) [ अपधीभ्यः ] अ'पधियों को [ परिददामि ] देता हूँ । ( मैं ) [ त्वा ] तुम्हें [ द्यावापृथिवीभ्याम् ] बुल्लोक और पृथिवी लोक ( अथवा प्राण और उदान ) का [ परिददामि ] देता हूँ । ( मैं तुम्हें ) [ विश्वेभ्यः देवेभ्यः ] सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों को [ परिददामि ] सौंपता हूँ । [ त्वा ] तुम को [ सर्वेभ्यः ] सम्पूर्ण [ देवेभ्यः ] ( वसु, रुद्र, और आदित्य आदि ) दिव्य पदार्थों ( या विद्वानों ) को [ परिददामि ] देता हूँ, ( और ) [ त्वा ] तुम को [ सर्वेभ्यः ] समस्त [ भूतेभ्यः ] भूतों ( पृथिवी, अपस्, तेजः, वायु और आकाश रूप या प्राणीमात्र ) को [ परिददामि ] देता हूँ ।

- ३४-प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति ॥१॥  
 ३५-अन्वारब्ध आज्याहुतीहुँ स्वा प्राशनान्तेऽथैनँ \*सँ \*शास्ति.  
 ३६-ब्रह्मचार्यसि ।  
 ३७-अपोऽशान ।  
 ३८-कर्म कुरु ।  
 ३९-मा दिवा सुपुष्या ।  
 ४०-वाचं यच्छ ।  
 ४१-समिधमाधेहि ।  
 ४२-अपोऽशान ॥इति॥२॥

- 
- ३४—अग्नि का प्रदक्षिणा कर के (आचार्य के बाईं ओर) बैठता है ।  
 ३५—पुनः ( यज्ञ के ) आरम्भ होने पर घृत को ( १४ ) आहुतिर्पा  
 दे कर, ( यज्ञरोप के ) स्वा लेने पर अथ उस ( ब्रह्मचारी ) को  
 शिक्षा देता है—  
 ३६—( अब ) तुम ब्रह्मचारी हो ।  
 ३७—( सब कर्मों अथवा—सन्ध्योपासन और भोजन के आरम्भ में )  
 पानी पिया करो ( अर्थात्—आचमन किया करो ) ।  
 ३८—( सदा ) काम करते रहना ।  
 ३९—दिन में न सोना ।  
 ४०—( पृच्छे जाने पर ) उत्तर देना ।  
 ४१—समिधाओं से यज्ञ किया करो ( शब्दार्थ—समिधा को प्राग्ने  
 रक्खा कर । )  
 ४२—( अब फिर यज्ञ आदि कर्मों की समाप्ति पर ) आचमन  
 किया करो ।

४३-अथास्मै सावित्रीमन्त्राद्योक्तोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोप-  
विष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय ॥३॥

४४-दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनाय वैके ॥४॥

४५-पञ्चोऽर्द्धचेशः सर्वा च तृतीयेन सहानुवर्तयन् ॥५॥

४६-सवत्सरे \*पाण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे  
षडहे त्र्यहे वा ॥६॥

४७-सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण  
इति श्रुतेः ॥७॥

४३—अब अग्नि के उत्तर की ओर, पश्चिम की ओर मुख वाले, बैठे हुए, ( प्रणाम और भद्रामाव से शिक्षा प्राप्त करने के लिए ) उपस्थित हुए, ( गुरु को शान्त चित्त से ) देखते हुए और ( गुरु द्वारा शान्त चित्त ) निश्चित किए गए इस ( ब्रह्मचारी ) को गायत्री का उपदेश करे ।

४४—कुछ ( आचार्य कहते हैं ) कि ( अग्नि के ) दक्षिण की ओर खड़े हुए या बैठे हुए को ( गायत्री का उपदेश करे ) ।

४५—( पहले ) एक-एक पाद को, ( फिर ) आधा-आधा ऋचा की ओर तीसरी बार सम्पूर्ण मन्त्र को ( ब्रह्मचारी के ) साथ-साथ पढ़ता हुआ ( आचार्य उपदेश करे ) ।

४६—( इस गायत्री पाठ को ) एक वर्ष में ( या ) छै मास में, ( या ) चौबीस दिन में ( या ) बारह दिन में, ( या ) छै दिन में अथवा तीन दिन में ( पूरा कराए ) ।

४७—निःसन्देह ब्राह्मण अग्निपुत्र होता है—इस श्रुति के कारण ब्राह्मण बनने के इच्छुक और योग्य ( ब्रह्मचारी ) को तो गायत्री तुरन्त ही सिखा सकता है ।

४८-त्रिष्टुभं \* राजन्यस्य ॥८॥

४९-जगती वैश्यस्य ॥९॥

५०-सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥१०॥३।४॥

५१-अत्र समिदाधानम् ॥१॥

५२-पाणिनाऽग्निं परिसमूहति—

५३-अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु ।

यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येवं मां † सुश्रवा  
सौश्रवसं कुरु ।

यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिषा अस्येवमहं  
मनुष्याणां वेदस्य निधिषो भूयास्मिति ॥२॥

४८—त्रिष्टुभं को त्रिष्टुभं ( छन्द वाली ) ( सावित्री ऋचा (सिखाए) ।

४९—वैश्य को जगती ( छन्द वाली सावित्री ऋचा सिखाए ) ।

५०—अथवा सब को गायत्री ( छन्द वाली ऋचा सिखाए ) ।

५१—( अथ ब्रह्मचारी ) यहाँ (अग्नि) में समिदाध्याओं का प्रक्षेप (करे) ।

५२—( ब्रह्मचारी ) हाथ से आग को ( इकट्ठा कर के ) तेज करे ।

५३—[ सुश्रवः ] हे शोभन यश वाले [ अग्ने ] परमात्मन्, [ मा ]  
मुझे [ सुश्रवसम् ] शुभ्र यश वाला [ कुरु ] बना दो ।  
[ सुश्रवः ] हे उत्तम कीर्ति वाले [ अग्ने ] परमेश्वर [ यथा ]  
जिस प्रकार [ त्वम् ] आप [ सुश्रवाः ] परम विभूत हैं,  
[ सुश्रवः ] हे यशस्वी [ माम् ] मुझे [सौश्रवसम्] उत्तम यश  
वाला [ कुरु ] कर दे । [ अग्ने ] हे परमेश्वर [ यथा ] जिस  
प्रकार [ त्वम् ] आप [ देवानाम् ] ( सूर्यादि भौतिक ) दिग्ग  
पदार्थों के [यज्ञस्य] ( कर्मों में प्राप्त ) यज्ञभाव के [निधिषा]

५४-प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योऽनिष्टन्ममिधमादधाति ।

५५-अग्नये ममिधमाहार्यं बृहते जातवेदसे ।

यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेघया  
वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो  
ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिगाकरिष्णुयेशस्वी तेजस्वी  
ब्रह्मवर्चस्पन्नादो भूयामँ स्वाहेति ॥३॥

रक्षक (= धारक) [ असि ] हो, [ एवम् ] उसी प्रकार  
[ अहम् ] मैं ( भी ) [ मनुष्याणाम् ] मनुष्यों में  
[ वेदस्य ] वेद के [ निधिपः ] कोष का रक्षक [ भूयासम् ]  
बन जाऊँ ।

५४—प्रदक्षिणा की हुई अग्नि को ( जल से ) छिड़क कर खड़े हुए  
( ही ) ( अग्नि ) में समिधा डालता है ।

५५—(मैं ने) [ बृहते ] महान [ जातवेदसे ] ( ममस्त ) उत्पन्न  
( पदार्थ आदि ) को ज्ञात [ अग्नये ] अग्नि को [ समिधम् ]  
समिधा [ अहार्यम् ] दी है । [ अग्ने ] हे आग [ यथा ]  
जैसे [ त्वम् ] तुम [ समिधा ] समिधा से [ समिध्यसे ]  
प्रदीप्त होती हो [ एवम् ] उसी प्रकार [ अहम् ] मैं [ आयुषा ]  
आयु [ मेघया ] धारणवती बुद्धि ( वर्चसः ) तेज [ प्रजया ]  
विश्व ज्योति ( या अन्न ), [ पशुभिः ] शान्ति और कल्याण  
( और ) [ ब्रह्मवर्चसेन ] वेदाध्ययन की सम्पत्ति से [ समिन्धे ]  
प्रदीप्त हो जाऊँ । [ मम ] मेरे [ आचार्यः ] आचार्य  
[ जीवपुत्रः ] दीर्घजीवी पुत्रों वाले ( हो अथवा—परम गति-  
शील, बुद्धिमान् और यशस्वी हैं ) । [ अहम् ] मैं [ मेधावी ]  
बुद्धिमान् [ असान्ति ] हो जाऊँ, [ अनिराकरिष्णु ] ( गुरु

५६-एवं द्वितीयां तथा तृतीयाम् ॥४॥

५७-एपा त इति वा समुच्चयो वा ॥५॥

५८-पूर्ववत् परिसमूहनपर्युक्षणे ॥६॥

५९-पाणी प्रतप्य मुखं विमृष्टे—

६०-तनूपा अग्नेऽपि तन्वं मे पाद्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि,  
वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ।

अग्ने यन्म तन्वा ऊनं तन्म आपुण ॥७॥

के उपदेश को ) न भूलने ( या-टुकराने ) वाला, [ यशस्वी ]  
कोर्तिमान् ( = प्रसिद्ध ) [ तेजस्वी ] तेजस्वी [ ब्रह्मवर्चसी ]  
वेद ज्ञान के क्षेत्र से युक्त, [ अन्नदाः ] ( और ) समस्त भोग्य  
पदार्थों का भोग करने वाला [ भूयासम् ] गृह्णोति । [ इति ]  
( मेरा ) यह [ स्वाहा ] ( वाणी ) सिद्ध हो ।

५६—इसी प्रकार ( इस मन्त्र को पढ़ कर ) दूसरी और तीसरी  
( समिधा ) डाले ।

५७—अथवा 'एपा ते'—( मन्त्र से समिधा डाले । ) अथवा ( 'अग्ने  
समिधम्' और 'एपा ते'—इन दोनों मन्त्रों को ) मिला कर  
( समिधा डाले ) ।

५८—पहले के समान ही ( अग्नि को ) एकत्र कर के प्रदीप्त करने और  
जल छिड़कने की ( क्रियाएँ करे ) ॥६॥

५९—दोनों हाथ तपा कर ( उन से ) मुख को मलता है ।

ॐ एपा ते अग्ने समिधया वर्द्धस्व न्या च प्यायस्व । वर्धिषीमहि  
च वयसा च प्यासिषीमहि ॥ अग्ने वाजजिह्वाजन्त्वा ससृशं सं  
वाजजितं सम्मार्जिमि ॥—

६१-मेधां मे देवः सविता आदधातु, मेधां मे देवी सरस्वती  
आदधातु, मेधामश्विनौ देवावाधत्वा पुष्करस्रजाविति ॥८१॥

६०--( अग्ने ) हे ( प्राण और रेतस् क प्रतीक ) अग्नि, ( तनूपाः  
असि ) ( तुम ) शरीर के रक्षक हो ( मे ) मेरे [ तन्वम् ]  
शरीर की [ पाहि ] रक्षा करो । [ अग्ने ] हे अग्नि [ आयुर्दा  
असि ] तुम जीवन के देने वाले हो, [ मे ] मुझे [ आयुः ]  
( यशमय गतिशाल ) जीवन [ देहि ] प्रदान करो । [ अग्ने ]  
हे अग्नि, [ वर्चोदा असि ] तुम तेज के देने वाले हो [ मे ]  
मुझे [ वर्चः ] तेज [ देहि ] दो । [ अग्ने ] हे अग्नि [ मे ]  
मेरे [ तन्वाः ] शरीर में [ यत् ] जो कुछ [ ऊनम् ] कमी हो  
[ तत् ] उसे [ मे ] मेरे ( शरीर ) में [ अपृण ] पूरा  
कर दो ॥७॥

६१--[ देवः सविता ] दिव्य गुण युक्त सर्वोत्प'दक परमेश्वर [ मे ]  
मुझे [ मेधाम् ] मेधा [ आदधातु ] दें । [ दिव्य ] अलौकिक  
स्वरूप वाले [ सरस्वती ] ज्ञान-रूप परमेश्वर [ मे ] मुझे  
[ मेधाम् ] मेधा [ आदधातु ] प्रदान करें । [ पुष्करस्रजौ ]  
बाहु और प्रतिष्ठा रूपी कमल की माला पहनने वाले [ देवौ ]  
दिव्य गुणों वाले [ अश्विनौ ] अध्यापक और उपदेशक  
विद्वान् ( अथवा, प्राण और अपान ) [ मे ] मुझे [ मेधाम् ]  
मेधा [ आधत्ताम् ] दें ।

१-गुजरातीप्रेससंस्करणे कविडवासमातिघोतकीऽकः—

४ इति अत्रापि प्रदर्शितः ।

६२-(अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां  
वाक्प्राणरचक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति ।

६३-व्यायुपाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणे<sup>०</sup> १से  
हृदि च-व्यायुपमिति प्रतिमन्त्रम् ) ॥४१५ ॥

६४-अत्र भिक्षाचयंचरणम् ॥१॥

६५-भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत ॥२॥

६६-भवन्मध्यां<sup>०</sup> प्राजन्यः ॥३॥

६७-भवदन्त्यां वैश्यः ॥४॥

६२—[अङ्गों को छू कर ( मन-मन में उच्चारण करते हुए ) भावना करता है ( कि )—मेरे ( शरीर के ) अङ्ग, वाणी, प्राण, दर्शन और शक्ति-यां यश और बल बढ़ते रहें ।

६३—‘व्यायुपम्’—इन ( तीन मन्त्रों में से ) प्रत्येक से रात से मस्तक, गरदन, दाहिने कन्धे और हृदय पर व्यायुप (—त्रिपुण्ड्रक नाम का तिलक ) बनाए ] ॥४१५॥

६४—अब भिक्षा माँगने की वृत्ति की जाती है ।

६५—ब्राह्मण गुणों का इच्छुक ( वाक्य के ) शारम्भ में ‘भवत्’ का उच्चारण कर के भिक्षा माँगे ।

६६—क्षत्रिय गुणों का इच्छुक ‘भवत्’ का बीच में ( प्रयोग कर के भिक्षा माँगे ) ।

६७—वैश्य गुणों का इच्छुक ‘भवत्’ का अन्त में ( प्रयोग कर के भिक्षा माँगे । )

१—व्यायुपं जमदग्नेः कश्यपस्य व्यायुपम् ।

यद् देवेषु व्यायुपं तन्नो अस्तु व्यायुपम् ॥ १० ३१६२॥



६८-तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः ॥५॥

६९-पद् द्वादशापरिमिता वा ॥६॥

७०-मातरं प्रथमामेके ॥७॥

७१-आचार्याय भैवं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेष  
तिष्ठेदित्येके ॥८॥

७२-अहिं सन्नरण्यात् समिधमाहृत्य तस्मिन्तग्नौ पूर्ववदाधाय  
वाचं विसृजते ॥९॥

७३-अधःशाय्यद्वारालवणाशी स्यात् ॥१०॥

७४-दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या ॥११॥

६८—तीन ( भिक्षा देने में ) इन्कार करने वाली नहीं होती ।

६९—छै, बारह अथवा असंख्य ( इन्कार न करने वाली होती है ) ।

७०—कुछ ( आचार्य कहते हैं कि ) पहले माता मे ( भिक्षा मांगे ) ।

७१—कुछ ( आचार्य कहते हैं ) कि भिक्षा से प्राप्त सामग्री को आचार्य के अर्पण कर के (अथवा बता कर) शेष दिन में सयत धायी वाला रहे ।

७२—अहिसक रहते हुए ( अथवा बिना स्वयं काटे स्वतः गिरी हुई ) समिधाएँ ला कर उस ( सस्कार के समय प्रज्वलित की गई ) अग्नि में पहले के समान डाल कर ( मन्त्र प्रादि ) वाणी को बोले ( श०—छोडे ) ।

७३—नीचे सोन वाला, खारा और नमक न खाने वाला हो ।

७४—डण्डा रखना, अग्नि की ( श्वन द्वारा ) सेवा, गुरु की सेवा और भिक्षावृत्ति ( करे ) ।

- ७५-मधुमाँ ॥समञ्जनोपर्यासिनस्त्रीगमनानृतादचदानानि  
वर्जयेत् ॥१२॥
- ७६-अष्टचत्वारिँ \*शद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् ॥१३॥
- ७७-द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥१४॥
- ७८-यावद्ग्रहणं वा ॥१५॥
- ७९-वासाँ ॥सि शाण्चौमाधिकानि ॥१६॥
- ८०-ऐण्येयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥१७॥
- ८१-रौरवं\* राजन्यस्य ॥१८॥
- ८२-आजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥१९॥

- ७५—शरात्र, मांस, ( गोते लगा-लगा कर आतिथय ) स्नान ( अथवा—मालिश ), ऊँचे आसन पर बैठना, स्त्रियों से संसर्ग, झूठ बोलना और न दी हुई वस्तु को लेना छोड़ दे ।
- ७६—अष्टतालोंस वर्ष तक वेदाध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य का सेवन करे ।
- ७७—अथवा प्रत्येक वेद के लिए बारह-बारह वर्ष ( ब्राह्मचारी रहे ) ।
- ७८—अथवा पूरी प्रकार ( वेद ) पढ़ लेने तक ( ब्रह्मचारी रहे ) ।
- ७९—( ब्राह्मचारियों के ) वस्त्र सन, रेशम और भेड़ की ऊन के ( होते हैं ) ।
- ८०—ब्राह्मण का ऊपर का वस्त्र एणु (= ढाला बारह सीधा ) नामक हरिक का काला चर्म ( हो ) ।
- ८१—क्षत्रिय का ( उत्तरीय ) नरु नामक हरिणु ( की खाल हो ) ।
- ८२—वैश्य का ( उत्तरीय ) बकरे या गाय का ( चर्म हो ) ।

८३-सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् ॥२०॥

८४-मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥२१॥

८५-धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥२२॥

८६-मौर्वी वैश्यस्य ॥२३॥

८७-मुजाभावे कुशाश्मन्तऋषल्वजानाम् ॥२४॥

८८-पलाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ॥२५॥

८९-वैल्वो राजन्यस्य ॥२६॥

९०-श्रीदुम्बरो वैश्यस्य ॥२७॥

९१-सर्वे वा सर्वेषाम् ॥२८॥

८३—अथवा, न मिलने पर प्रमुख होने के कारण सब का ही ( उत्तरीय ) गाय ( के घर्म ) का हो ।

८४—ब्राह्मण की तगड़ी मूँज की हो ।

८५—क्षत्रिय की ( तगड़ी ) धनुष नामक घास ( या धनुष की डोरी ) की ( हो ) ।

८६—वैश्य की ( तगड़ी ) मूर्वा घास की ( हो ) ।

८७—मूँज न मिलने पर डाम, अश्मन्तक ( या ) बल्व नामक घास की बनी हुई ( हो ) ।

८८—ब्राह्मण का डण्डा टाक का हो ।

८९—क्षत्रिय का ( डण्डा ) वेल का हो ।

९०—वैश्य का ( डण्डा ) गूलर का हो ।

९१—अथवा सब के ही ( डण्डे ) सब ही ( लकड़ियाँ ) हो ( सकती हैं ) ।

६२-(केशसंमितो ब्राह्मणस्य दण्डो ललाटसंमितः क्षत्रियस्य  
ब्राह्मणसंमितो वैश्यस्य । )

६३-आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् ॥२६॥

६४-शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठेत्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्तभिक्रामन्तं चेदभिधावन् ॥३०॥

६५-स एवं वर्तमानोऽमुत्राद्य वसत्यमुत्राद्य वसतीति तस्य  
स्नातकस्य कीर्त्तिर्भवति ॥३१॥

६६-त्रयः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको  
विद्याव्रतस्नातक इति ॥३२॥

६२—( ब्राह्मण का दण्डा वालों तक लम्बा, क्षत्रिय का माथे तक लम्बा और वैश्य का कान तक लम्बा हो ) ।

६३—आचार्य से बुलाया जाने पर उठ कर सुने ।

६४—यदि ( आचार्य ) लेटे हुए को ( बुलाएँ तो ) बैठ कर, यदि बैठे हुए को ( बुलाएँ तो ) खड़ा हो कर, यदि खड़े हुए को ( बुलाएँ ) तो पास जा कर और यदि चलते हुए को ( बुलाएँ ) तो दौड़ कर ( सुने ) ।

६५—वह ( ब्रह्मचारी ) इस प्रकार रहता हुआ आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, आज वही स्वर्ग में रहता है, इस प्रकार उम स्नातक का यश फैल जाता है ।

६६—तीन प्रकार के स्नातक होते हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक ।

६७-समाप्य वेदमममाप्य व्रत यः समावर्तते स  
विद्यास्नातकः ॥३३॥

६८-समाप्य व्रतमममाप्य वेद यः समावर्तते स व्रतस्नातकः ॥३४॥

६९-उभय \* समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति ॥३५॥

१००-आषोडशाद् \* ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति ॥३६॥

१०१-आ द्वात्रिं \*शाद् राजन्यस्य ॥३७॥

१०२-आ चतुत्रिं \*शाद् वैश्यस्य ॥३८॥

१०३-अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति । ३९॥

६७—जो वेद जो ( पूरा पढ कर ) और ( ब्रह्मचर्य ) व्रत को पूरा समाप्त कर विना ( आचार्य कुल से समार म ) लौट आता है वह विद्यास्नातक ( कहलाता ) है ।

६८—जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर के और वेद को पूरा न ( पढ ) कर ( ममार में ) लौट आता है वह व्रतस्नातक ( हाता है ) ।

६९—जो ( वेद और ब्रह्मचर्यव्रत ) दोनों को पूरा कर के ( आचार्य कुल से पितृकुल में ) लौटता है वह विद्याव्रतस्नातक ( कहलाता ) है ।

१००—सोलहवें वर्ष तक ब्राह्मण का ( उपनयन ) काल है ( शब्दार्थ—बीता हुआ नहीं है ) ।

१०१—क्षत्रिय का ( उपनयन काल ) २२ वें वर्ष तक है ।

१०२—वैश्य का ( उपनयन काल ) २४ वर्ष तक है ।

१०३—इस ( ऊपर के सूत्रों में बर्णित अवधि ) के ऊपर ( सब ) गायत्रीमन्त्र के उपदेश स च्युत हो जाते हैं ।

१०४-नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिव्यवहरेयुः ४८॥

१०५-कालातिक्रमे नियतवत् ॥४१॥

१०६-त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो  
नाध्यापनं च ॥४२॥

१०७-तेषां संस्कारेषु ब्राह्म्यस्तोमेनेष्टा काममधीयीरन्  
व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् ॥४३॥ ५१६॥

१०८-अथोपनीतो ब्राह्मणस्त्रिशिखः शिखी जटिलो मुण्डो  
वाऽक्षारालवणाशी स्यात् ॥१॥

१०४—( विद्वान् ) न इन का उपनयन संस्कार कराएँ, न ( इन्हें )  
पढ़ाएँ, न इन से यज्ञ कराएँ, न इन से व्यवहार करें ।

१०५—( ऊपर निर्धारित ) काल के धीत जाने पर नित्य कर्मों का न  
करने वाले व्यक्ति के ( साथ किए जाने वाले व्यवहार के )  
समान ( इन से व्यवहार करें ) ।

१०६—तीन पोटियों ( पिता, पुत्र और पीव ) तक गायत्री के उपदेश  
से वञ्चित हुए पुरुषों के पुत्र का ( न ) संस्कार ( होता है )  
और न अध्यापन ।

१०७—उन ( तीन पुरुषों में से ) ( जो ) उपनयन संस्कार के  
दृष्टिकोण से ब्राह्म्यस्तोम से यज्ञ कर के व्यवहार के योग्य  
बन जाते हैं—इस विधान के आधार पर दृष्टानुसार पद सकते हैं ।

१०८—उपनयन संस्कार किया हुआ ब्राह्मण बालक तीन चोटियों  
( या ) एक चोट्टी या जटाओं वाला या मुँहे ( हुए सिर )  
वाला खारो और नमकीन न खाने वाला रहे ।

१०६-सावित्रं पद्मरात्रं त्रिरात्रं सद्यःकालं वा चरेत् ॥२॥

११०-तदेव व्रतम् उदीच्य दण्डमपो निधाय भेखलां  
यज्ञोपवीतं चाप्स्वन्तरिति प्रत्यृचं नमो वरुणायेति

१०६—सविता दे ( व्रत का वह ) छै रात ( या ) तीन रात या उसी समय ( = उपनयन के समय ) पालन करे ।

११०—उसी सविता के व्रत ( के पालन ) को देख कर दण्डे को ( और ) 'अप्स्वन्तर' ( और 'द्वीरापा'—इन दो मन्त्रों में से ) एक-एक मन्त्र से ( क्रमशः ) मन्त्रला ( = तगड़ी ) और यज्ञोपवीत को जल में रख कर ( और ) 'नमो वरुणाय'

०१—अप्स्वन्तरं मन्त्रा विजयचन्द्रशमजदान्नायैशैव प्रत्त —  
अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिवर्षा भवत वाजिनः ।  
द्वीरापा यी व ऊर्भिः प्रवृत्तिः कुमान् वाजसास्तेनाय वाजं  
सेत् ॥ य० ६।६ पर ॥ सूत्रकाराय चतस श्रुचो  
अभिप्रेताः प्रतीयन्ते या एव सन्ति—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये ।

देवा भवत वाजिनः ॥१॥

अप्सु मे सोमा अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।

अग्निं च विश्वशशुवमापश्च विश्वभेषजीः ॥२॥

आप. पृथीत भेषज वरुण तन्वे मम ।

व्योक् च मूर्धे दशे ॥३॥

इदनाप प्र बहत यत्किं च दुरित मयि ।

यद् वाहमभिदुद्रो ह्यद् वा शेष उतावृतम् ॥४॥ ऋ० १।२३।१६-२२॥

२-—तैब० ७।४।१६।२। मन्त्र का इतना भाग ही अभिप्रेत है ।

त्रिमधुरं दत्त्वा ततोऽस्याग्नेयं प्रथमं वेदव्रतमा-  
दिशेत् ॥३॥

१११-ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि  
भवन्ति ॥४॥

११२-आग्नेयं शुक्रियमौपनिषदं शौलभं गोदानमिति  
पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि चरित्वा स्नात्वोपव्रतं  
चरेत् ॥५॥

११३-त्रिष्ववगुण्ठनं शुक्रियादिषु शुक्रियं शुक्रेभिः  
श्रावयेत् ॥६॥

११४-श्रीपनिषदमौपनिषद्भिः शौलभं शौलभिनीभिः ॥७॥

( मन्त्र भाग ) से तीन बार सीठा ( =दही, शहद और चीनी ) दे कर फिर पहले ( अग्नि सम्बन्धी ( =आग्नेय ) वेद के व्रत का उपदेश करे ।

१११—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के एक वर्ष की अवधि वाले पाँच वेदव्रत होते हैं ।

११२—आग्नेय, शुक्रिय, श्रीपनिषद, शौलभ और गोदान—‘एक साल की अवधि’ में समाप्त होने वाले इन पाँच वेद व्रतों का पालन करे और स्नान कर के ‘उपव्रत’ का पालन करे ।

११३—( शुक्रिय आदि ) तीन व्रतों में परदा ( =अवगुण्ठन ? ) होता है जो इस प्रकार है—शुक्रिय व्रत को शुक्रे से मुनवाए ।

११४—श्रीपनिषद व्रत को श्रीपनिषदों से और शौलभ व्रत को शौलभिनीयों से ( मुनवाए ) ।



११५—अथवाऽविद्यमान आ ब्रह्मन्, उदीरताम्, आ नो भद्रा,  
आशु शिशान, इमां नु कम् इति च वेदशिरसाऽव-  
गुण्ठयेत् ॥८॥

११५—अथवा उपस्थित हो कर “आ ब्रह्मन्”, “उदीरताम्”,  
“आ नो भद्रा”, “आशु शिशान”, और “इमां नु कम्” इन  
मन्त्रों रूपी वेद के उत्तमार्ग ( ऽशिर ) से परदा करे ।

१—आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शू-  
द्रपण्योऽतिव्याधो महारथो जायता दोग्री धेनुर्वोदानह्वानाशुः  
सुप्तिः पुरन्धियोपा जिष्णु रथेष्टाः समेयो युवान्य यजमानस्य  
धीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वपहु फलवत्यो न  
श्रोपधयः पयन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ य० २२'२२ ॥

२—उदीरतामदर उत्परास उन्मध्यमाः पितर सोम्यासः । असु य  
ईयुरवका श्रुतशस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ य० १६।४६॥

३—आ नो भद्राः ऋतवां यन्तु विश्वतोऽदम्भासो अपरीतास  
उद्भिदः । देवा नो यथा सदमिद्वृषे असन्नप्राप्तुषो रक्षितारो  
दिवे दिवे ॥ य० २५।१४ ॥

४—आशुः शिशानो वृषमो न भीमो धनायन सोमणश्चर्षणीनाम् ।  
मक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शत सेना अजयत्  
साकमिन्द्रः ॥ य० १७।३३ ॥

५—इमां नु क भुवना सीपघामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः । आदित्यैरिन्द्रः  
सगणो मरुद्भिरस्मभ्य भेषजा करत् । यश च नस्तन्वं च प्रजा  
चादित्यैरिन्द्र सह सीपधाति ॥ य० २५।४६ ॥

११६-अवगुण्ठनीं त्रिवलिं पञ्चवलिं वा नाभिदेशात् प्रच्छाद्य  
वाग्यतांऽमरयेऽद्यः शयीत ॥६॥

११७-ग्रामे गोष्ठे देवायतने वा ॥१०॥

११८-व्युष्टायामवगुण्ठनीमरये विसृजेत् ॥११॥

११९-अदृशमस्य, उदु त्य, चित्रं देवानामित्युदितेऽर्के  
जपति ॥१२॥

११६—तीन बलियों वा पाँच बलियों वाले परदे को नाभि प्रदेश तक  
ढक कर और वागों को संयम में रख कर वन में नीचे (भूमि  
पर ही) लेटे ( या सोए ) ।

११७—अथवा गाँव में वा सभास्थान वा देवमन्दिर में ( सोए ) ।

११८—उपाकाल होने पर परदे को जंगल में छोड़ दे ।

११९—सूर्य के उदय होने पर 'अदृशमस्य', 'उदु त्य', और 'चित्रं  
देवानाम्' इन मन्त्रों का जप करे ( श० करना है ) ।

१—अदृशमस्य केतवो वि रश्मयो जनीं शतु । भ्राजन्तो अग्नेयो  
यथा । उपदशमशहीतोऽसि सूर्याय स्वा भ्राजान्येव ते सानिः  
सूर्याय स्वा भ्राजान्य । सूर्याय भ्राजिष्ट भ्राजिष्टमस्य  
देवेष्वसि भ्राजिष्टाऽसं सतुष्येसु भूयासम ॥ १० ८।४० ॥

२—उदु त्य जानपेदसं देवं वहन्ति केतवः । ह्यो विश्वाय  
स्यन् ॥ १० ३३।३१ ॥

३—चित्रं देवानामुदनादर्नाशं चक्षुर्मिथस्य वसन्तस्याग्नेः । आभा  
याथापृथिवीं अन्तरेण सूर्य आत्मा जननरत्तश्चुपदस्य स्वाहा ॥

१२०-वपेति द्यौः शान्तिरिति शान्तिं करोति ॥१३॥

१२१-शान्तिभाजनं गुरवे दद्यात् ॥१४॥

१२२-एवमेवाग्णुण्डनी च ॥१५॥

१२३-गोदाने गोमिथुनम् ॥१६॥

१२४-तस्माद् गोदानमिति तस्माद् गोदानमिति ॥१७॥७॥

इति पारस्करगृह्यसूत्र उपनयनसूत्राणि ।

१२०—( चुल्लोक क ) वरसने पर 'द्यौः' 'शान्ति' (मन्त्र का उच्चारण) कर के शान्ति ( की कामना ) करता है ।

१२१—शान्तिपात्र का गुरु का दे देवे ।

१२२—इसी प्रकार परदे को ( गुरु को दे दे ) ।

१२३—गोदान ( व्रत ) में गौश्रों का जोड़ा ( गुरु को देवे ) ।

१२४—( गो दो जाती है ) इसा लिए इस व्रत को गोदान कहते हैं, इसी लिए यह गोदान है ।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्रों का डा० सुधीर

कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री,

प्रभाकर द्वारा रचित शाब्दिक

हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ ।

१—द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तं पृथिव्या शान्तिराप शान्तिरोप-  
धयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्ति  
सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तं सा मा शान्तिरेध ॥

च० ३६।१७।।



# वेदलावण्ये

पारस्करीयोपनयनसूत्रेषु

टिप्पण्यः

पदानुक्रमणिका च ।

# पारस्करश्रीयोपनयनसूत्र

## परिशिष्ट १

### सुकाशिनो टिप्पणियां

उपनयनसंस्कार—आचार्यस्य आचार्याया वा उप समीपे बालकस्य बालिकाया वा नयनमुपनयनम् । आचार्य/आचार्या के पास लड़के/लड़की को विद्याप्रदण के लिए पहुँचाना उपनयनसंस्कार कहलाता है । इस में गृह्यसूत्रों में वर्णित विधि के अनुसार बालक/बालिका को आचार्य/आचार्या के पास लाना, अग्नि के पास बिठाना, गायत्री का उच्चारण कराना और अन्य विहित कर्म किए जाते हैं ।

(11) उपनेता—उपनयन कराने का अधिकार पिता आदि को है—

“पिता पितामहो भ्राता शतथो गोत्रजाग्रजाः ।  
उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्णभावे परः परः ॥”

पिता, दादा, चाचा, सम्बन्धी, गोत्रोत्पन्न बड़े भाई क्रमशः उपनयन करा सकते हैं । गदाधर के मत में यह विधि ब्राह्मण बालक के लिए है, शेष का उपनयन पुरोहित ही करा सकता है । भाव यह है कि जो भी बालक के अध्यापन के लिए नियुक्त हो वही उपनयन कराए, जो न पढ़ावे वह उपनयन न कराए, चाहे वह कुलपुरोहित ही क्यों न हो । जिस बालक के पिता आदि में से कोई सम्बन्धी वेद का अध्यापक हो, वह बालक चाहे जिस वर्ण की योग्यता का इच्छुक हो उस सम्बन्धी से उपनयन करवा सकता है क्योंकि उपनयन वेदाध्ययन के निमित्त होता है । यदि पिता आदि

वेदाध्यापक नहीं हैं, अथवा उपनयनोपरान्त वे बालक को वेद न पढ़ाएं तो वे उपनयन कराने के अधिकारी नहीं हैं ।

### उपनयन का काल

(i) अष्टवर्षमिति—अष्टौ वर्षाणि अतीतानि यस्य असी, तम् । जिस के जन्म को आठ वर्ष बीत चुके हैं । गर्भाष्टमे—गर्भः गर्भसहचरितां वर्षः अष्टमो येषां तानि गर्भाष्टमानि तेषु अतीतेषु । बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग हुआ है । हरिहराचार्य के मत में इस का भाव नवमे या आठवें वर्ष में है । इसी प्रकार वे श्रीर गदाधर ऋत्रिय का उपनयन जन्म से १२ वें वर्ष में और वैश्य का १३ वें वर्ष में मानते हैं ।

### विभिन्न वर्णों के उपनयन में आयु की भिन्नता का कारण

(ii) उपनयन की आयु का विधान प्रायः सर्वत्र वही है । इस का आधार बालक की योग्यता और अध्ययन के लिए आपेक्षिक प्रौढ़ता है । ब्राह्मण आदि के लक्षण इस प्रकार हैं\* । ब्राह्मण का लक्षण यह है—

“अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥” मनु० १/८८

“शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिराजवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥” गी० १८/४२

(iii) इन लक्षणों के अनुसार ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक बालक को सरलहृदय, सुलभ से निरपेक्ष और दान लेने के संस्कार वाला बनाना आवश्यक है । उसे बहुत कुल्लरटना भी पड़ता है । कर्मकारण्ड सोखना और करना पड़ता है । खोज की प्रवृत्ति भी उस को धारण करनी पड़ती है ।

\*यह विषय मंवि पृ० २२८-२३१ में सविस्तार हिन्दी में दिया गया है । यहाँ देखा जा सकता है ।

अतः उस के अध्ययन का काल अन्व्यों से अधिक और सुकुमारस्थिति में प्रारम्भ होना आवश्यक है। आठ वर्ष के बालक में परिपक्वता कुछ अल्प होती है। अतः उस के इस प्रकार के संस्कार डाले जा सकते हैं।

(iv) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सवि० पृ० २२८ पर मनु० १०/१०६ के प्रमाण से ब्राह्मण के लिए दान लेना निरुद्ध माना है। परन्तु मनु का यह श्लोक ब्राह्मण के प्रमुक्त कर्मों—याजन और अध्यापन को भी निरुद्ध बताता है। वैसे भी यह वर्णन शूद्रों से दान लेने में सम्मिश्रित है। अतः यह श्लोक उस काल में मनुस्मृति में डाला गया जब समाज में शूद्रों का सम्मान याज के समान घट गया। अतः इस से उपरोक्त स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता है।

(v) क्षत्रिय के लक्षण ये हैं—

“प्रजाना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।  
निपवेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥” मनु० १/८६

“शौर्यं तेजो धृतिर्दान्य युद्धे चाप्यपलायनम् ।  
दानमीश्वरस्वभावश्च क्षानकर्म स्वभावजम् ॥” गी० १८/४३

(vi) ग्यारह वर्ष की आयु में बालक का शारीरिक विकास प्रारम्भ हो चुकता है। इस समय तक उस की क्षत्रियोचित प्रवृत्तियों का परिचय मिल जाता है। वह शारीरिक व्यायाम और शस्त्रविद्या आदि सीखने योग्य हो जाता है। ऐसे बालक की ब्रह्मविद्या के प्रति बुद्धि कुछ देर में विकसित होती है। अतः उस के लिए इस आयु का निर्धारण किया गया होगा।

(vii) वैश्य के लक्षण ये हैं—

“पशूना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।  
वसिष्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥” मनु० १/६०

(viii) इस शिक्षा के लिए अधिक प्रौढ़ और व्यवहारकुशल बुद्धि की आवश्यकता है। ऐसे बालकों को बुद्धि वेदादि की ओर भी कम प्रवृत्ति रखती है। अतः इन के लिए १२ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत का विधान किया गया है।

ब्राह्मण, राजन्य, वैश्यम्—जन्म से सब बालक समान होते हैं। उन की प्रवृत्तियों का विकास शनैः शनैः होता है। प्रत्येक बालक अपने माता-पिता के गुणों वाला नहीं होता। वैसे भी प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार होती थी। गुणादि सहज भी होते हैं और अभ्यासप्राप्त भी। अतः यज्ञोपवीत के समय बालक की प्रवृत्ति और कामना के आधार पर उस को श्रेणी नियत की जाती थी। इसी आधार पर हिन्दी अनुवाद किया गया है।

४. यथामङ्गलमिति—मंगलमनुसृत्येति यथामङ्गलम्। जैसा बालक के हित में हो। अभिप्राय यह है कि उपरोक्त उपनयन की आयु का विधान नितान्त नियमित नहीं है। उस में आवश्यकतानुसार उलट-फेर किया जा सकता है।

(ii) इस सूत्र में प्राचीनकाल के इतिहास का अयरोप मिलता है। उस समय सब बालकों की आठ वर्ष या उस से पूर्व ही शिक्षा प्रारम्भ हो जाती होगी क्योंकि प्राचीन भारत जैसे उन्नत देश में कुछ बालकों का ११ और १२ वर्ष तक गुरुकुल में पढ़ने न जाने देना बुद्धिगम्य नहीं। हो सकता है बालकों की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के उपरान्त उन को विशिष्ट विद्यालयों में भेजने के लिए आयु के ये स्तर निर्मित किए गए हों और कालान्तर में संस्कृति और वेदज्ञान के हास होने पर इन स्तरों को उपनयन से उम्बट्ट कर दिया गया हो। आज की परिस्थिति में आयु के ये स्तर उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

(ii) अ) कर्क आदि आचार्यों ने यहाँ पर मंगल का अर्थ दूसरे आचार्यों के शास्त्रों के विधान किया है, जिन में ब्राह्मणादि का उपनयन क्रमशः ५, ६, ६ और ६ वर्ष में बताया गया है। तु० क० मनु० २/२७



“ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं त्रिप्रस्य पचमे ।  
राज्ञो बलाधिनिः पष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोऽष्टमे ॥”

आपस्तम्ब के विकल्प भी विचारणीय हैं—“अथ काम्यानि । सप्तमे ब्रह्मवर्चसकाममष्टमे आयुष्काम नवमे तेजस्काम दशमे अन्नाद्यकाममेकादशे इन्द्रियकाम द्वादशे पशुकाममुपनयेत् ।”

(iii) श्री शुरुदेव के विचार में ‘यथामगलम्’ के दो व्याख्यान हैं—

१. आठ, ग्यारह और बारह वर्ष—इन में से जिस वर्ष को जिस आयु में सुविधा हो उसी आयु में । २. पारस्कर और अन्य आचार्यों के आयु-विधानों में से प्रत्येक वर्ष अपने अपने वर्ष की वैकल्पिक आयुओं में से छूटी हुई किसी एक आयु में । इस प्रकार ब्राह्मण ५वें या ८वें में, क्षत्रिय छठे और ग्यारहवें में और वैश्य ८वें और १२वें वर्ष में उपनयन करा सकते हैं ।

(iv) कुछ आचार्यों ने इस आयुमान के साथ ऋतु का भी विधान किया है—ब्राह्मण का वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का वर्षा (= शरद् ) में उपनयन किया जाए । अन्य आचार्यों ने इस का और भी विस्तार किया है और पक्ष, नक्षत्र, राशि आदि का भी विधान माना है । निषिद्ध कालों की कल्पना भी की गई है । देखो गदाधर का भाष्य ।

**शूद्रों के उपनयन के विधान के अभाव का कारण**

(v) यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शूद्रों का उपनयन क्यों नहीं बताया गया है । इस पर ये विचार उपलब्ध होते हैं—

१. पौराणिक सम्प्रदाय का विचार है कि शूद्रों की उत्पत्ति पैर से होने के कारण वे निकृष्ट हैं । अतः उन्हें पढ़ने का अधिकार नहीं है ।

२. आर्यसमाज और उस के प्रवर्तक श्रिये दयानन्द का विचार है कि जो व्यक्ति मूर्ख हो, पढ़ने में असमर्थ हो वह शूद्र होता है । ऐसे व्यक्ति के उपनयन का प्रश्न ही नहीं उठता ।

३. सं० चं० के लेखक मानते हैं कि स्मृतिकारों के मत में शूद्र का कर्म अन्य वर्गों की सेवा करना है। इस के लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। भाव यह है कि राष्ट्र के समस्त वालकों को ब्राह्मण आदि तीन श्रेणियों में विभक्त करने के पश्चात् जो शेष रहें वे शूद्र होंगे।

४. डा० अग्नेदकरका मत है कि पहले शूद्र वर्ग नहीं था। आधुनिक शूद्र पहले क्षत्रिय थे। ब्राह्मणों से संघर्ष में वे हारे और समाज में पद-दलित और उपनयन आदि से वञ्चित किए गए।

५. परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं मालूम पड़ती। जैसा कुछ विस्तार से इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है वैदिक काल में समाज के अनेक दृष्टियों से विभागे किए गए थे। उनमें एक विभाग शूद्र और आर्य था। वेद में इन दोनों का प्रयोग सर्वत्र इसी क्रम से आने और य० २६।२ के ब्राह्मणान्य के क्रम से तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि शूद्र आर्यों से श्रेष्ठ होते थे। वे उसी जाति के थे जिस के आर्य। आर्यों के तीन विभाग किए गए— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन में जो श्रेष्ठ व्यक्ति होते थे वे शूद्र कहलाए जाते रहे होंगे। कालान्तर में ब्राह्मण आदि के समान उन का भी एक पृथक् वर्ग बन कर चतुर्थ वर्ग के रूप में आर्यसमाज में परिगणित हुआ। साथ ही अथ कल्पना की विषय परिस्थितियों में वे अपने मध्यकालीन और आधुनिक रूप को प्राप्त हुए।

(vi) अतः प्राचीनतम काल में शूद्रों के पृथक् वर्ग न होने के कारण उन के लिए यज्ञोपवीत मंस्कार का विधान नहीं किया गया है। उन के पृथक् वर्ग बनने के समय से ही अथवा उस के शीघ्र बाद ही वे समाज में पददलित हो गये होंगे। अतः उस अवस्था में विजयी ब्राह्मण उन को उपनयन का अधिकार देने के लिए कैसे तैयार होते। जो शूद्र ब्राह्मणों के आचार के अनुकूल होते वे उन का उपनयन होता था। आपस्तम्ब के लेख—‘शूद्रा-

एषामदुष्कर्मणामुपनयनम्' का भी यही अभिप्राय है। होते होते सब शूद्रों को उपनयन से वञ्चित कर दिया गया।

### ब्रह्मभोज

५. ब्राह्मणानिति—पूर्वोक्त ब्राह्मण के लक्षणों से स्पष्ट है कि उन के पास आजीविका का कोई साधन नहीं था। समाज को उन के निर्वाह का प्रबन्ध करना आवश्यक था। अतः सब विशिष्ट अवसरों पर उन के लिए भोजन और दानादि की व्यवस्था की गई। इस से यह समझा जा सकता है कि वैश्य के कर्म और वृत्ति—वाणिज्य, कृषि, वेतनग्रहण आदि करने वाले ब्राह्मणों के लिए भोजन और दान वैदिक संस्कृति को अभिप्रेत नहीं है। हिंदी अनुवाद इसी दृष्टि से किया गया है।

(ii) श्री कर्कचार्य के मत में यदा 'भ्राद्र न खाने वाले ब्राह्मण' अभिप्रेत हैं। परन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र में भ्राद्र का विधान नहीं है। सम्प्रदायों ने परिशिष्ट रूप में भ्राद्र की विधि अन्य आचार्यों के अनुसार दी है। यदि उक्त में दिये गये भ्राद्र में मिलाने योग्य ब्राह्मणों के गुणों पर दृष्टि डालें तो कोई ऐसा ब्राह्मण शायद ही रहे जो भ्राद्रभोजी न हो सके। अतः गुण रहने पर भी जो भ्राद्र न खाए—यही भाव हो सकता है। जयराम इन भ्राद्र व्यतिरिक्त ब्राह्मणों के साथ ही उपनेतव्य बालक को भी भोजन कराना मानते हैं।

(iii) इन भोज्य ब्राह्मणों की संख्या तीन बताई गई है।

६. तञ्ज—गदाधराचार्य के विचार में 'च' के प्रयोग से 'भोजनकर्म' का भाव इस सूत्र में पहले सूत्र से आ जाता है।

### ब्रह्मचारी का वेप

६. पर्युप्त—परि + वप् + क्त। परि सर्वत उक्त मुण्डित शिरो यस्य स पर्युप्तशिराः, तम्। मुडा हुआ, बाल कटाना हुआ। प्राचीनकाल में सिर मुडवाना शौच और मागलिक कर्म सम्भवा जाता था। आज भी विशेष उत्सवों पर

लोग बाल छुटवाते हैं। अलंकृतम्—अरम्, √ कृ + क्त। आभूषणों से युक्त। कर्क - लक्ष्मण माला आदि से अलंकृत। रमणीयता के बिना मन किसी विषय में नहीं जमता है। अतः बालक के मन पर संस्कार का प्रभाव डालने के लिए उसे अलंकृत किया जाता था। परन्तु ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचारी धातुनिर्मित आभूषण नहीं पहन सकता था। वेशादि का संस्कार भी निषिद्ध था। अतः यहाँ पर अलंकरण स्नान और धीत वस्त्र धारण करने का श्रेष्ठ प्रतीक होता है। यही भाव—अथे० ११।७।२६ के—स स्नातो वभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते—में है। ऋषि दयानन्द ने संवि० पृ० ८० पर 'प्रातःकाल बालक का स्नान करा शुद्ध जल से स्नान करा के उत्तम वस्त्र पहिना.....' मिष्टान्न आदि का भोजन करा के' लिख कर वही भाव लिया है। पारस्कर ने भोजन का विधान नहीं किया है। परन्तु कर्काचार्य ने अपने भाष्य में 'शिरसश्च परिवर्षणं भोजनात् पूर्वमेव' कह कर दस० का समर्थन किया है। डा० राजवली पाण्डेय ने लिखा है कि सामान्यतः मूण्डन और उपनयन संस्कार साथ-साथ होते थे। यहाँ पर पर्युप्तशिरसम् में इस तथ्य का संकेत भी माना जा सकता है। आनयन्ति—आचार्य द्वारा पहले से नियत व्यक्ति अथवा, पितृकुल के व्यक्ति आचार्य के पास लाते हैं। आजकल भी विद्यालय में प्रवेश कराने के लिए और उपनयन के समय पिता आदि अभिभावक उपस्थित होते हैं।

ब्रह्मचारी को पश्चिम में बैठाने का रहस्य

७. पश्चादग्नेः—प्रत्येक शुभ कर्म और संस्कार के प्रारम्भ में प्रार्थना के आठ मन्त्र, स्वास्तिवाचन, शान्ति-प्रकरण का पाठ, आचमन, अंगस्पर्श, अग्न्याधान और समिधादान के साथ हवन या वज्र किया जाता था। इस सृष्टि का कार्य संवि० में पृ० २६ तक लिखी हवन की विधि के सदृश हवन समाप्त हो जाने पर प्रारम्भ होता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार पश्चिम दिशा का राजा वरुण है,<sup>१</sup> देवता सोम<sup>२</sup>। वरुण नियम और व्रत का प्रतीक है<sup>३</sup>। सोम<sup>४</sup> शान्ति मनः-

सयम और इन्द्रियतयम—शम, दम ) का द्योतक है । यह दिशा सर्ग<sup>१५</sup> ( = देवों<sup>६</sup> = विद्वाना<sup>७</sup> ) की है । इस दिशा में मानव वायु के समान पवित्र करने वाला हो कर गतिशील होता है<sup>८</sup> । ज्ञान विज्ञान का ज्ञाता सविता प्रतीची दिशा को जानता है<sup>९</sup> । स्वाराज्य की प्राप्ति के लिए परमैश्वर्यशाली और बलवान् राजा ( = इन्द्र ) का अभिषेक पश्चिम दिशा में किया जाता था<sup>१०</sup> । अथर्वनों ( = अहिंसक विद्वानों ) और आगिरभों ( = प्राण विद्याविशारदों ) की दिशा भी पश्चिम है<sup>११</sup> । इसी दिशा में मह ( = तेज ) स्थित है<sup>१२</sup> । इधर बैठ कर यज्ञ करने वाला तेजस्वी और यशस्वी होता है<sup>१३</sup> । इसी लिए ब्रह्मचारी को भी अग्नि के पश्चिम में बैठाने का विधान है ।

(iii) इस से यह ध्वनि भी निकलती है कि तेजस्वियों के पीछे रहने से तेज की वृद्धि होती है ।

ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्यव्रत = वेदाध्ययन के नियमों का पालन यथा वीर्यरक्षा, गुरुसेवा, वेदाध्यापन का ध्वण, मनन, निदिध्यासन और परिमर्शन आदि । तु० क०—ब्रह्म वेदस्तप्त्वरणम् ( गदाधरभाष्य ) ।

(ii) ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं । प्रकरणापयोगी अर्थ ये हैं<sup>१४</sup>— वाक्, सत्य, श्रुत, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, गायत्री, प्रणव ( = ॐ का उच्चारण ), श्चक्, मन्त्र, वेद, प्रजापति, बृहस्पति, चन्द्रमा, आदित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राण

---

१. जैठ० ३।२।१।२, अये० ३।२।७।३      २. तै० ३।१।१।५।२ ।  
 ३. वरुण सम्राट् सम्राट्पति । तै० २।५।७।३ । ४. वरुण और सोम के वैदिक वर्णन देख । वरुण—√वृ से और सोम √सु से है । ५. श० ३।१।१।७ । ६. तै० २।२।६।२। ७. श० ६।३।१।१।६। ८. तै० २।३।६।६, ऐ० १।७ । ९. श० ३।२।३।१।८ । १०. ऐ० ८।१।४ । ११. तै० ३।१।२।६।१ । १२. गो० १।५।१।५ । १३. तु० क० ऐ० ८।१।४ । १४. देखो वैको० में ब्रह्मपद ।

आदि । वाणी, मन, हृदय आदि पर वश, सत्य और श्रुत का पालन, गायत्री आदि का अध्ययन और मनन, प्रणव का सेवन, प्रजापति और बृहस्पति का ज्ञान और उस के गुणों को धारण करना, चन्द्र आदि के गुणों को धारण करते हुए उन का यथोचित उपयोग करना, अग्नि, यज्ञ और प्राण विद्याओं का अध्ययन और यज्ञमय बनना आदि ब्रह्मचर्यव्रत के अन्तर्गत आते हैं । ब्रह्मचर्य के तप से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और विशिष्ट कर्म सम्पन्न होते हैं—( अवे० ११।७।१८।१६ आदि ) । ब्रह्मचर्य की महिमा अवे० ११।७ में विस्तार से वर्णित की गई है । इस का सविस्तार अंग्रेजी व्याख्यान भूमानन्द सरस्वती रचित वैदिकी लोकव्यवस्था तथा कुछ मन्त्रों का संक्षिप्त भाव संदि० पृ० ६८, ६९ पर देखा जा सकता है । पं० सातव-लेकर का अर्थ भी सुन्दर है । वेदो० पृ० ३७०-३७२ में ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में संकलित ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य भी देखें ।

आगाम्—आ + √इ लुङ् उत्तम पु० एक व० । असानि—√अग् (हाना), लोट् उत्तम पु० एक व० । हो जाऊँ, बन जाऊँ । भाव यह है कि आचार्य बालक से कहे—‘ओ३म्, ब्रह्मचर्यमगामिति ब्रूहि ।’ इस के उत्तर पर बालक कहे—‘ओ३म् ब्रह्मचर्यमगामम् । अत्र आचार्य कहे—‘ओ३म् ब्रह्मचर्यसानिति ब्रूहि ।’ और बालक कहे—‘ओ३म् ब्रह्मचर्यसानि ।’ इस समय बालक यज्ञवेदी पर पश्चिम की ओर आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के बैठे ।

वस्त्रपरिधान का महत्त्व

८. वासः—वासस् से द्वितीया एक व० (नपुं०) । भाष्यकारों ने कौरे—विना धुले (= अहत) वस्त्रों का विधान माना है । तु० क० नित्यमनु-पहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात् । चरकसंहिता । जयराम ने ‘अहत’ का लक्षण यह दिया है—

“शुद्धीतं नयं श्वेतं सदृशं यज्ञ धारितम् ।

अहतं तद् विनानीयात् सर्वकर्मसु पावनम्” इति ॥

परिधापयति—परि+√धा+णिच्+लट् प्रथम पु० एक व० । सच० के मत में वस्त्र पहनाना बालक के मन में आचार्य के प्रति प्रीति उत्पन्न कर देता है<sup>१</sup> । वस्तुतः वस्त्र मानव के रूप हैं<sup>२</sup> । उन से वह मुशोभित होता है<sup>३</sup> । वे ओपधिस्वरूप हैं<sup>४</sup> । साथ ही वस्त्र मनुष्य के स्वरूप और स्वभाव आदि के चोतक होते हैं । अतः आचार्य विद्यार्थी को उस के पाठ्यक्रम के लिए नियत वस्त्रों को देता है । ये ही वस्त्र उसे अपने ब्रह्मचर्यकाल में पहनने हैं । ये वस्त्र ब्राह्मण के शाय के, क्षत्रिय के क्षौम के और वैश्य के अग्नि के होने चाहिए । इन का वर्णन आगे सूत्रकार स्वयं करेंगे (देखो सू० ७६) ।

९ इन्द्राय—इन्द्र पद√इन्द्र धातु से बनता है । समस्त वीरकर्म इन्द्र से सम्बन्धित हैं<sup>५</sup> । वह परमैश्वर्यशाली भी होता है<sup>६</sup> । कर्मकारण में प्रयुक्त मन्त्र का अर्थ उस क्रिया और प्रकरण के अनुसार करना आवश्यक है जिस में वह प्रयुक्त हो<sup>७</sup> । अतः हिन्दी अनुवाद प्रकरणानुसार है ।

(ii) पुराणों में इन्द्र नाम का देवताओं का राजा है । उस का गुरु बृहस्पति है । ऋषीकारों ने इसी अर्थ को अपनाया है । यह विधि वैदिक काल से चली आती है । यह कथा आर्याणिक और पौराणिक है, वास्तविक नहीं । अग्नि च—इस विधि का मूल अथे० ११।७।४—७ है । इन में ७वें मन्त्र में ब्रह्मचारीभान को 'इन्द्र' कहा है—'ब्रह्मचारी जनयन् ब्राह्मणो लोकं प्रजापतिं

१ सच० पृ० ४१२। २ श० १३।४।१।१५। ३ श० ३।१२।१६  
४. श० १।३।१।१४। ५ नि० ७।१० ६ तु० क० मघनापद । इस का वैदिक वर्णन भी देखें । ७ देखो वेभाष० ११।३—४। तथा कात्यायन श्रौत सूत्र २।३।१३ और उस पर कर्कभाष्य । ८ यत्रपि अथे० ११।६।२४ में पुराण को वेदादि के साथ उच्छिष्ट से उत्पन्न माना है, तथापि अथे० ११।१०।७—

येत आमीद्रुमि पूर्वा यामदातय इद्रिदु ।

यो वै सो विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥

के अनुसार वही पुराण वेद के सृष्टिनिपयक यत्नों का चोतक है ।

परमोष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वा अमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्द ॥  
अतः इन्द्र का भाष्यकारों का अर्थ गाननीय नहीं । इसी आधार पर उन का  
वृहस्पति-पद का अर्थ भी अमान्य है ।

(iii) ब्राह्मण ग्रन्थों में वृहस्पति को वाणी का स्वामी<sup>१</sup>, ब्रह्मपति<sup>२</sup>,  
ब्रह्मणस्पति<sup>३</sup> कहा गया है । ऋग्वेद<sup>४</sup> में आंगिरसों का ऋत (= वेद) का  
शंसक, दिवस्पुत्र, अमुर के वीर विप्र और यज्ञ का शता कदा गया है ।  
वृहस्पति आंगिरसों में है । अतः हिन्दी अनुवाद ।

पर्यध्वात्—परि + √धा + लङ् प्रथम पु० एक व० । पहनाते धे  
अर्थात् पहनाते आण हैं । जैसे भी वैदिक भाषा में भूतकाल की क्रियाएं सब  
कालों को व्यक्त करती हैं । अमृतम्—न मृतम् (√म्रि + क्त) अमर, मरख-  
रहित, अपरिवर्तित, अतः नियत, निश्चित, निर्धारित । ब्राह्मणग्रन्थों में प्रात  
इस पद के कतिपय अर्थ इस प्रकार हैं—मृत्यु का वारक,<sup>५</sup> सर्व आयु<sup>६</sup>, प्राण<sup>७</sup>,  
आयः<sup>८</sup>, हिरण्य<sup>९</sup>, आदित्य<sup>१०</sup>, अग्नि<sup>११</sup> और प्रजापति<sup>१२</sup> । इन अर्थों की दृष्टि  
में ही हिन्दी अनुवाद किया गया है । संच०—दृढ, मन्थ । भाष्यकार अदत्,  
कोरा । त्वा—त्वाम् । आयुषे, आयुत्वाय—आयुपद पकारान्त भी और  
उकारान्त भी । दोनों पद समानार्थक हैं, परन्तु यहां दोनों का एक साथ  
प्रयोग बताता है कि दोनों से पृथक्-पृथक् भाव अभीष्ट हैं । अथवा आयुप्—  
आयु के अभीष्ट भाव को महत्त्व प्रदान करने के लिए भी यह पुनरुक्ति मानी  
जा सकती है ।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में आयु के अर्थ चरुण, अग्नि, संवत्सर, यज्ञ, अन्न,  
प्राण आदि दिए हैं<sup>१३</sup> । चरुण नियमों और ब्रतों का श्रोतक है<sup>१४</sup>, अग्नि

१. श० १४।४।१२२। २. तै० २।५।७।४। ३. तै० ३।१।१।४।२  
४. ऋ० १०।६।७।२ ५. श० १०।२।६।६। ६. श० ६।५।१।१० ७. गो०  
२।१।१३ ८. तै० १।७।६।३ ९. तै० १।७।६।३ १०. श० १०।२।६।६  
११. श० १०।२।६।१७ १२. श० ६।३।१।१७ । १३. देखो वैको० में आयु-  
पद । १४. ऋ० १।२।५।१०।



अमरीच, दाहकत्व आदि का, सयत्नर काल का, ब्रह्म विद्याग्रहण, तदक्षरण आदि शुभं कर्मों का, अन्न और प्राण शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति आदि के। अतः यही ये सभी मात्र अभिप्रेत हैं। आयुस्वाय—आयोर्भावः आयुत्वम्, तस्मै। बलाय—शारीरिक शक्ति। वर्चसे—ब्रह्मतेज। जयराम इन्द्रियशक्ति, ऐश्वर्य।

येनेन्द्राय मन्त्र का अर्थ

(iii) समस्त मन्त्र का स० च० का अर्थ इस प्रकार है— हे बालक (येन) जिस विधि से (बृहसति.) गुरु आचार्य ने (इन्द्राय) अपने शिष्य के लिए (अमृत वास) जो जला, फटा, कम चलने वाला न हो ऐसे बन्ध को (पर्यदधात्) धारण कराया है (तेन) उस विधि से ही (त्वा) तुम्हें (परिदधामि) मैं सुन्दर बन्ध पहनाता हूँ (आयुषे) स्वास्थ्य के लिए और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिए (बलाय) देह में शक्ति आने के लिए (वर्चसे) इन्द्रियों के तेज के लिए वा ऐश्वर्य के लिए।

(iv) श्री शुकदेव लिखते हैं कि बन्ध पहन कर ब्रह्मचारी दो आचमन करे। पारस्कर का ऐसा विधान नहीं है।

१०. मेखलाम्—तगड़ी। जिस प्रकार आजकल धोती को धारण करने के लिए तगड़ी और पतलून आदि के धारण के लिए पेट्टी पहनी जाती है, उसी प्रकार प्राचीन समय में मृगचर्म और वल्कलों को धारण करने के लिए मेखला पहनी जाती थी। ब्राह्मण आदि के लिए भिन्न-भिन्न मेखलाएँ बताई गई हैं। इन का वर्णन आगे आयेगा। मेखला—भीयते प्रक्षिप्यते कायमप्यभागे। √मी + खल्। मधीते—√बन्ध् + लट् आत्मनेपद, प्रथम पु०। धातुपाठ में यह धातु परस्मैपदी है। यहाँ मेखला ब्रह्मचारी को बाधी जानी है। यदि, जैसा भाष्यकारों ने माना है, यह मेखलाबन्धन

१. इन पदों की व्युत्पत्ति और ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थों के आधार पर व्याख्या।

आचार्य द्वारा किया गया माना जाये तो दो समस्याएं उपस्थित होती हैं—बन्धीते का फल कर्तृगामी नहीं है, प्रत्युत बालकगामी है। अतः यहां परस्मैपद होना चाहिये था<sup>१</sup>। दूसरे 'दुरुक्तम्' मन्त्र में 'गे' के स्थान पर 'ते' आना चाहिए था। भाष्यकार गदाधर लिखते हैं कि मेखलाबन्धन आचार्य करते हैं, मन्त्रपाठ यद्यपि पदप्रयोगों से ब्रह्मचारी द्वारा प्रतीत होता है तथापि पदार्थ (=क्रिया) प्रधान है, और मन्त्रपाठ गौण—प्रधानभूतश्च पदार्थः, गुणभूतश्च मन्त्रः। उन्होंने ने यह कारिका भी दी है—

“बन्धीयात् त्रिगुणां श्लक्ष्णामियं दुरुक्तमुचरन् ।

आचार्यस्यैव मन्त्रोऽयं न बटोरात्मनेपदात् ॥”

परन्तु 'बन्धीते' के आत्मनेपद से भाष्यकारों के निष्कर्ष के ठीक विपरीत भाव निकलना चाहिए—मेखलाबन्धन ब्रह्मचारी करता है, प्रेरणा आचार्य देता है। ऐसी अवस्था में मन्त्र को क्रिया से गौण मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। सूत्रकारों को क्रिया और उस में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ में एकता नितान्त वाञ्छनीय है। देखो वेमाप० ११।३—४।

११. वर्णम्—उ० ३।१० में इसे √वृ से नित् न प्रत्यय लगा कर बनाया है। दस० की टीका में इस का अर्थ 'वश' भी दिया है। यही अर्थ यहां ग्रहण किया है। सं० चं० ने 'वर्णभाव' अर्थ ग्रहण किया है। इस का आशय है—जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गुणों की प्राप्ति की कामना से मैं दीक्षित हुआ हूँ। मेखला उस गुणग्रहणकामना को पवित्र करती है। विश्वनाथआचार्य ने इस का भाव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण अर्थ किया है। मेखला इन तीनों वर्णों को पवित्र करती है। क्योंकि तीनों वर्ण व्रतधारण में मेखलाधारण करते हैं। परन्तु यह अर्थ मन्त्रकार को अभीष्ट रदा प्रतीत

१. देखो पा० १।३।७२, ७८; सिकी० २१५८—६। पाणिनीय धातुपाठ में यह धातु परस्मैपद है।

महो होता क्यों कि उस की दृष्टि में प्रजाओं के वेद में वर्णित एक—मिश्र, दो देवी—मानुष, या, आर्य—दस्यु या, शूद्र—आर्य आदि विभाग भी थे। उन विभागों की दृष्टि में वे ब्राह्मणादि तक ही अर्थ को सीमित न कर सके होंगे। प्राणायामाभ्या बलमादधाना—शरीर में यद्यपि दस वायुओं की स्थिति मानी गई है, तो भी प्राण = श्वाम से अन्दर जाने वाली और अपान शरीर से बाहर निकलने वाली वायुए ही प्रमुख हैं। इन के ज्ञान में सम्पूर्ण प्राणविज्ञा निहित है। ब्राह्मणग्रन्थों में इन्हें अश्विनी<sup>१</sup>, अग्न्यूर्<sup>२</sup>, चावापृथिवी<sup>३</sup> आदि कहा गया है। इन दोनों के वलिष्ठ होने पर शरीर भी बलिष्ठ हो जाता है और उस के साथ बुद्धि भी। प्राण और अपान को बश में करने के हेतु ही प्राणायाम किया जाता है। आदधाना—अ + √धा + शानच्, छी० प्र० एक व० स्वसा—विश्वनाथ—वहन। जयराम स्वसुवत् हितकारी। सर्व० ने दस पद में लुप्तोपमा मानकर 'वहन के तुल्य' अर्थ किया है। उ० २।६६ में इस की व्युत्पत्ति—सुष्टु अस्यति दी गई है। अर्थात्—जो शैथिल्य, आलस्य आदि को अच्छी प्रकार दूर करती है वह 'स्वसा' है। निघ० २।५।१३ में इसे अगुलि का पर्याय माना है। अगुलि कर्म करती हैं, वे गतिशील हैं। इसी प्रकार के पद स्वसराणि का निघ० १।६।५ में अहर्नाम, २।४।१० में गृहनाम और ४।१।२२ में पदनाम बताया गया है। पदनामों में सकलित पद गति, प्राप्ति और ज्ञान अथा के अन्तर्गत हैं। देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ऑफ यास्क। अतः वैदिक ऋषियों को 'स्वसा' का गति अर्थ अभीष्ट है। देवी—जवगम—दीप्तिदात्री (= प्रकाश देने वाली)। विश्वनाथ—दानादि गुणयुक्त। सुभगा—जयराम—सौभाग्य देने वाली। ऐश्वर्य प्रदान करने वाली रुद्राण्यकारिणी। भाग्य पूर्वजन्म के कर्मों का फल मात्र है। अतः अनुवाद में कर्मफल देने वाला अर्थ किया गया है। मखला जड़ वस्तु है, उस में फल देने की शक्ति नहीं।

१. श० १।२।६।१।१४, २ गो० १।२।१० ३ श० ४।१।१।२२।

यहा पर प्राण के साथ उदान का पाठ है।

परन्तु यह कर्म की और प्रवृत्तिविशेष की सूचक है जो पूर्वजन्म के संस्कारों से प्रभावित हैं। अतः ऐसा वर्णन किया गया है।

१२. युवा सुवासाः—शृ० ३।८।४। दस० ने अपने भाष्य में तथा सत्यार्थ प्रकाश पृ० ५३ में इसे समावर्तित युवक के पक्ष में लगाया है। हरदत्त ने ब्रह्मचारी के पक्ष में ही लिया है। वस्तुतः यह मन्त्र अनेक प्रकरणों में संगत हो सकता है और तदनुसार व्याख्यान में भेद किया जा सकता है। मूल पदों के अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। इति वा—यह मन्त्र पारस्कर के मत में मौखीवन्धन में वैकल्पिक है। युवा—इस का सामान्य अर्थ 'बोधनावस्था को प्राप्त, जवान' होता है। हरदत्त ने इस को व्युत्पत्ति—√यु मिश्रणे। मिश्रणमनुष्ठानम्। अनुष्ठानात्। केराम्। सामर्थ्याद् ब्रह्मचारिधर्माणां समिदाधानभिक्षाचर्यादीनाम्। की है। अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत के कर्मों को करने वाला। जयराम के मत में गुणों को इकट्ठा करने वाला (यीतीति युवा)। अतः नया ब्रह्मचारी जो व्रत का पालन, गुणों और विद्या का ग्रहण करता है। संच० इह शरीर वाला। सुवासाः—सु शोभनानि वासांसि यस्य सः। जयराम के मत में 'अहत्=कोरा' बख ही शोभन होता है। हरदत्त के मत में शुद्ध-साफ बख। परिधीतः—परि + धि + √इ + क्त। चारों ओर से विशेष रूप से बिरा हुआ, व्याप्त। हरदत्त—कृष्णाग्नि आदि से परिवेष्टित। जयराम—माला और आभूषण आदि से सजा हुआ। परन्तु अभी उस ने मेखला और कृष्णाग्नि धारण नहीं की हैं। उस की वेराभूषा पूरी नहीं हुई है। अतः यहाँ पर 'विद्याप्राप्ति की भावना से भरा हुआ' अर्थ ही प्रकरणोचित प्रतीत होता है। आगात्—आ + √इ लुङ् प्रथम पु० एक व०। जयराम—मेखला धारण करने के लिए आचार्य के पास आया है। हरदत्त—ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ है। श्रेयान्—हरदत्त विद्या से श्रेष्ठ। जयराम—शुद्ध। संच०—लोगों का कल्याण करने वाला। कटोप० १।२।२ में श्रेयः और प्रेयः को पृथक्-पृथक् माना है। धीर पुरुष श्रेयः को कामना करते हैं। अभी ब्रह्मचारी न विद्या से श्रेष्ठ हो पाया है न कल्याणकर्त्ता। यद्यपि ये

भविष्य के प्रति रामना मानी जा सकती हैं तथापि ऋषोप० की परिभाषा में 'भ्ये के ज्ञान का अधिकारी' अर्थ प्रकरणोचित प्रतीत होता है। जायमानः—  
 √जन् + शानच् । दस०—प्रसिद्ध हो कर। हरदत्त—ब्रह्मचारी के रूप में उतरान् हुआ, क्यों कि स्मृति का वचन है—'तेषां मातृश्लेऽधिजनन द्वितीयं मौञ्जीबन्धनम्।' अथर्ववेद के मत में उपनयन करते हुए आचार्य ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। उपनयन प्रारम्भ होते ही यह गर्भ या जन्म प्रारम्भ हो जाता है। इसी को वेदमन्त्र ने शानच् प्रत्यय से व्यक्त है।—

“आचार्यं उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कुरुते गर्भमन्तः ।

तं रात्रीस्त्रिस्र उदरे विभर्तित जात द्रष्टुमभिस्रयन्ति देवाः ॥” अथे० ११।७।३  
 इसी से उपनीत व्यक्ति को द्विज या द्विजन्मा कहते हैं। पूर्वो मन्त्र में ब्रह्मचारी को तप से भी उठता हुआ कहा है—

“पूर्वो जातो ब्रह्मणो धर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ॥”

ये दोनों ही भाग प्रकरणा में अभिप्रेत हैं। अतः हिन्दी अनुवाद में ग्रहण किए गए हैं। धीरासः—वेद में पुल्लिङ्ग प्रथमा बहुवचन में देवा और देवास्र. दो रूप होने हैं। धी + र (भतुप् के अर्थ में)। प्रज्ञावान्, बुद्धिमान्। जयराम—स्थिरप्रजाः (स्थिरप्रज्ञाः ?)। विधनाथ—पण्डिता। संचं०—बुद्धिपूर्वक कार्यकर्ता। कालिदास—विकारहेतु सति विक्रियन्ते येषां न चेतासि त एव धीराः। श्रु० ४।३।३२ में धीर का लक्षण विद्याप्रहरण, बुद्धि आदि के लिए पुष्टि धारण करने वाला क्रिया है—धीरास्र. पुष्टिमवहन्मनायै (दस०—मन्तव्यायै विद्यायै—√मन् विचारना से)। श्रु० ४।३।७ में कवि और विपश्चिनों को धीर कहा है—'धीरासो हि षा कथयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि'। अतः धीरो को वेदज्ञान की गरिमा से ही पहचाना जाता है। कबय.—ज्ञोति शब्दयत्पुपदिशति स कवि। मेधावी विद्वान्। क्रान्त-दर्शनो वा। (उ० ४।१३६ में दस० का भाष्य)। √कु + इ। तत्त्वदर्शी

विद्वान् । वेदभाष्य में दस०—अनुचानाः विद्वांसः । ब्राह्मण ग्रन्थों में कवि को वेदोपदेशक, ऋषि, बहुश्रुत विद्वान् और आदित्य (ब्रह्मचारी) कहा है । ऋ० १।१६।१६ में कवियों को जानने वाला, विशिष्ट ज्ञानवान् (= चिकित्सुः) कहा है । ऋ० ६।३६।१ में कवि के गुण मन्द्र, दिव्य वह्नि (= धारक), विप्रमन्म और मधुवचन दिए गए हैं—“मन्द्रस्य कर्षेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्वः ॥” स्वाध्यः—दस० (वेदभाष्य)—अच्छी प्रकार विद्या का आधान करने वाले (सु+आ+√धा से) । सप्र०—अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (सु+आ+√ध्यै से) । जयराम—शोभन चित्त की वृत्ति वाले । हरदत्त—कल्याणचित्त । ऋ० १।७२।८ में ऋत के ज्ञाताओं को स्वाध्यः कहा है । ऋ० १।१५।११ में वाणियों में परा विद्या के जानने के इच्छुक और अध्यापन यज्ञ में कर्मों द्वारा ब्रह्मचारी के मन या प्राणों में ज्ञान उत्पन्न करने वाले 'स्वाध्यः' कहे गये हैं—“मित्रं न शिष्या गोपु गव्यवः स्वाध्यो विद्ये अप्नु जीजनन् ।” अतः हिन्दी अनुवाद । मनसा—दस०—विज्ञान या अन्तःकरण से । जयराम—मनोवृत्ति से । विश्वनाथ—मनोव्यापारों से । देवयन्तः—देवं ब्रह्मचारिणः इच्छन्त इति । देव से नामधातु । लौकिक संस्कृत में नामधातु आत्मेच्छा में प्रयुक्त होते हैं । वेद में परेच्छा में भी प्रयोग पाया जाता है । वृ० क०—अन्दति परेच्छायामिति वक्तव्यम् । पा० ३।१।८ पर वार्तिक । जयराम—वेदार्थ ज्ञापन करते हुए । दस० सप्र०—विद्यावृद्धि की कामना युक्त । वेभा०—कामना करते हुए । हरदत्त—देवताओं के लिए यज्ञ करने के इच्छुक अर्थात् श्रौत और स्मार्त कर्मों में लगे हुए मन वाले । संच०—देवभाव की कामना करने वाले विद्वान् ।

युवा सुधासाः का चिनियोग

(ii) दस० ने संधि० में इस मन्त्र के उच्चारण के साथ ब्रह्मचारी को आचार्य द्वारा दो कौपीन, दो श्रंगोष्ठे, एक उत्तरीय और एक कटिवस्त्र दिये जाने का विधान माना है । परन्तु पारस्कर का मत ऐसा नहीं है । वे इस मन्त्र को केवल मेघलावन्धन में विकल्प रूप से उपस्थित करते हैं ।

(iii) श्री शुकदेव लिखते हैं कि इन दोनों मन्त्रों को ब्रह्मचारी पढ़े । यह ठीक नहीं । अर्ध के अनुसार इय दुरुक्त आदि को बालक और युवा युवातः को आचार्य पढ़े ।

१३. तूष्णीं वा—उपरोक्त दोनों मन्त्रों में से किसी एक का उच्चारण किया जा सकता है । अथवा मेखलावन्धन विना किसी मन्त्र का उच्चारण किए ही किया जा सकता है ।

१४. अत्रेति—यह सूत्र गुजराती प्रेस और प० शुकदेव के सस्करणों में नहीं है । इस के आगे के 'यज्ञोपवीतम्' आदि मन्त्र से 'दधेऽहमिति (१५-१७) तक कोष्ठकों में उपलब्ध होता है । जयराम लिखते हैं कि पारस्कर ने इन दोनों कर्मों—यज्ञोपवीत धारण और अग्निप्रदान का विधान न किया है । अतः परम्परा से प्रचलित होने से आचार के अविरोध के कारण इन दोनों कर्मों को अन्य शास्त्रों के मन्त्रों से सम्बन्ध करते हैं । तु० क०—

“यज्ञाद्भात स्वशाखाया परोक्तमविरोधि च ।

विद्वद्भिस्तदनुष्ठेय अग्निहोत्रादि कर्मवत् ॥” काराय० श्लोक ३०

यज्ञोपवीतम्—जयराम—यज्ञेन प्रजापतिना यज्ञाय वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीत रचितम् । यज्ञ या वैदिक कर्मों के लिए निमित्त । (√यज् + नङ् । उप + वि + √इ + क्त) । अतः यज्ञ के लिए दीक्षा का द्योतक चिह्न । वैदिक सस्कृत में यज्ञ का महत्त्व बड़ा भारी है । यह मानवजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है । इसी लिए ऋग्वेद के यजुस्त में कहा है—‘यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुर्भस्मन् । (ऋ० १।१३०।१) यह ही स्वर्ग है और मानव द्वारा सम्बन्ध होता है । (मन्त्र २) । ब्राह्मणग्रन्थों में इस क अनेकविधि अर्थ और व्याख्यान किए गए हैं । यथा—प्राण, अधर (—हिंसा रहित), नम, भगः, ऋत की योनि, महिमा, महान् देव, बृहन् विपश्चित् । अर्यमा, वसु, स्व, सुख, श्रेष्ठतम कर्म, विद्, ब्रह्म, त्रयी विद्या, प्रजापति, इन्द्र, विष्णु, देवों की आत्मा, अन्न, देवरथ, अग्नि, वाक्, वायु, सवस्वर, सतिता, यजमान,

आत्मा, पुरुष, पशु, भुवन की नाभि, अनसु, आपसु, रेतः, विराट्, आहुति आदि । दस० ने अपने भाष्यों में इसी प्रकार के बहुविध अर्थ इस पद के लिए हैं । संक्षेप में जिस उच्चम कर्म में देवपूजा (—विद्वानों की सेवा, सत्कार, उन से ज्ञानप्राप्ति आदि), संगतिकरण (—दो पदार्थों, भावों, स्थितियों आदि का सम्मिश्रण) और दान के भाव पाए जाएं वही यज्ञ है । इस दृष्टि से अध्ययन, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन आदि यज्ञकर्म होते हैं । ये ही यज्ञ अभिप्रेत हैं । अग्नि में आहुति डालना रूप यज्ञ उपरोक्त प्रकार के यज्ञों का क्रियात्मक ध्यान दिलाने वाली प्रतीक है जो सदैव मानव को परोपकार के लिए अपने जीवन को आहुत करने का संदेश देती है । यशुर्वेद का अध्याय १८ भी देखें । ऐसे यज्ञ में दीक्षित हुए बिना राष्ट्र का समुचित वहन संभव नहीं । अतः प्रत्येक बालक को उस में उपनीत किया जाता था । इस युग में दस० और आर्यसमाज ने पुनः इस प्रणाली को प्रवृत्त किया है ।

१५. परमम्—पर आत्मा मीयते शप्यते तेन वाक्योपदेशाधिकारित्वात् (जयरामः)—जिस से परम आत्मा का परिचय मिलता है । माच यद् है कि यज्ञापवीत धारण करने पर बालक ब्रह्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी हो जाता है । विधनाथ—असाधारण, अत्यधिक । पत्त्रिणम्—शोधक, पावन । क्यों कि यद् मनुष्य की सत्कर्मों में प्रेरित करता है । अथवा, पवित्र कर्मों का प्रतीक होने से गौणवृत्ति से इस का पावनत्व है । प्रजापतेः—जयराम—ब्रह्मणः । ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति को यज्ञ में कहा है । प्रकरण में यही अर्थ सच से अधिक समीचीन जान पड़ता है । सहजम्—सह जायते, तम् । जयराम—स्वभावशुद्ध । इस अर्थ में प्रजापति में लुप्तोपमा मानने पर अर्थ में विशेष सौंदर्य आ जाता है । प्रजापति का अर्थ 'यज्ञ' करने पर 'सहज' का स्वाभाविक अर्थ 'साध उत्पन्न' किया जा सकेगा । पुरस्तात्—जयराम—पहले से ही उत्पन्न । विश्वनाथ—ब्रह्मा की उत्पत्ति के समय से उत्पन्न । आयुष्यम्—आयुषं हितम् आयुष्यम् । आयुः । अग्र्यम्—अग्रे भवम् । प्रमुख । प्रतिमुख—प्रति + √मुच्, लेना, पढ़ना । उत्तम पुरुष के स्थान



पर मध्यम पु० का प्रयोग हुआ है। शुभ्रम्—निर्मल करने वाला। बल—धर्मसामर्थ्यप्रद।

यज्ञोपवीतं परमं मन्त्र का अर्थ

(ii) इस मन्त्र का सत्कारचद्रिका का अर्थ कुछ भिन्न है, परन्तु मिलता जुलता है। यह इस प्रकार है—

“हे बालरु (यज्ञोपवीतम्) “यज्ञाय यज्ञकर्मणे—वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपरीतम्—उपरिवीतम्—परिहितम्” वेदोक्त कर्म में अधिकारी बनने के लिये जो कर्त्तव्य के ऊपर रक्त्वा जाय इस “ब्रह्मवृत्र” को और जो (परमम्) परः आत्मा, मीयते—जायते अनेन, परमात्मा के ज्ञानप्राप्ति का सूत्रक है (पवित्रम्) शुद्धि के ज्ञान की सूचना करने वाला (यत्, प्रजापते, सहजम्) जो ईश्वर से स्वभावसिद्ध उपदिष्ट है। (पुरस्तात्) पूर्व काल से चला आता है (आयुष्यम्) आयु के लिए हितकारी (अमृतम्) मुख्य है, ऐसे इस “ब्रह्म सूत्र” को मैं आज (प्रतिमुञ्च) बाधता हूँ (पुरुषव्यत्ययसङ्खान्दस) (शुभ्र यज्ञोपवीतम्) यह निर्मलता का बोधक यज्ञोपवीत (बलम्) बल देने वाला और (तेजः) तेज देने वाला ईश्वर करे कि (अस्तु) होवे। हे ब्रह्मवृत्र (यज्ञोपवीतम्, असि) तू यज्ञोपवीत है (त्वा) तुम्हें (यज्ञस्य) यज्ञकार्य के लिए ही (ग्रहण करता हूँ) और मैं स्वयं आज (यज्ञोपवीतेन) यज्ञोपवीत से (उपनह्यामि) बाधता हूँ।” पृ० ३६५।

श्री शुक्रदेव ने यहाँ भी दो आचमनों का विधान किया है।

१६. अथाजिनम्—जैसा ऊपर लिखा जा चुका है यह विधि धारस्कर द्वारा प्रोक्त नहीं है। अजिनम्—अजति गच्छति क्षिपति वा तत्। उ० २।४८ दस० की टीका। ‘चीता, शेर और हाथी आदि का और विशेष कर काले हिरन का रोंए दार चमड़ा।’ (संशकौको)।

(ii) अजिनदान के समय पड़े जाने के लिए तुरन्त आगे दिये मन्त्र के उत्तरार्द्ध—‘वसनम्.....अजिन दधेद्दम्’ से स्पष्ट है कि यह अजिन वस्त्र

रूप में प्रयोग करने के लिए दी जा रही है, पारस्कर वासःपरिधान पहले ही सूत्र ८-६ में करा चुके हैं। अतः यह अजिनदान पूर्वोक्त प्रयोजन से व्यर्थ है। विश्वनाथ के मत में यह अजिन ब्रह्मोपवीत के पश्चात् (अर्थात्—ऊपर) धारण की जाती है।

१७. मित्रस्येति—मिते. दुःखात् त्रायते असाँ मित्रः। वेद में देवतावाचक मित्रपद पुल्लिङ्ग है। उ० ४।१६४ में इसकी व्युत्पत्ति 'मिनोति मान्यं करोति' दी गई है। मुहूर्त्-वाचक मित्रपद नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इसके अर्थ—'सब का मित्र, सत्य का जनयिता और स्वामी, ब्रह्म, क्षत्रपति, अग्नि, प्राण, लोकरक्षक, धातु, संगव, दिन, जलहीन श्रोत्रधियां, अपने आप गिरी वृक्षों की शाखाएँ, पयः, श्रधमास, (=कृष्ण और शुक्ल पक्ष) आदि दिए हैं<sup>१</sup>।

(ii) यजुर्वेद २४।३६ में षण्णी का सम्यन्ध सर्पों से बताया है। सर्प के अर्थ देव<sup>२</sup> और लोक<sup>३</sup> हैं। मित्र लोकों का रक्षक है। दूसरी ओर य० ३४।८ में षणी को मित्रसम्यन्धी बताया है। अतः अजिन का मित्र की चक्षु के समान वर्णित किया गया है। चक्षुः—इसका लुप्तोपमा भी लिया जा सकता है और अजिन का समानाधिकरण विशेषण भी। धरुणम्—'धारयतीति धरुणम्'। √ धृ + उन्। धारण करने वाला। चक्षु शरीर की गर्मी-सर्दी से रक्षा करने के कारण 'धरुण' कहलाता है। तेजः—तेजस्वि के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथवा इसे अतिशयोक्ति मान कर 'वसनम्' का विशेषण भी माना जा सकता है। स्थविरम्—तिष्ठतीति स्थविरम्। √ स्था + किरिच्। ठहरने वाला, दृढ़, पक्का। समिद्धम्—सम् + √ इन् + क्त। प्रदीप्त। अनाहनस्यम्—आ + √ हन् = आहनम्, तन् आत्मन इच्छतीति आहनस्यम्। न आहनस्यम् अनाहनस्यम्। श्री म० मो० विलियम्स ने इसके अर्थ पवित्र, शुद्ध, शिष्ट दिए हैं। अजिन ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के ब्रत

का स्मरण दिलाने के कारण पवित्र मानी गई है। जरिष्णु— $\sqrt{\text{जृ}} + \text{इष्णुच्}$ । जीर्ण होने के स्वभाव वाला। अर्थात् चिरकाल स्थायी। परि दधे—वैदिक भाषा में प्रधान वाक्यों में उपसर्ग और क्रिया का प्रयोग स्वतन्त्र पदों के रूप में होता है। अतः यहाँ दोनों एक दूसरे से पृथक् भी हैं और बीच में दो पद भी आए हुए हैं। वाजि— $\sqrt{\text{वज}} (\text{जाना}) + \text{घन्} = \text{वाज}$ । वाज + इनि = वाजिन्। नपु० द्वितीया एक व०। वाज के अर्थ<sup>१</sup> अश्व, वीर्य, ओषधिया, पशु, स्वर्ग लोक, ज्ञान, प्राप्ति आदि होते हैं। अतः वाजि—ज्ञान और शक्ति सम्पन्न। उस से ज्ञान और शक्ति की प्रतीक।

१८. दण्डं प्रयच्छति—दण्डदान का विधान पारस्कर ने अन्य आवाओं के समान किया है। दण्ड— $\text{द} \sqrt{\text{दम्}} + \text{ड} - \text{दाम्यन्त्युप-शाम्यन्त्यनेन स दण्डः}$ । उ० १।११४। शान्त करने वाला। इसे  $\sqrt{\text{दण्ड}} + \text{घञ्}$  से भी बनाया जा सकता है। यह न्याय और अनुशासन का प्रतीक है। महाभारत में दण्डनीति का युधिष्ठिर और अर्जुन के संवाद के रूप में एक सुन्दर व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। धर्म, तप, व्रत, आदि सब का रक्षा दण्ड से हाती है। सामान्य दृष्टि से भी आरण्य जीवन में ब्रह्मचारी को रक्षा के लिए हर समय अपने पास डण्डा रखना आवश्यक था।

(ii) दण्ड देते समय आचार्य कुछ नहीं बोलता है।

(iii) दण्ड की लकड़ी और मान के विषय में आगे सू० ८६—९० में पारस्कराचार्य ने स्वयं विवरण प्रस्तुत किया है।

२०. वैहायसः—प्रिषेपण ह्यति गच्छति, हाययति गमयतीति वा इति विहायसः। (देखो अकोमु० १।२।२, और २।५।३२) तस्य अयमिति वैहायस। वि +  $\sqrt{\text{ह्य}} + \text{अमुन्}$ । उस से अण् प्रत्यय। विशेष रूप से गति शील। डण्डा स्वयं तो गतिशील नहीं है, परन्तु प्रयोक्ता द्वारा गतिमान् कर दिया जाता है। इस में दण्ड के सब पर प्रभुत्वशाली होने का भाव लक्षित

१ देखो वैको० में वाजपद।

हो रहा है। अग्नि—सप्तमी और प्राधान्य का चोतक है। प्रकरण में यह पद दण्ड की तय पदार्थों में श्रेयता और शक्तिमत्ता का चोतक है। भूम्याम्—भवति इति भूमिः। अक्रांमु० २।१।२। होने वाले, विद्यमान, सत्ताधारी पदार्थ, स्थिति, भाव आदि। पुनः—भाष्यकार जयराम लिखते हैं—‘पुनर्ग्रहणात् सोमदीक्षायां यो दण्डो ग्राह्यः तन्वादादे इत्यर्थमनम्’ अर्थात्—जो दण्ड सोमदीक्षा में ग्रहण किया जाता है उस को भी ग्रहण करता हूँ यह भावना ‘पुनः’ शब्द के प्रयोग से प्राप्त होती है। परन्तु अगले सूत्र ‘दीक्षावदेके०’ से यह मुख्यतः है कि पारस्कराचार्य वहाँ पर ग्रहण किये जाने वाले दण्ड के सोमदीक्षा के दण्ड से सम्बन्ध को प्रशस्त नहीं मानते हैं। अतः वहाँ पर ‘धेनेन्द्राय बृहस्पतिः’ आदि मन्त्र के समान पूर्व काल के ब्रह्मचारियों की परिभाषा की और संकेत मानना उचित प्रतीत होता है। ब्रह्मवर्चसाय—जयराम ने इन का अर्थ ‘वाजनाध्यापनोत्कर्षतेजसे’ किया है।

२१. दीक्षावदिति—कुछ आचार्यों का विचार है कि जिस प्रकार सोमयाग में दीक्षा लेने वाला दण्ड को चुपचाप ग्रहण कर के कात्यायनश्रौत-सूत्रपाठित—“उच्छ्रयस्व वनस्पते ऊर्वा मा पार्श्वस्य आस्य यज्ञस्योद् ग्राचः” (२० ४।१०; का० य० ४।१३) इस मन्त्र को पढ़ कर ऊपर उठाता है, उसी प्रकार वहाँ भी चुपचाप, बिना ‘यो मे दण्डः’ आदि मन्त्र को पढ़े दण्ड ग्रहण करे और ‘उच्छ्रयस्व वनस्पते’ आदि मन्त्र से ऊँचा उठाए।

(ii) इन आचार्यों की युक्ति यह है कि श्रुति का कहना है कि ‘दीर्घसत्रं

---

१. शुक्रदेव वर्मा की टीका में ओ३म् मुगस्याः कृषीस्थिति । य० अ० ४ म० १० । इस मन्त्र की पढ़ता हुआ रेखा कर ‘ओ३म् उच्छ्रयस्व वनस्पतः’  
 “ इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा पर दण्ड के मूल को लपटा कर उसे दाहिने हाथ में ग्रहण करे। ” —यह विधान दिया है। तु० क०—भूमौ चोत्तिस्रति मुगस्या इति मुगसम्मिमतमौदुम्बरं दण्डं प्रवच्छति उच्छ्रयस्वोत्पेनमुच्छ्रयति । तं दक्षिणेनोपधत्ते ॥ का० श्रौ० ७।१४-१७ ।

वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति ।' अर्थात् जो ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करता है वह दीर्घसत्र में दीक्षित होता है। भाष्यकारों का कहना है कि यहा सोमयाग और ब्रह्मचर्यव्रत दोनों में दण्डधारण किए जाने के कारण ही ब्रह्मचर्यव्रत का दीर्घसत्र से साम्य बताया गया है। अगर ऐसा ही है तो सोमयाग की दीक्षा के समान दण्ड धारण न करना चाहिए, बल्कि 'यो मे दण्डः' आदि मन्त्र के साथ प्रहण करना चाहिए। भर्तृहरि, कर्क और जयराम के मत में यहा पर दीर्घसत्र का कथन इस लिए किया है कि ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि भी बहुत लम्बी होती है। गदाधर लिखते हैं कि दीक्षा के समान दण्डप्रहण के पक्ष में वामुदेव, कारिकाकार और हरिहर हैं।

(iii) कात्यायन श्रौतमूत्र के 'उच्छ्रयस्व' आदि मन्त्र का अर्थ यह है—[वनस्पते] हे दण्ड, [ऊर्ध्वः] ( मेरे उठाने पर तुम ) ऊँचे [उच्छ्रयस्व] उठो। [मा] मुझे ( आचार्य, शास्त्र आदि के दण्ड का स्मरण करा के ) [अंहसः] पापों से (और दुष्टों पर प्रहार कर के) विपत्तियों से [पाहि] बचाओ। [आ] सब ओर से [अस्य] इस [यज्ञस्य] यज्ञ (के समान मुझे) [उद्वचः] तेजस्वी बना दो।

(iv) वनस्पते—ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ<sup>१</sup> अग्नि, प्राण, पयोभाजन दिए हैं। अवे० ८।७।१६ में इसे ओषधियों का राजा कहा है। वन<sup>२</sup> √ वन् से बनता है, जिस के अर्थ 'प्रतिष्ठा करना, पूजन करना, सहायता करना, काम में लगना, रोज करना, मागना, जीतना, वश में करना, अनुग्रह करना आदि हैं। पति √ पा रक्षा करना से निष्पन्न होता है। अतः वनस्पते का प्रयोग यहा साभिप्राय है। कमनीय, सहायक, सम्मानित करने वाला, विजयी आदि भाव यहा अभीष्ट हैं। वेदमन्त्रों में 'वनस्पति' के वर्णन भी ध्यान देने योग्य हैं।

१. देखो वैको० में वनस्पति-पद। २. तु० क० वानरपद—वनस्पतेद वानरं, तद्राति इति वानर.—कमनीय गुणों का धारक। अकोसु० २।५।३ भी देखें।

जल से अंजलि भरना और उस का रहस्य

२२. अथास्येति—जलों से अपनी अंजलि भर कर उस के जल को ब्रह्मचारी की अंजलि में छोड़ता है। ब्राह्मणों में 'आपः' के अर्थ 'सब कामनाओं के प्रापक, तप्त पुरुष से उत्पन्न, प्राण, अमृत, शान्ति, औपधीनांसः, सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धा, मेध्य, अन्न, रत्नोप्री, वज्र, वीर्य, अर्क, द्यौः, यज्ञ, रेतस्, पशवः, सर्वे देवाः, देवानां प्रियं धाम, शूद्रों का भक्ष, घोषा' दिए हैं। इस अंजलिपूरण क्रिया में इन अर्थों के अनुरूप भाव अभिप्रेत हैं। इस क्रिया द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को शुद्ध और सत्य भाव से ब्रह्मचारी को श्रद्धान्वित सत्य का अभिलाषी आदि समझ कर सम्पूर्ण ज्ञान दे कर उसे सब कामनाओं को प्राप्त करने में समर्थ, अमृत, शान्ति, सप्राण, रसयुक्त (तु० क० अवे० ५।१६।१—११) सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धावान्, मेध्य अन्नवान्, रत्नोहा, वज्रवत्, वीर्यवान् आदि बनाने को प्रतिज्ञा करता है। वह ब्रह्मचारी को अपना समस्त ज्ञान आदि उसी प्रकार सम्पादित करेगा जिस प्रकार जल एक अंजलि से दूसरी में चला जाता है। इस क्रिया में 'पुत्रात् शिष्यात् वा पराजयेत्' का भाव भी लक्षित होता प्रतीत होता है।

(ii) संच० का विचार है कि यहां पर आचार्य यह भावना प्रकट करता है कि ब्रह्मचारी की अंजलि कभी भिक्षान्न से खाली न रहे और आचार्य भिक्षा में प्राप्त अन्न को सहर्ष ब्रह्मचारियों को देगा। यह भाव भी अच्छा है परन्तु सार्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं है।

२३. आपो हि ष्टेति—इन तीन मन्त्रों के अर्थ ये हैं—  
आपो हि ष्टा (४० ११।५०)—[हि] निश्चय से [आपः] जल [मयोभुयः] सुलकर [स्थ] हैं। [ताः] ये [नः] हमें [ऊर्जे] अन्न (और) [महे] महान् [रणाय] आनन्ददायक [चक्षुसे] ज्ञान के लिए [दधातन] धारण करें ॥१॥

(ii) भाव यह है कि जल शान्ति, सत्य, पवित्रता, अन्न यज्ञ और ज्ञान आदि के प्रतीक हैं। उन से हम अन्न, ज्ञान और सुख प्राप्त करने में गतिशील होने की प्रेरणा लेते रहें।

यो वः शिवयमः (य० ११।५१) का अर्थ

(iii) [वः] ( हे जलो ) आप का [मः] जो [शिवतम.] परम कल्याणकारी [रस ] रस (=सार) है, [इह] यहा [न ] हम को [तस्य] उस (रस) का [उशती ] कामना करती हुई (अर्थात्—प्रेममयी) [मातर ] माताओं के समान [भाजयत] भागी बनाओ ॥२॥

तस्मा अरं गमाम (य० ११।५२) का अर्थ—

(iv) [यस्य] जिस (अज्ञान, पाप और अभाव आदि) के [क्षयाय] नाश करने के लिए (आप हमे) [जिन्वथ] गनिशील करते हैं [तस्मै] उस (अज्ञान आदि के नाश) के लिए (हम) [वः] आप को [अरम् गमाम] पूर्ण रूप से प्राप्त हाते हैं । [च] और [आप ] जल [न.] हम को [जनयथ] (ज्ञान आदि से सम्पन्न) कर दें ॥३॥

(v) महे—महते । महान्, भारी पुष्कल । रणाय—रमणीय, आनन्ददायक । चक्षसे—√चक्ष्+अनुन् । देखने के लिए, अत ज्ञान के लिए । रस.—वस्तु का सार ही रस कहलाता है । भाजयत—√भज् से षिजन्त लाट् मध्यम पुरुष बहु व० । भागी बनाओ, प्राप्त कराओ, अधिकारी बनाओ । उशती.—√वश्+शतृ+ङीप्+स्त्री० प्रथमा बहु व० । वैदिक रूप । चाहती हुई, अत स्निग्ध । क्षयाय—निर्वास और नाश दोनों अथा में इस की योजना की जा सकती है । दम० और सच० ने निर्वास अर्थ लिया है । सा० ने नाश । जिन्वथ—लौकिक भाग्य में यह वृत्त्यर्थ भ आता है । निय० २।१४।२६ में यह गतिकर्मा है और निय० ४।३।१०२ म पदनाम है । अत इस के गति, शान और प्राप्ति—अर्थ हाते हैं<sup>१</sup> । विष्णो० भी देखें । जनयथ—सायण आदि ने इस का अर्थ प्रजा से समृद्ध करना

१ देखो हमारा लेख—वयानन्द परब की निषण्टु औष वारक, तथा वेभाग० ३०।२-४६ ।

लिया है। परन्तु यह प्रकरण में उतना उपयुक्त नहीं है जितना हिन्दी अनुवाद का अर्थ।

२४ सूर्यमुदीक्षयति—सूर्य का दर्शन कराता है। सूर्य को चरान्तर की आत्मा माना है—‘सूर्य आत्मा जगतत्तत्पुष्यध्व’<sup>१</sup>। वह देवों का विश्वित्र अनीक है, और मित्र, वरुण और अग्नि का वन्द्य है। —‘विश्वं देवानामु-  
दगादनीकं वक्षुमित्रस्य वरुणस्याग्ने’<sup>२</sup>। ब्राह्मणग्रन्थों में सूर्य के अर्थ आदित्य, वृद्ध, इन्द्र, पूषा, सविता, धाता, ब्रह्मणस्पति, पिता, भर्ता, गोपा, नृपत्, यम, परोरजाः, वाजपेय आदि दिए हैं। सूर्य का दर्शन इस प्रकार के गुणों के ग्रहण करने की भावना धारण करने तथा चिरायु की कामना के लिए कराया जाता है।

तच्चक्षुर्देवहितं (य० ३६।२४) का अर्थ

२५. तच्चक्षुरिति—इस मन्त्र का अर्थ यह है—[देवहितम्] विद्वानों को (आरोग्य प्रदान आदि और अनुमति देने के कारण) दितकर [तत्] वह (मित्र, वरुण और अग्नि अथवा लोक<sup>३</sup> की) [शुकम्] स्वच्छ, तेजस्वी, शुभ्र [चक्षुः] (देखने का साधन होने से) आल (के सदृश) [पुरस्तात्] पूर्व दिशा में [उच्चरत्] उदित है। (उस की सहायता से अथवा उस को हम) [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [पश्चम] देखते रहें [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [जोषम] जीवित रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [शृणुयाम] सुनते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [प्रवाम] चालते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [अदीनाः] स्वतन्त्र और समृद्धिसम्पन्न [स्याम] रहें [च] और [शतात्] सौ [शरदः] वर्षों से भी [भूयः] अधिक (देखते, जीते, सुनते, चालते और अदीन रहें)।

१. श्रु० १।१।५।१ २. वही। ३. ब्राह्मणों में मित्र आदि को 'लोक' भी बताया गया है। देखो श० ६।५।४।१४, तां १।४।२।४, श० १।१।६।२।१२ और श० १।४।६।१।१४।



(ii) सूर्य ब्रह्म की शक्ति में संचालित होने के कारण उस का प्रतीक है। सूर्य-पद स्वयं ब्रह्म का भी द्योतक है। अतः दस० ने पञ्चमहायज्ञविधि में इस का अर्थ ब्रह्मपरक किया है। सा०, उवट और महीचर ने सूर्यपरक लगाया है। उवट ने देवहिनम् का अर्थ 'देवताओं द्वारा स्थापित' किया है। इस प्रकरण में इसे सूर्यपरक लगाना ही उचित है। हाँ, उस के साथ ही-साथ ब्रह्मपरक अर्थ की योजना भी आरश्यक है। तब ही इस क्रिया का पूर्ण अभिप्राय सिद्ध होता है। अतः दस० का अर्थ यहाँ उद्धृत किया जाता है—

(iii) "जो ब्रह्म सब का द्रष्टा धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्य स्वरूप से वर्तमान रहता और सब जगत् का करने वाला है उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें, जीवें, मुनें, उसी ब्रह्म का उपदेश करें, और उस की कृपा से किसी के आधीन न रहें। उसी परमेश्वर की आशागलन और कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी हम लोग देखें, जायें, मुनें, मुनारों और स्वतन्त्र रहें अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ इन्द्रिय, शुद्धमन और आनन्द सहित हमारी आत्मा सदा रहे।"

२७ ममव्रते मन्त्र का सवि० मेदस० का अर्थ यह है—“हे शिष्य बालक तेरे हृदय का मैं अपने आधीन करता हूँ। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाम्र मन हो प्रीति से सुन कर उस के अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरो प्रतिज्ञा के अनुकूल वृद्धत्वति, परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे। इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य! आप के हृदय को मैं अपने कर्म अर्थात् उत्तम शिक्षा और प्रिया की उन्नति में धारण करता हूँ मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाम्र हो के मुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रखे।” पृ० ८५

(ii) व्रते—व्रत का अर्थ नियम, शासन आदि भी होता है। वही यहाँ अभिप्रेत है। दस० ने य० ४।११, और १६।३६ में यही अर्थ लिया है ते हृदयं दधामि—जब तक बालकों का आचार्य के नियमों के प्रति आदर

भाव न हो, तब तक वे उन का पालन सम्यक् प्रकार से नहीं करते हैं। चित्तम्—√चित् जानना से। इस का अर्थ 'मन, हृदय' भी किया जाता है। परन्तु यह भाव प्रथम पाद में आ चुका है। इस समस्त संस्कार में ज्ञान ही प्रधान विषय है। अतः यहाँ पर 'ज्ञान' अर्थ ही लिया गया है। नियुक्तु—भाव यह है कि शिक्षाकाल में तुम निरन्तर मुझ से शिक्षा ग्रहण करते रहो, उस में प्रमाद और व्यवधान न हो।

२८. आथास्य—पा० भे०। सामान्यतः 'अथ' का प्रारम्भ में प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यह पाठ ठीक नहीं है। इसे आ और अथ की सन्धि भी माना जा सकता है। इस पदच्छेद में 'आ' की अर्थ में कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। इसे 'ग्रहीत्वा' के साथ ही लगाया जा सकता है। सू० ३० में भी यही स्थिति है। यहाँ पर 'आ' को 'आद्' से सम्बद्ध करना होगा। हस्तं गृहीत्वा—इस से आचार्य की ब्रह्मचारी के प्रति आत्मीयता प्रकट होती है। को नामासि—कः नामा असि। नाम अस्य अस्तीति नामा। कौन नामवाले हो—किस नाम के हो—क्या नाम है। नाम का मानव के मस्तिष्क पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। नाम पूजने से परिचय बढ़ता है और उस नाम के अर्थ का भाव अंकित होता है। 'क' सुख का भी श्रोतक है और प्रजापति का भी। दोनों ही अर्थों को संकेतित करने के लिए इस प्रकार की रचना की गई है—तुम सुखमय प्रजापति के सदृश किस नाम वाले हो।

२९. असावहम् भो३—इस के अन्त में ब्रह्मचारी अपने नाम का उच्चारण करे।

३१. इन्द्रः—जयराम इसे √इदि परमेश्वरों से व्युत्पन्न कर इस का अर्थ 'प्रजापति' करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अर्थ 'सूर्य, आदित्य, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, राजन्य, क्षत्र, अशनि, स्तनविष्ट, ब्रह्म, प्रजापति, वीर्य, वृषा, रेतः, उद्गाता, अंगोमुक्, अश्व आदि दिए हैं। यह ऋग्वेद के धर्म में प्रमुख देवता है। इसे विभिन्न प्रकार से व्युत्पन्न किया

गया है। ऋ० १।१३६।६ में इन्द्र 'अग्नि का विशेषण है। पुनरुक्त ऋग्यों में इस का तादात्म्य अग्नि, इन्दु, सोम और विष्णु से पाया जाता है। देवों वेमाप० ४।१४६-१५०, परिशिष्ट ७।७-१०, १३। अतः यहा 'इन्द्र का प्रजापति अर्थ समीचीन जान पड़ता है। वैष्ण० में इन्द्रपद भी देते। अग्नि.—भाष्यकारों को अग्नि का अर्थ करने में समस्या रही प्रतीत होती है। सम्भवत इसी कारण उन्होंने ने इस का कोई अर्थ नहीं दिया। जब इन्द्र का अर्थ प्रजापति कर दिया गया और जलक का उम का ब्रह्मचारी बताया गया तब 'अग्नि' को प्रथम आचार्य कहने से स्पष्ट कर दिया गया कि यहा अग्नि और इन्द्र का अर्थ एक ही है—प्रजापति। इन्द्र ऐश्वर्य आदि का दातक है, अग्नि अन्नशील, अज्ञाननिरोधक, पापनाशक आदि का। इस पद के ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थ रुद्र, अकं, पशव, शिर, देवां को आत्मा, आत्मा, वाजाना पति, प्रजाओं का प्रनयिता, पृथिवी, सवत्सर, वाक्, तेज, रक्षाहा, तप, मन, प्राण, ब्रह्म, देवाना गोपा, ऋत, भर्ग, वम, निराट आदि दिये हैं। दस० ने इस के भौतिक और आध्यात्मिक—दो पक्ष माने हैं। दूसरे पक्ष में इस का अर्थ 'परमात्मा' किया है। इसे ऋग्वेद में 'एक सत्' भी कहा है (ऋ० १।१६४।४६)। ब्राह्मणों में ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है। ऋक्, साम और यजु को वाक् कहा गया है। अग्नि वाक् भी है। अतः यह वेदज्ञान का भी स्रोतक है। वैसे भी निघ० ५।१।१ में इसे पदनामों में पद कर इस का 'ज्ञान'—अर्थ यास्कमुनि ने प्रतिपादित किया है। आचार्य —“जो सागोपाग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया को जानने हारा छलकपट रहित, अतिप्रेम से विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेण सब का हितैशी धर्मात्मा तितेन्द्रिय होवे।” दस० सवि० पृ० ८० (पाटि०)। ऋभाभू० में लिखते हैं—“आचार्य उस को कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनयो को छुड़ा के अयो का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।” पृ० ३०४।

भाष्यकार हरिहर ने आचार्य का यम के अनुसार यह लक्षण दिया है—

“सत्यवाक् धृतिमान् दक्षः सर्वभूतदयापरः ।  
 आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥  
 वेदाध्ययनसंपन्नो वृत्तिमान् विजितेन्द्रियः ।  
 न याजयेद् वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम् ॥”

मनुस्मृति में आचार्य का लक्षण यह है—

“उपनीय तु यः शिष्य वेदमध्यापयेद् द्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रवक्षते ॥” २।१४०।

परन्तु शूद्रक और कालिदास के समय तक इस के ये अर्थ बदल चुके थे और किसी भी विषय में पारंगत व्यक्ति को आचार्य कहा जाने लगा था। वहां पर आचार्य का प्राचीन अर्थ ही अभिप्रेत है।

३२. भूतेभ्यः—√भू होना+क्त, ४ थी बहु०। सत्ताधारियों के लिए। जो कुछ भी उरग्न हो चुका है—चाहे भूत काल में हो चाहे वर्तमान काल में वह सब ‘भूत’ कहलाता है। अतः पृथिवी आदि लोक और उन में विद्यमान समस्त पदार्थ भूत कहलाते हैं। प्रजापति, प्रजा, वायु आदि तत्त्व सब कुछ भूत हैं। इस में आधुनिक काल में प्रचलित भूतप्रेत की भावना नहीं है। इस प्रकार की भावना वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती शक्त नहीं है। मृत व्यक्तियों को भूत संज्ञा तो है, परन्तु वे मनुष्य को दुःख देने वाले के रूप में नहीं हैं। जैसा शदाशर ने लिखा है यहां ‘भूतेभ्यः’ का विस्तार प्रजापति आदि आगमी मन्त्र (सं० ३३) में वर्णित पदार्थ आदि हैं। परिददात्ति—परि+√दा का अर्थ सम्यक् रूप से देना है। पदार्थों के लिए देने का भाव पदार्थों का उपयोग करना है।

३३. प्रजापतये—प्रजानां पतिः। प्रजाओं का पालक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाचस्पति, संवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रणेतृ, भूत, यन्तु, हिरण्यगर्भ,

ब्रह्मा, सोम, चन्द्रमा, दक्ष, मनु, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम आदि दिए हैं। इन अर्थों में से सभी उपयुक्त अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। अन्य अर्थों के लिये देवो वैको०। देवाय—देव शब्द √दिष् से बनता है जिस के अर्थ कीड़ा, विजिगीषा, व्यरहार, श्रुति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति हैं। जिस जिस पदार्थ, भाव और स्थिति में इन में से एक या अनेक अर्थ भगत होने हों वह वह पदार्थ आदि देव या देवता कहलाते हैं। विस्तार के लिये देवो वैभाष० ६।३१-४२ तथा हमारा लेख—महर्षि दयानन्द सरस्वती और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में सकलित)। सवित्रे—शब्दार्थ—उत्पादक। √सु+तृच्। ब्राह्मणग्रन्थों में सविता के अर्थ प्रसविता, देवाना प्रमत्रिता, आदित्य, सूर्य, अग्नि, प्रजापति, वरुण, त्रिलुत्, स्तनविलुत्, वायु, चन्द्रमा, यज्ञ, अभ्र, वेदा, अह, पुरुष, पशु, प्राण, मन, यज्ञत्, राष्ट्रपति, शिखराशि आदि दिए हैं। द्यावा पृथिवीभ्याम्—गुणोक्त और पृथिवीभ्याम्। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के प्राण और उद्दान, देवताओं के हविर्दान अर्थ भी मिलते हैं। विश्वेभ्यः देवेभ्यः—जैसा 'देव' पद के ऊपर के व्याख्यान से स्पष्ट होगा इस पद का अर्थ ब्रह्माण्डस्थ समस्त पदार्थ होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ 'समस्त विद्वान्, सूर्य की किरणें, प्राण, ऋतुए, धोत्र, दिशाए, विट्, प्रजा, पशु, अन्न, गो आदि मिलते हैं तथा वहा इन्हें अनन्त कहा है। अरिष्ट्यै—न रिष्टि अरिष्टि, तस्यै। √रिप् हिंसायाम् से। रिष्टि—हिंसाप्राप्त स्थिति, दुख, अमगल। अरिष्टि—सुख, कल्याण।

३४. प्रदक्षिणम्—प्रगत दक्षिणम् इति। दक्षिण की ओर की हुई (अग्नि)। इसे परीत्य का क्रियाविशेषण भी माना जा सकता है। भाव यह है कि प्रदक्षिणा कर के अग्निकुण्ड के पश्चिम में और आचार्य के उत्तरपूर्व की ओर मुख कर के बैठे। आचार्य दक्षिण की ओर बैठता है। अग्निम्—यज्ञ कुण्ड में जलती हुई अग्नि। पवित्र वस्तुओं को दाहिनी ओर रखते हुए उन के चारों ओर घूमना (=परिक्रमा करना) कल्याणकर समझा जाता है। परीत्य—परि+√ई+ल्यप्।

३५. अन्वारब्ध—अनु + आ + √रम् + क्त । भाष्यकारों ने इसे प्रथमा एक व० मान कर 'ब्रह्मा से आरम्भ कराए गए कर्म वाला आचार्य (जयराम) अथवा ब्रह्मचारी द्वारा आरम्भ कराए गए कर्म वाला (आचार्य) (विश्वनाथ), ब्रह्मा से छुए हुए घृत (की आहुतियां) (शुकदेव)' अर्थ किए गए हैं । अथ तक अन्य क्रियाएं चालू थीं । यज्ञ बन्द था । आहुति देने के लिए यज्ञकर्म प्रारम्भ होना आवश्यक था । अतः इस पद को सप्तमी एक व० मान कर 'यज्ञ' का अध्याहार करने पर अर्थ प्रकरणांचित हो जाता है । आज्याहुतीः—दस० ने २२ आहुतियों का विधान किया है । विश्वनाथ का विवरण—'आचारावाव्यभागी महाध्याहुतयः सर्वप्रायश्चित्तं प्रायश्चित्तं स्विष्टकृषा' है । प्राशानान्ते—भाष्यकारों ने संस्त्रवप्राशन का वर्णन किया है । गद्दीधर ने संस्त्रव का अर्थ 'विलीन आज्य' किया है । दस० ने द्वांम में छोदे हुए घृत आदि पदार्थ समझा है (प० २।१८) । अतः यज्ञोप । संशास्ति—ब्रह्मचर्य के नियमों का उपदेश करते हैं । दस० ने संधि० पृ० ६२-६३ में इन सूत्रों के साथ कुछ अन्य सूत्र भी दिए हैं ।

३७. अशान—√अश् से लोट् मध्यम पु० एक व० । ग्वाश्रो, अर्थात् पाश्रो ।

(ii) श्री शुकदेव ने छान्दोग्य ब्रा० उ० प्र० ५ म्० २ मं० २—'मा होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति । होचुस्तद्ब्रह्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुस्ता-श्चापरिष्टासाद्भिः परिदधील लम्बुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ।' को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आरम्भ और अन्त में भोजन का आचमन कर के बन्धवत् घेषित कर देना चाहिए क्यों कि उस के प्रश्न पर इन्द्रियों ने प्राण से कहा था कि जल ही उस के बन्ध होंगे ।

३८. कर्म—ब्रह्मचर्यव्रत और शानोपासन के लिए उपयुक्त कर्म । संनं०—दुष्ट कर्म छोड़ धर्म किया कर ।

३९. दिवा—दिन में सोने से आयु का हान, आलस्य की वृद्धि, पठन में व्यवधान आदि अनेकों दोष पाए जाते हैं ।

४१. समिधम्—भाय यह है कि प्रतिदिन यह किया करो और उस से अनुभूति लो ।

### सावित्री का उपदेश

दस० आदि के मत में यहा से आगे वेदारम्भ सस्कार है ।

४३. सावित्रीम्—सवितृ देवता है जिस का ऐमी शब्दा । सामान्यतः गुरु द्वारा शिष्य को सिखाए जाने वाले गायत्री मन्त्र को ही सावित्री' कहते हैं । उपदेश के योग्य ब्रह्मचारी के गुण

उत्तरतोऽग्नेः—प्रारम्भ में बालक पश्चिम की ओर पूर्वामुख बैठा था । अब वह उत्तर की ओर आ कर बैठा है । प्रत्यङ्मुखाय—अब उस का मुख पश्चिम की ओर है । उपविष्टाय—उप + √विश् + क । सामान्यतः खड़े हुए बालक को उपदेश प्रदण करने में पर्याप्त असुविधा होती है । फिर भी आगे मूस० ४४ में 'खड़े हुए का भी उपदेश देने का वर्णन है । उपसन्नाय—उप + √सद् + क + चतुर्थी एक व० । समीप आए हुए । शुकदेव—प्रसन्नचित्त । समीक्षिताय—सम् + √ईक्ष् + क + चतुर्थी एक व० पु० । परीक्षित, शरखे हुए । समीक्षमाणाय—सम् + √ईक्ष् + शानच् + चतुर्थी एक व० पु० । शब्दों प्रकार देखते हुए । इस के दो भाव हो सकते हैं—१. शान्त चित्त हो कर शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के मुख की ओर देखने वाले २. तुने हुए उपदेश या पाठ पर तर्कवितर्क द्वारा विचार करने वाले । हिन्दी अनुवाद में पहला अर्थ लिया गया है, परन्तु दूसरा अर्थ प्रकरण में अधिक भगत होता है । तु० क० "आत्मा वा श्रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिष्यासितथ्यः ।' बृश्राउ० । तथा—'सद्विदि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा ।"

(ii) प्राचीन भारतीय सस्कृति में विद्यार्थी में श्रद्धा, शान्ति और ब्रह्मचर्य आदि गुणों का होना परम आवश्यक माना गया है—

१-क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुहुवन् एतर्पि भक्षयन्तः ।

तेषामेवैषा ब्रह्मनिष्ठा वदेत शिरोव्रतं विविद्वद् वैस्तु चीर्णम् ॥ मुउ० ३।२।१०

तथा—तस्मै स विद्वान् उपसत्राय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।  
मु० उ० १।२।१३ ।

२-नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय च पुनः ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्वे० उ० ६।२२-२३

३-अस्यकायानृजवेऽवताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम् ।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

यमेव विद्याः शुक्तिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।

यस्ते न द्रुष्येत् कतमच्यनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ नि० २।४

श्री शुक्रदेव ने यहाँ गुरु के पैर छूने का विधान माना है । पारस्कर का यह विधि मान्य प्रतीत नहीं होती ।

४४. दक्षिणतः—अग्नि के दक्षिण में । यह कुछ आचर्यों का मत है ।

४५. पच्छः—पद् + शस् । पादं पादमिति पच्छः, पदशो वा । पहले एक-एक पाद ( ॐ भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् ) पढ़ाए । अर्द्धर्चशः—अर्चः अर्धमिति अर्धर्चम् । अर्द्धर्चम् अर्द्धर्चमिति अर्द्धर्चशः । आधी-आधी अर्चा ( ॐ भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ) कर के । सर्वा च—तीसरी बार में सम्पूर्ण मन्त्र ( ॐ भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ) को एक साथ आचार्य के अनुकरण पर उच्चारण करे । यहाँ पर प्रणव (= ओ३म् ) और व्याहृतियों ( भूः, भुवः स्वः ) के साथ मन्त्र पढ़ा जाना श्रमीष्ट है । अनुवर्तयन् अनु + √वृत् + णिच् + शतृ + पु० प्रथमा एक व० ।

सावित्री के उपदेश का कालपरिमाण—

४६. पाणमास्ये—शुद्धे मासाः पाणमास्यम्, तस्मिन् । पाणमास्ये पाठ में वृद्धयभाव को द्वान्दस मानना पड़ेगा ।



(ii) हरिहर भाष्यकार के विचार में काल की यह अवधि क्षत्रिय और वैश्य बालकों के लिए है। जो गुरुशुश्रूषा आदि गुणों में जितना कम होगा उतना ही समय अधिक लगेगा। परन्तु यहाँ पर गुरु की शानगरिमा और शिष्य की योग्यता और ग्रहणशक्ति ही इस कालविभाग का कारण प्रतीत होते हैं।

(iii) ५० शुरुदेव का विचार है कि इन कालों में बालक को ब्रह्मचर्य का उपदेश कर के गायत्री सिखाए। इस में व बालक में योग्यता उत्पन्न कर के उपदेश देना चाहते हैं।

४७ सद्य.—ब्राह्मण इनने योग्य ब्रह्मचारी के गुण अधिक होने अनिवार्य हैं। अतः यह तीव्रबुद्धि और वदज्ञान का पिपासु होने से गायत्री के शिक्षण को शीघ्र ग्रहण कर सकेगा। गायत्री का अध्यापन अर्थसहित ही अभीष्ट है। गायत्रीम्—ऋषि, देवता और छन्द तथा स्वरो के परिज्ञान के साथ गायत्री। वैदिक वाङ्मय में गायत्री की बड़ी महिमा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में गायत्री के अर्थ—प्राणों का रक्षक, पृथिवी प्राण, अग्नि ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस्, तेज, ज्योति वीर्य, शिर, मुग्न, प्राची दिक्, यज्ञ, पुरुष आदि दिये हैं। य० २८।२४-३४ में गायत्र एक दार्शनिक परिभाषा है। य० १०।११ में गायत्री को प्राची दिशा में रक्षक बताया है। य० १४।१० में यह 'पचाविर्वय' का द्योतक है। ऋ० १०।१३०।४ में इस की उत्पत्ति अग्नि से मानी गई है। अतः जो वेद में वर्णित अग्नि के गुणों से सम्पन्न हो उसे गायत्री का ज्ञान तुरन्त हो सकता है। यह भाव 'अग्नेयो वै ब्राह्मणः' (तै० २।७।३।१) में व्यक्त किया गया है। अग्नि का विशेष गुण ज्ञानशीलता है। यह गुण अग्नि के विशेषणों—कविकलु, जातवेदस्, अगिरः, विश्ववेदस्, कवि, ऋषे, करवतम, चिकित्वान्, चेत्त्रितान, चेत्तिष्ठ, प्रकेत, प्रचेता, प्रजानन् और बृहस्पति' आदि में परिलक्षित होता है।

गायत्री मन्त्र और उस का दस० का अर्थ

(ii) गायत्री मन्त्र यह है—ॐ भूर्भुव स्व । तत्सवितुर्वरेण्य भगो देवस्य धीमहि । धियो यो न प्रचोदयात् ॥

(iii) इस का सविस्तार अर्थ दस० ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास और पञ्चमहायज्ञविधि में दिया है। ऋ० ३।६२।१०, य० ३६।३ में भी इस का अर्थ मिलता है। यहाँ पर संस्कारविधि का अर्थ संसक्त और सुगमतर होने से दिया जाता है।

(iv) (ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का निज नाम है जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं। (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुवः) सब दुग्धों से छुड़ाने द्वारा, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति कराने द्वारा है उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय कराने वाले परमात्मा का जो (वरस्यम्) अति श्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य, (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने द्वारा, पवित्र, शुद्ध स्वरूप है (तत्) उस को हम लोग (धीमहि) धारण करें (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण का स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे।

आधुनिक शैली पर गायत्री का अर्थ

(v) आधुनिक अर्थप्रणाली में एक पद का एक ही रुढ़िगत अर्थ प्रदर्श किया जाता है। परन्तु वैदिक शैली दस से नितान्त भिन्न है। देवी हमारा अन्य 'चिदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन।' उपरोक्त अर्थ वैदिक शैली पर है। आधुनिक शैली पर विभिन्न महोदय का अनुवाद इस प्रकार है—'हमें सवितु देव की यह उत्तम महिमा प्राप्त हो जाए जिस से वह हमारी प्रार्थनाओं को प्रगति दे सके।'।

(vi) ओ३म्—यह प्रणय भी कहलाता है। उपनिषदों और गीता में इसे ईश्वर विषयक समस्त ज्ञान का सार कहा है। यह परमात्मा का उन्हे नाम माना जाता है। इसे √अव रक्षन्मतिकान्तिर्प्रानितृप्त्यवगमप्रपंशं अवनृत्साम्यंवाचनक्रियेन्द्रादीप्त्यथाप्त्यातिगनहिंसादानभागवृद्धिषु से व्युत्पन्न किया जाता है। इस का विशेष विस्तार उप० १ म समुल्लास में देखें। भूः—

भूरिति वै प्राण—य प्राणयति चराचर जगत् स स्वयम्भूर्गोश्वर । सब जगत् के जीवन का आधार, प्राणों से भी प्रिय ईश्वर । भुवः—भुवरित्यपान—य सर्वं दुःखमपानयति सोऽपान । सप्त दुःखों से रहित, जीवों को दुःखों से छुड़ाने वाला । स्वः—स्वरिति व्यान—या विविध जगद् व्यानयति व्याप्राप्ति स व्यान । नानाविध जगत् में व्यापक । सवितुः—सुनोति उत्पादयति सर्वं जगत् । सु धातु प्रसन्न और ऐश्वर्य में आती है । यह पद सूर्य का भी चोतन है । मन्वकालीन और आधुनिक विद्वान् इस का सूर्य ही ग्रथ करते हैं । वरेण्यम्—यत्तुमर्हम् । स्वीकार्य, श्रेष्ठ । कोलत्रुक—पूजनीय । विल्सन—कमनीय । वेदार्थरत्न—परमोत्कृष्ट । लैंगलोइ—उदार । भर्गः—√भ्रस्ज् + घञ् । मूढने वाला, शुद्ध करने वाला । ब्राह्मण ग्रन्थों में इस ने अर्थ पृथिवी, ऋग्वेद, होता, अग्नि यजु, वाक्, वसन्त, गायत्री, प्राची, आदित्य, चन्द्रमा, वीर्य और त्रिवृत् दिये हैं । इस मन्त्र में गो० १।१।३२ में भर्ग का अर्थ 'अन्न' दिया गया है । आधुनिकों के ग्रथों में कोलत्रुक—प्रकाश, वेदार्थरत्न—तेज, सामस्वामी—शक्ति, त्रिपिथ—महिमा, ल्यूड्विग—चमक, प्रमुख हैं । देवम्य—दीव्यति दीव्यते वा स देव । सुगदायक, कमनीय । यह √दिवु ऋडाविजिगीषाव्यवहारश्रुतिस्तुतिमोदमदस्यप्रशान्तिगतिषु से व्युत्पन्न होता है । कोलत्रुक ने इस का अर्थ दिव्य, शासक, वेदार्थरत्न ने आज्ञाल्यमान त्रिपिथ ने देव और ल्यूड्विग ने देवगण किया है । इस पद के अर्थों के विवेचन के लिये देवों हमारा लेख—महर्षिदयानन्द और देवता शब्द का अर्थ ( ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में सप्रहात ) । धियः—निघ० में इसे बुद्धि और कर्म का पर्यायवाची बताया गया है । विद्वानों ने इन दोनों ही अर्थों को अपनाया है । वेदार्थरत्न ने भावनाएँ, मक्ति, लैंगलोइ ने प्रार्थनाएँ अर्थ किये हैं ।

### गायत्री मन्त्र का महत्त्व

(vii) इस मन्त्र में बुद्धि और कर्मों की शुद्धि और सत्य मार्ग पर गति के लिए प्रार्थना की गई है । शुद्ध बुद्धि और श्रेष्ठ कर्म ही मानव की

ऐहिक और पारलौकिक उन्नतियों—अभ्युदय और निःश्रेयस के निष्पन्न करने वाले हैं। इसी कारण इस मन्त्र की विशेष महिमा है। इस मन्त्र के ऋष्यादि विश्वामित्र, सविता और गायत्री हैं। इन पदों के अर्थों के अनुसार अन्य अर्थ भी इस मन्त्र के अभिप्रेत हैं। उन सब की कल्पना और विस्तार यहाँ सम्भव नहीं। उपरोक्त गायत्री के उपदेश की अवधियों के निर्धारण में इस मन्त्र के अनेकविध अर्थ भी कारण रहे हो सकते हैं।

(viii) श्रुतिः—श्रूयते इति श्रुतिः। Vधु भवयो + क्तिन्। सामान्यतः इस का अर्थ परम्परा से सुन कर फयड किए जाने वाले ग्रन्थ किया जाता है। इन में प्रमुख रूप से वेद और सामान्य रूप से ब्राह्मण, धारण्यक और उपनिषद् आते हैं। यदि इस का अर्थ श्रूयते जायते अनेनेति श्रुतिः किया जाए तो अर्थ अधिक संगत हो सकेगा और ब्राह्मणों पर भी ठीक-ठीक लागू हो सकेगा। यहाँ पर तैत्तिरीय ब्राह्मण की ओर निर्देश है।

त्रिष्टुभ् छन्द का सवितृ देवता का मन्त्र

४८. त्रिष्टुभं राजन्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र इस प्रकार है—

“देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपति भगाय । दिव्यो मन्धर्वः केतुः केतवः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा ॥” य० ६।१

(ii) य० ५।३६ भी ‘देव सवितः’ से प्रारम्भ होता है, परन्तु उस का छन्द त्रिष्टुम् न होने से यह अभिप्रेत नहीं है।

(iii) भर्तृपत्र इस के स्थान पर इस मन्त्र का विधान मानते हैं—

“ताँ सवितुर्वरेण्यत्वं त्रिषामहं वृषे सुमति विश्वजन्त्याम् ।

वामस्य कण्ठो अदुहत्प्रयानाँ सहस्रपातां पयसा महीं गाम् ॥” य० १७।७४

१. य० शुकदेव ने मानवद्यज्ञपत्र १।२।३ दिया है जिस में वृषेण मन्त्र आदेवाँ वाति (यातु ?—ऋ० ७।१५।१) माना है।

देव सवितः प्रसुव मन्त्र का अर्थ

(iv) देव सवितः—जयराम और उवट ने इस का श्रुति बृहस्पति दिया है। महीधर और दयानन्द सरस्वती ने इन्द्राबृहस्पति। इस का देवता सविता और छन्द त्रिष्टुम् (दस०—स्वराडापीं त्रिष्टुम्) है। यह मन्त्र य० ११।७ और ३०।१ में भी पाया जाता है। वश पर 'वाजम्' के स्थान पर 'वाचम्' का प्रयोग है। पुनरुक्त अशों से अर्थग्रहण की शैली पर यहा वाजम् का अर्थ वाचम् हो जाता है। तै० १।३।२।५ ने 'वाग्वै वाजस्य प्रसव' कह कर इस अर्थ की पुष्टि की है। उपरोक्त पिछले दो मन्त्रों में स्वाहा का पाठ भी नहीं है। प्रकृत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

(v) हि (देव) [समस्त मुक्तों के] दाता प्रकाशस्वरूप (सवितः) सकल जगत् और ऐश्वर्य आदि के उत्पादक परमात्मन्, (यज्ञम्) (अध्ययन रूप मेरे) श्रेष्ठ कर्म को (प्रसुव) प्रगति दें। (यज्ञपतिम्) [अध्ययन यज्ञ के] यजमान [मुक्त ब्रह्मचारी] को (भगाय) [ज्ञानियाचित] ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (प्र सुव) गतिशील करते रहें। (दिव्यः) प्रकाशमान [क्षत्रगुणों को देने वाला] (गन्धर्वः) जगत् का धारक [और रक्षक] (केतपूः) [मनुष्यों के चित्तों में वर्तमान] ज्ञान का परिशोधक परमेश्वर (केतम्) [हमारे] ज्ञान को (पुनातु) पवित्र करें। (वाचस्पतिः) प्राणों के रक्षक प्रजापति (नः) हमारे (वाजम्) बल या वाणी को (स्वदतु) आनन्दकर बनाए। (स्वाहा) [मेरी] वाणी शुभ हो।

(vi) गन्धर्वः—गा जगत् धरतीति। मेघदूत की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० १५३ को पाठि० ३ भी देखें। केतपूः—केत चित्तस्थ ज्ञान पुनाति शोधयतीति। केतम्—√कित् (ज्ञाने)+घन्। ज्ञान, बुद्धि। शतपथ ब्राह्मण में केत अन्न का वाचक भी है। वाचस्पतिः—ब्राह्मणों में इस के अर्थ प्राण और प्रजापति भी दिए हैं। वाजम्—√वज गतौ से। इस के अर्थ 'यज्ञ, वीर्य, पशु, स्वर्गलोक और ओषधि' आदि पाए जाते हैं। वाजिन् आदि पदों में इस का बल-अर्थ मुख्य है। स्वदतु—√स्वद् से। स्वाद

ले, आनन्द ले और आनन्दयुक्त करे। अन्तर्हितपर्यर्थ धातु है। स्वाहा—सु+आह से निष्पन्न होता है। उत्तम कथन। दस० ने अपने भाष्यों में इस के अनेकविध अर्थ दिए हैं।

(vii) भर्तृयज्ञ द्वारा उद्धृत 'तां सवितुः' मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—(अहम्) मैं (ब्रह्मचारी) [वरैर्यस्य] श्रेष्ठ पूजनीय [सवितुः] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर की [ताम्] उस (सुविदित) [चित्राम्] विभिन्न प्रकार (के फल देने) वाली [विश्वजन्याम्] सब का कल्याण करने वाली [सुमतिम्] शोभन बुद्धि को [आवृष्टे] धारण करता हूँ [याम्] जिस को (पा कर) [कृष्वः] विद्वान् (क्षत्रिय जन) [अस्य] इस (सविता—परमेश्वर की दी हुई) [पयसा] अन्न-जल आदि से [प्रपीनाम्] प्रबुद्ध हुई [सहस्रधाराम्] हजारों प्रकारों के (पदार्थों) को धारण करने वाली [महीम्] महान् विस्तृत [गाम्] भूमि को [अद्रुहत्] दोहते रहे हैं।

(viii) विश्वजन्याम्—विश्वेभ्यः सर्वेभ्यः जनेभ्यः हिताम्। विश्व+जन+यत्। सुमतिम्—यथार्थ विषय वाली पदार्थों का यथावत् ज्ञान कराने वाली बुद्धि। कृष्वः—निघं० में यह मेधाविनामों में पढ़ा गया है। मानवमट्ट के भाष्य में इसे इसी अर्थ में लिया गया है। विकल्प में ऋषि-विशेष का नाम भी माना है। इसी भाष्य में इस का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्ति से आरम्भ होता है। वैभाष० ३०।५.—७ में दिखाया गया है कि ऋसंहिताओं आदि में मेधावी' अर्थ का श्रोतक है। यह गत्वर्थक या शब्दार्थक या निमीलनार्थक √कण् से अथवा √कृष्व् यव करना से बनता है। प्रपीनाम्—प्रकृष्टरूपेण पीनां पुष्टाम्। बढ़ी हुई। सहस्रधाराम्—अद्वय-संख्यानयान् धरति ताम्। अद्रुहत्—वेद में भूतकाल की क्रियाओं के अर्थ भी बहुधा लट् लकार में किए जाते हैं।

(ix) इसी प्रकार का भाव—मगमस्या वर्च आदिष्वधि वृत्तादि लजम्। महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृश्वस्ताम् ॥ एषा ते राजन् कन्वा कधूर्नि धूवतां यम। सा मानुर्वध्वतां गृहेऽग्नौ भ्रातुरग्नौ पितुः। एषा ते कुला

राजन् तामु ते परि दद्यसि । ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्यं शमोष्यात् ॥  
 श्रवे० १।१४।१—३ में पाया जाता है । विस्तार के लिए देखो हमारा लेख  
 —ए न्यू इन्टरप्रैटेशन ऑफ श्रवे० १।१४ ।

(x) ये दोनों मन्त्र सूत्रिय बनने के इच्छुक और योग्य बालक के लिए माने गये हैं । अतः ऐसे बालकों की भावनाओं के अनुरूप ही इन मन्त्रों के अर्थ अभीष्ट हैं और ऊपर दिए भी गए हैं ।

जगती छन्द वाला सविता देवता का मन्त्र

४६. जगती वैश्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र ग्रधोदत्त है—

“विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासाधीद् भद्र द्विपदे चतुष्पदे ।  
 वि नाकमरयत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुपसो विराजति ॥”

श्र० ५।८।१२; य० १२।३

(ii) मर्तृयज्ञ ने यह मन्त्र माना है—

“युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा निप्रस्य बृहतो विपश्चित ।  
 वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुति ॥”

य० ५।१४; श्र० ५।८।११

(iii) विश्वा रूपाणि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—[कविः] क्रान्तदर्शन, क्रान्तप्रज्ञ और सर्वज्ञ (परमेश्वर) [विश्वा] सम्पूर्ण [रूपाणि] पदार्थों के स्वरूप को [प्रति मुञ्चते] प्रकट करता है । (वह) [द्विपदे] दो पैरों वाले प्राणियों (मनुष्य आदि) (और) [चतुष्पदे] चार पैरों वाले (पशु आदि) के लिये [भद्रम्] कल्याण [प्रासाधीद्] करता है । [वरेण्यः] पूजनीय [सविता] सर्वोत्पादक परमेश्वर ने (सब प्राणियों के लिए) [नाकम्] समस्त दुःखों से रहित (मुखों) को [वि अख्यत्] प्रकाशित किया है । [उपस] उपाओं के समान (आलस्य और दारिद्र्य आदि की बाहक) गतिशीलों के [प्रयाणम्] गमन के [अनु] पश्चात् [विराजति] (समृद्धि) चमक जाती है ॥

(iv) नाकम्—कं सुखम् । न विशते कं सुखं यस्मिन् तत् शकम् । न शकं दुःखं विशते यस्मिन् तत् नाकम् । उपसः—दस० ने उ० ४।२३४ में इस की व्युत्पत्ति 'आपति दहतीति उपः' उपा वा दी है । ऋग्वेद में 'उपाः' मतत गतिशील है । यह प्रति दिन अपने पूर्व मार्ग पर आती है । यह मधोनी = धनयुक्त और धन देने वाली है । देखो ऋ० (३।६।१३-४ आदि) । प्रयाणम्—गमन, बीतना, चला जाना । भाव यह है कि व्यापार आदि कर्मों के करने से धन की वृद्धि होती है ।

(v) भृगुयज्ञ द्वारा प्रदत्त 'युञ्जते मन उत' आदि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

[होत्राः] कशील [विप्राः] (व्यापार में कुशल) बुद्धिमान् वैश्य [विप्रस्य] विशेष रूप से फल प्राप्त कराने वाले [बृहत्तः] महान् [विप्रश्चितः] (वाङ्मय्य रूपी) यज्ञ (के कर्म में) [मनः] (अपने) मनों को [युञ्जते] युक्त करते हैं [उत] और [विधयः] कर्मों को [युञ्जते] (उसी में) केंद्रित करते हैं । [इत् । निश्चय से (यह) [दिशस्य] दिव्य [सवितुः] सकल जगत् के उत्पादक और परमेश्वर के सृजक परमेश्वर की [मही] महान् [परिष्ठातिः] महिमा (है) । [वयुनाधित्] (व्यापारिक उत्तम) कर्मों का जिज्ञानु (एकः) कर्मशील (में) कवित्ता की इस महिमा को) [विदधे] (पूर्ण रूप से) धारण कर सकूँ ।

(vi) विप्राः—निघ० में यह मेधाविनामो में पढ़ा गया है । ऋग्वेद के अनुत्तर बुद्धि और कर्म से ही मनुष्य 'विप्र' बनता है—“उपहरे निरीणां संगधे च नदानम् । पिवा विप्रो अजायत ॥” ऋ० ८।६।२८ । विप्रस्य—महोत्तर ने इस का विग्रह—विशेषण प्राप्ति पूर्व्यात् फलमिति विप्रस्तस्य । √ प्रा पूर्ता से । दस० ने भी इसी व्युत्पत्ति को अपनाया है । विप्रश्चितः—तु० क० श० ३।५।३।२—यज्ञो वै बृहन् विप्रश्चित् । य० ५।१४ में महोत्तर भाष्य भी देखें । यज्ञ का अर्थ अतिव्यापक होने से यज्ञ पर प्रकरणावित 'वाङ्मय्य रूपी यज्ञ कर्म' अर्थ किवा गया है । होत्राः—√ हु दानादनयोः से । यह धातु 'यज्ञ करने' के अर्थ में मुचिदित है । अतः यज्ञ करने वाले ।



दधे—√धा से लट् उत्तम पु० एक व० आत्मनेपद । यहाँ भाव लोट् लकार में अभीष्ट है । वयुनावित्—वयुन का अर्थ कर्म है । कर्मों को जानने वाला । अभी ब्रह्मचारी कर्मज्ञ नहीं हुआ है । वह व्यापारिक कर्मों को जानना चाहता है । अतः यहाँ इच्छार्थ अभीष्ट है । मही—महती । वैदिक रूप । परिष्टुतिः—परि + स्तुति । सग श्रोत्र से स्तुति । अतः यश, महिमा । एकः—एति गच्छतीति एक । √इ + कन् । उ० ३।४३ । गतिशील, कर्मठ । सब के लिये गायत्री का उपदेश

५० पृथक् पृथक् गुरुओं के अभिलाषियों के लिये पृथक् पृथक् मन्त्रों का विधान किया जा चुका है । सग मन्त्रों का देवता सविता और उन का विषय सद्ब्रह्म की प्रार्थना है । भेद केवल छन्द का है । छन्दों के वाचक पदों के अर्थों में भी एक सीमा पर एकता का सूत्र परिलक्षित होता है । इस प्रकार वरुणों में मूलतः कोई भेद नहीं रहता है । अतः सग को गायत्री मन्त्र का ही उपदेश किया जा सकता है । इस विकल्प में पिछले ३ सूत्रों में वर्णित विधि से पूर्व प्रचलित प्रथा का अयरोप भी लक्षित होता है ।

### समिधाधान

५१. अत्र—यह । कर्क और जयराम इस का अर्थ 'अग्नि में' करते हैं । हरिहर के मत में यह 'सावित्री मन्त्र के उपदेश के पश्चात् अत्र' का जोतक है और विश्वनाथ के मत में 'दोपहर की सन्ध्या के बाद में' का । समित्—समिध्यते दीप्याते अग्निरनया इति । सम् + √इष् चमकना से । प्रदीप्त करने वाली । भाव यह है कि जिस प्रकार समिधा अग्नि में पड़ कर उसे प्रदीप्त कर देती है उसी प्रकार गुरु के सावित्री और ज्ञान के उपदेश रूपी समिधा से तुम भी ससार में चमक उठो । तु० क० (१) 'प्राणा वै

१. छन्दों के वाचक पद मन्त्रों के अर्थों के प्रकाशक होते हैं । अतः उन के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है । देखो—सुधीर कुमार गुप्त, सीयर्स और दी श्रुग्वेद, देयर मैसेज एण्ड विलोसीफी ।

समिधः । प्राणा ह्येनं समिन्धते । श० ६।२।३।४४ (२) यदेनं समयच्छत्  
तत्समिधः समित्त्वम् । तै० २।१।३।८ और (३) समिधो यजति वसन्तमेव  
वसन्ते वा इदं सर्वं समिन्धते । कौ० ३।४। ब्राह्मणों में समिध् के अर्थ अग्नि,  
गर्भ, वसन्त और प्राण मिलते हैं ।

(ii) इस समिधा के आधान के लिये न तो यहां पर पारस्कराचार्य ने  
कोई मन्त्र प्रस्तुत किया है, न भाष्यकारों ने ही । आगे० सू० ५४ में भी  
समिधाधान का विधान और ५५ में उस समय बोले जाने वाला मन्त्र है ।  
अतः या तो समिधाधान का प्रकृत स्थल पर विधान करने वाला सूत्र पुनरुक्ति  
होने और मन्त्रहीन क्रिया का विधायक होने से प्रक्षिप्त है, अथवा यहां पर  
दस० के संधि० के वर्णन के अनुसार 'अयं त इध्म आत्मा' 'समिधाग्निं  
दुवस्यत, सुसमिदाय शोचिषे' तथा 'तन्वा समिद्धिरङ्घ्रिरो०' मन्त्रों से समिधाधान  
अभीष्ट है । यह भी सम्भव है कि अथ तक अग्नि का कुछ मन्त्र पढ़ जाना  
स्वाभाविक था । अतः इस स्थल पर सामान्यरूप से बिना मन्त्र पढ़े यगवेदी,  
में अग्नि में समिधाएं डाल दी जाएं । उपरोक्त तीनों मन्त्रों का यहां विनियोग  
आचार्य पारस्कर द्वारा विहित नहीं है । अतः उन का अर्थ यहां नहीं  
दिया गया है ।

अग्नि का परिसमूहन और उस का भाव

५२. पाणिना—भाष्यकारों का विचार है कि यहां पर 'पाणिना' में  
एक वचन के प्रयोग से एक हाथ से ही क्रिया का विधान अभीष्ट है, दोनों  
हाथों से नहीं । कई क्रियाओं में अग्नि का संघुत्सय दोनों हाथों से किया जाता  
है, परन्तु यहां नहीं ।

(ii) 'पाणि' शब्द 'पण स्तुतिव्यवहारे च' से बनता है । कुछ विद्वानों  
का विचार है कि यह पद केवल स्तुत्यर्थक 'पण' धातु से सिद्ध होता है ।  
परन्तु यह स्थिति ठीक प्रतीत नहीं होती । दयानन्द सरस्वती जी ने अपने  
वेदभाष्यों और उ० ४।१३३ के भाष्य में इसे व्यवहारार्थक भी माना है ।  
यास्क का भी यही मत है (देखो महर्षि दयानन्द और देवताशब्द का अर्थ

१३-१८) । अतः पाणिनाऽपि 'परिसमूहति' का आन्तरिक भाव यह हुआ—  
 'अपने व्यवहार से ब्रह्मचारी वेदज्ञान, अध्यात्मज्ञान और यज्ञकर्म रूप अग्नि  
 को एकत्रित कर प्रदीप्त करता रहे ।' परिसमूहति—परि+सम्+√ऊह्+  
 लट् प्रथम पु० एक व० । भाष्यकारों ने इस का अर्थ १. 'संधुक्षण—तेज  
 करना, प्रचण्ड करना, जगाना' किया है । आपटे के संस्कृत अंग्रेजी कोष में  
 २. 'चारों ओर जल से छिड़कना' विको० में '३. इकट्ठा करना, ४. जमा  
 करना', सशकौको० में '५. एकत्र करना, ६. यज्ञाग्नि में समिधा डालना,  
 ७. यज्ञ में अग्नि के चारों ओर गिरे हुए वृण आदि को आग में डालना,  
 ८. यज्ञाग्नि के चारों ओर जल से मार्जन करना' किये हैं । यहाँ पर सू० ५१  
 की दृष्टि में अर्थ सख्या २, ६ और ८ समव नहीं । तीव्र अग्नि को जल से  
 छिड़कना उस के वेग को मन्द करने के लिये होता है । समिधाएँ डालते ही  
 जलसेचन अनावश्यक है । वैसे भी इस का विधान आगे सू० ५४ में  
 किया गया है । 'अदिनेऽनुमन्यस्व' आदि में जलप्रवेचन का पूरा विधान  
 न होने से यह भी अभिप्रेत नहीं है । अर्थ स० ७ में 'परिसमूहति' के साथ  
 कर्म और 'अग्नि में सप्तमी विभक्ति आनी चाहिए थी । अतः प्रकरण में शेष  
 अर्थ ही अभीष्ट हैं । सच० ने 'इकट्ठा करना' अर्थ ग्रहण किया है ।

५३. सुभ्रवः—शोभन भवो यस्य स । सम्बोधन एक व० । अत्र  
 निघ० २।७।४ ब में अत्र ऋ और २।१०।२६ में धन का वाचक माना गया है ।  
 विको० ने 'तीव्र गति और धारा' अर्थ भी दिए हैं । उत्तम धन, कीर्ति और  
 कर्मों वाला । सौभ्रवसम्—सुभ्रवाश्चासौ सौभ्रवस तम् । सुभ्रवन् और  
 सौभ्रवस—दोनों का एक ही अर्थ है । जयराम लिखते हैं कि "मेरे गुरु को  
 सुभ्रवस् बनाओ । उन ऋ शिष्य होने से मैं 'सौभ्रवस' ही हो जाऊँगा ।"  
 यह भाव ठीक नहीं क्यों कि इस में गुरु को पहले से अरुसुभ्रवस् समझने की  
 भावना अवगत होती है । निधिपाः, निधिपः—निधि कोष पाति रक्षतीति ।  
 वेदस्य—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । ब्राह्मणों में 'ब्रह्म,  
 सविता, ये लोक, वाऋ और प्रथीविद्या' को 'वेद' कहा है । 'यत्, भूर्भुवः स्व,

सत्य' आदि को त्रयीविद्या नाम दिया गया है। इन सत्य की रक्षा की भावना गौण रूप से और अग्न्यजुःसामाथर्ववेदों की प्रमुख रूप से अभिप्रेत हैं। मनुष्याणाम्—मनुष्यों में, अथवा मनुष्यों के लिए निर्मित ( वेद का )। जयराम 'और मनुष्यों का भी रक्षक' अर्थ लेते हैं। देवानाम्—जयराम—दीव्यन्वि प्रकाशन्त इति देवा अंगानि इन्द्रादयो वा। शरीर के अंग अथवा इन्द्र आदि देवता। परन्तु प्रकरण में 'विद्वान् अथवा सूर्य आदि भौतिक पदार्थ' अर्थ ही संगत होते हैं। यज्ञस्य—जयराम—वेद, विष्णु।

(ii) अग्ने सुश्रवः०—इस मन्त्र के उत्तरार्ध का संस्कारचन्द्रिका का अर्थ यह है—'हे (अग्ने) भौतिक अग्ने! (देवानाम्) जल आदि देवताओं के बीच में (त्वम्) तू (यज्ञस्य) यज्ञ हवनादि क्रिया और शिल्प विद्या आदि के (निधिपा) कोश का रक्षक (असि) है (एवम्, अहम्) ऐसे ही मैं (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के बीच में (वेदस्य) वेदविद्याज्ञान सम्बन्धी सत्य विद्या के (निधिपा) कोश का स्वामी, ईश्वर करे कि (भूयासम्) हाँकें।' पृ० ४३३।

### अग्निपरिसमूहन में विनियुक्त मन्त्र

(iii) हरिहर आचार्य लिखते हैं कि सू० ५२ के अग्निसमुहण में पांच मन्त्रों का प्रयोग होता है और कुछ आचार्यों के मत में तीन मन्त्रों का। वे तीन मन्त्र सू० ५३ में (१) 'अग्ने...मा कुरु,' (२) 'यथा त्वमग्ने सुश्रवः...सौश्रवसं कुरु' और (३) 'यथात्वमग्ने देवानाम्... भूयासम्'। जो आचार्य पांच मन्त्र मानते हैं वे इस मन्त्र के भाग ऐसा करते प्रतीत होते हैं—१. अग्ने...कुरु। २. यथा...सुश्रवा असि। ३. एवं... सौश्रवसं कुरु। ४. यथा त्वमग्ने...निधिपा असि। ५. एवमहं...भूयासम्।

५४. प्रदक्षिणम्—अर्थात् प्रदक्षिणा करते हुए। पर्युक्ष्य—परि + उक्ष् + ल्यप्। सींच कर, छिड़क कर। इस से अग्नि का वेग कुछ कम हो जाता है। यह क्रिया शान्ति की प्रतीक है। मन्त्राचारी ज्ञान और शक्ति से

प्रदीप्त हो कर भी शान्तचित्त रहे। ममिधम्—गदाधर आचार्य सू० ५१ में भी तीन ममिधायों का प्रक्षेप मानते हैं।

०५ आहार्यम्—ग्रा + √हृ + लुक् प्रथम पु० एक व०। आहृ—लाना, देना। जातवेदसे—तच्च०—ज्ञान देने वाला ईश्वर। गदाधर—जानान् जानान् वेत्तीति जातवेदास्तस्मै। नमस्त उत्तर पदार्थ आदि को जानने वाला। ब्राह्मणों में यह पद 'प्राण, वायु, समस्त उत्पन्न वस्तुएँ' का वाचक माना गया है। ऋ० ३।२६।७ में अग्नि जन्म से ही 'जातवेदम्' है। वेद में यह 'अग्नि' के विशेषण के रूप में आया है। नि० ७।१६ में कहा गया है कि उत्पन्न वस्तुओं को जानने वाला, जिस का उत्पन्न प्राणी जानते हैं, समस्त पदार्थों में निवृत्तमान, जातचित्त जातवन, जातविप्र या जातप्रज्ञान होने से ही जातवेदा होता है। दस० ने इसे 'परमात्मा' का वाचक माना है। अग्ने—यह सम्बोधन प्रयोग की शैली मात्र है। यदा प्रथमान्त रूप ही अभीष्ट है, सम्बोधन नहीं। मध्या—मधने सगच्छते सर्वमन्याम्। अज्ञोमु० १।५।२। √मेधृ सगमे + अ। यहा पर धातुपाठ में 'मिह मेह मेधाहिसनयो। मेधृ सगमे च। (मिधृ मेधृ मेधाहिसयोरित्येके। मिधृ मेधृ इत्यन्ये।)' पाठ है। यहा पर कोष्ठकों में प्रदत्त अश सिद्धौ० (बालमनोरमा) में नहीं हैं। हम में 'मेधृ' पाठ अनावश्यक है, क्योंकि यह धातु पहले ही पढ़ी जा चुकी है। शेष में 'च' के प्रयोग से पहली धातुओं के अर्थ मेधा और हिसन भी सगत होते हैं। अतः मेधृ के अर्थ मेधा, हिसन और सगम होते हैं। मेधा में अज्ञान की हिसा और ज्ञान का सगम (=प्राप्ति, मेल) होता है। गदाधर—अतीतादिधारणवती बुद्धि। प्रजया—सामान्यतः इस का अर्थ सन्तान होता है। ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा का व्रत ले रहा है, सन्तानोत्पात का नहीं। अतः यह अर्थ प्रकरण में असगत है। ब्राह्मणग्रन्थों ने इस के अर्थ 'विश्वज्योति, इषः, भूतानि, बर्हि, शस्त्रम्, उक्थानि' भी दिए हैं। अतः यहा पर विश्व ज्योति, अन्न आदि अर्थ अभिप्रेत हैं। पशुभिः—पशुओं—गाय, बैल, घोड़े आदि से। यत्रपि गुरुकुल में इन तीनों पशुओं का परम उपयोग था और वे

यहां पाले जाते थे, परन्तु वे ब्रह्मचारी के अपने धन नहीं होते थे । अतः वह अर्थ भी प्रकरण में विशेष संगत नहीं ।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पशवः' के अर्थ—'अग्नि, सविता, देवी विश्व, गन्ध, धृतक्ष्युतः, हविः, श्री, वश, शान्ति, रस, पुष्टि, पूषा, प्रजापति की कल्याणी तनू, प्राण, वाज, अन्न, धान, गृह, आत्मा, यज्ञ, द्युन्दासि और वपुः' आदि दिए गए हैं । इन में से देवी विश्व (तु० क० देवी सम्पत्—गीता १६।१-३), शान्ति, पुष्टि, यज्ञ' आदि सामान्य रूप से और 'प्रजापति' की कल्याणी तनू' विशेष रूप से संगत होते हैं । कठोपनिषद् १।२।१-२ में सांसारिक सुखों को प्रेयः और पारलौकिक या पारमार्थिक सुख को श्रेयः कहा है । यही प्रजापति की कल्याणी तनू है । अतः पशुभिः' का अर्थ कल्याण और शान्ति किया जा सकता है । य०४०। ११, १४ के अनुसार दोनों ही प्रकार के सुखों की प्राप्ति ही वास्तविक कल्याण प्रदान करती है । प्रकृत मन्त्र में आयु आदि से प्रेयः और पशुभिः से श्रेयः की कामना की गई है ।

(iii) जीवपुत्रः—जीवन्तः पुत्रा यस्य सः । दीर्घजीवी पुत्रों वाला । इस पद का संहिताओं का प्रयोग इसी अर्थ की ओर संकेत करता है—तु०क० 'जीवपुत्रा पतिलोके वि राज प्रजां पश्यन्ती मुमनस्यमाना' ॥ खि० २।११।३। तं त्वा दग्मती जीवन्ती जीवपुत्राशुद् वासयातः पर्यग्निधानात् ॥ अवे १२।३। ३५ । वयं जीवा जीवपुत्रा अनागतः ॥ ऋ० १०।३६।६ । 'जीव' पद ऋ० १।६।२ में अग्नि का विशेषण है । जो 'जनिष्ठा' है; ऋ० १।११३। १६ में 'असुः' का विशेषण है । ऋ० ५।४४।५ में मेधावी, विद्वान् का संतक प्रतीति होता है (देखो दशानन्दभाष्य) । अवे० १६।७०।१ में यह सूर्य, इन्द्र और देवताओं का विशेषण है । अवे० १४।२।४४ में यह मिथ्याप यशस्वी युवक के लिए प्रयुक्त हुआ है । सामान्यतः यह पद संहिताओं में जीव, प्राणिभाव और जीवित के अर्थ में आया है । अतः भाष्यकारों के उपरोक्त अर्थ के साथ जीवपुत्र का अर्थ—गतिशील, बुद्धिमान् और वंश के समुदाय ( तु० क० स जाता येन जातेन याति वंशः समुद्यतिम् ) का पुत्र' अर्थात् 'पत्न

गतिशील, बुद्धिमान् और यशस्वी' किया जा सकता है। इस की पुष्टि ब्रह्म-चारी की 'मेधावी, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चसी, अन्नाद और अनिराकरिष्णु' होने की प्रार्थना से होती है। ब्रह्मचारी अपने आचार्य के सदृश होना चाहता है। अनिराकरिष्णुः—जयराम—गुरु द्वारा बताये गये धर्म आदि को न भूलने वाला। सच० किसी का निरस्कार न करने वाला। यह पद न निराकरिष्णु ( निर् + आ + √ कृ + इष्णुच् ) से बनता है। निराकरण के अर्थ सशकीको० में '(१) शमन, (२) निवारण, (३) पण्डन, (४) देश निर्वासन, (५) तिग्स्कार, (६) मुख्य यज्ञीय कर्मों की अवहेलना' दिये गये हैं। इन में छूटा और तीसरा अर्थ भी उपरोक्त अर्थों के साथ प्रकरण में उपयोगी हैं। ब्रह्मवर्चसी—सच०—ब्रह्मसम्बन्धी तेज वाला अर्थात् आत्मिक बल वाला। जयराम—यान्नादितेजोयुक्त। प्रकरण में ब्रह्म का वेद अर्थ अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। अतः वेदज्ञान के तेज से युक्त। अन्नादः—अन्नमत्तोत्पन्नाद। समस्त भोग्य पदार्थ 'अन्न' होते हैं क्यों कि 'भोगना' 'साने' के भाव का ही विस्तार है इसी लिए ब्राह्मणों में 'अन्न' के अर्थ शान्ति, पशु, श्री प्राण, वान, सप्त सग्यक, दधि मधु घृत, समस्त भूतों की आत्मा और रेतः' आदि दिए गए हैं। 'अन्न' को वहाँ 'वैश्वदेव' भी कहा गया है। देखा वैको० पृ० ३०—३१। अतः यहाँ 'समस्त भोग्य पदार्थों का भोक्ता' अर्थ अभिन्नेत है। स्वाहा गदाधर—सुहृतमस्तु। यह सु + आ + आह से बना है—सत्र चार से सुन्दर कथन। इस मन्त्र में कुछ प्रार्थनाएँ हैं। यहाँ पर उन प्रार्थनाओं की सफलता की कामना व्यक्त की गई है। वेदभाष्यों में स्वा० दयानन्द सरस्वती के अर्थ और वैदिक कोष में स्वाहाकारक अर्थ भी अवलोकनीय हैं। मयदूत ४७ की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० ८१ पर पादटिप्पणी भी देखें।

५६. दूसरी और तीसरी समिधाओं को डालते समय मन्त्र सं० ५५ को प्रत्येक बार पढ़ना होता है।

५७. एषा ते—समिधाधान में 'अग्नेये समिधमाहार्यम्' के स्थानपर

‘एषा ते’ मन्त्र से समिधा दे । अथवा ‘अग्ने समिधम्’ और ‘एषा ते’ दोनों मन्त्रों को मिला कर पढ़े ।

एषा ते मन्त्र और उस का अर्थ

(ii) ‘एषा ते’ मन्त्र यह है—

“एषा ते अग्ने समिध् तया वर्दस्व चाय प्यायस्व ।

वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥

अग्ने वाजजिद् वाजन्वा सस्रवाँसं वाजजित सम्मार्त्विम ॥ य० २।१४

(iii) इस का अर्थ यह है—

[अग्ने] हे अग्नि [एषा] यह [समिध्] समिधा [ते] तुम्हारे लिए (हे) । [तया] उस से [वर्दस्व] प्रदीप्त हो [च च] और [आप्यायस्व] (मुक्त ब्रह्मचारी को) बढ़ाओ । [च] और [वयम्] हम [वर्धिषीमहि] वृद्धि को प्राप्त करें [च] और [आ] सब ओर से [प्यासिषीमहि] (दूसरों को) बढ़ा सकें । [अग्ने] हे अग्नि [वाजजिद्] ज्ञानसम्पन्न हुआ (मैं) [वाजम्] शक्तिशुंज [सस्रवांसम्] गतिशील [वाजजितम्] अन्न आदि के उत्पादक [त्वा] तुम को [सम्मार्त्विम] प्रदीप्त करता हूँ ।

समिधाधान का भाव

(iv) भाव यह है कि जिस प्रकार अग्नि समिधा से प्रदीप्त होती है उसी प्रकार मैं ज्ञान से चमक कर लोक का कल्याण कर सकूँ । विविध पदार्थों के ज्ञान के लिए शक्ति, गति और उत्पादन के परम साधन अग्नि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर प्रयोग कर सकूँ ।

(v) समिधाधान के दोनों मन्त्रों में अग्नि परमेश्वर की प्रतीक है । परमेश्वर ही ब्रह्मचारी की समस्त कामनाओं-को पूरा कर सकता है । भौतिक अर्थनहीं । प्यायस्व—√प्याय्+लोट् मध्यम पु० एक व० । बढ़ाना । वर्धिषीमहि—√वृध्+वद्ना+आशीर्लिङ् उत्तम पु० बहु व० । प्यासि-



पीमहि—यह √'प्ये' से आशीर्षिङ् का रूप है। वाजजित्—वाज के अर्थ पहले दिए जा चुके हैं। जित् जीतने वाला। अतः समर्थ, सम्पन्न। अग्नि के पक्ष में—अन्न आदि के अभाव को जीतने वाचा=अन्न आदि से समृद्ध करने वाला, अतः अन्न आदि का उत्पादक। समृत्वांसम्—√सृ जाना करसु+पुल्लिङ् द्वितीया एक व०। गतिशील। सम्मार्जिम—साफ करता हूँ, प्रदीप्त करता हूँ।

### जलसेचन

५८ पूर्ववत्—पहले के समान, जैसा ऊपर सू० ५२ और ५४ में बताया है। इस परिसमूहन (=अग्नि को एकत्र कर प्रज्वलित करना) और पर्युक्षण (अग्नि को जल से छिड़कना) के एक साथ वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यहा पर यज्ञवेदी के चारों ओर 'अदितेऽनुमन्यस्व (पूर्व में)' 'अनुमतेऽनुमन्यस्व (पश्चिम में)' 'सरस्वत्यनुमन्यस्व (उत्तर में)' और "देव सवितः प्रसुत्र यज्ञ प्रसुत्र यज्ञति भगवो दिव्यो गन्वर्यः केतपूः केत न पुनातु वाच स्वतिर्वाच न. स्वदतु ॥ (चारों ओर)" से जलप्रसेचन अभीष्ट हो, अग्नि पर जलसिंचन नहीं। गदाधर के लेख 'पर्युक्षण अग्ने सर्वतो जलासेकः' का भी यही भाव है। क्यों कि अग्नि को प्रदीप्त करते ही उसे शान्त करना कुछ कम समय में आता है। आध्यात्मिक दृष्टि से परिसमूहन और जलप्रसेचन के एक साथ करने से 'बड़े हुए उन्नत पुरुष को उन्नति के साथ-साथ शान्ति को धारण करना परम आवश्यक है' यह भाव निकलता है। इस जलप्रसेचन का विधान स्वा० दवानन्द सरस्वती ने सस्कारविधि में किया है।

### हाथ तपा कर अंगों के स्पर्श का लक्ष्य

५९. प्रतप्य—प्र+√तप्+ल्यप्। विमृष्टे—वि+√मृश्+लट् प्रथम पु० एक व०। मलता है। इस कार्य को करने से यज्ञाग्नि से उठती हुई आहुतियों में डाले हुए द्रव्यों के परमाणुओं से समृद्ध और अनेक प्रकार के गुणों से युक्त वायुओं का विशेष संपर्क प्राप्त होता है और वह चित्त को

प्रसन्न और मुख को कान्तिमय कर देता है। यज्ञ में जो पदार्थ डाले जाते हैं वे सुगन्धयुक्त और पौष्टिक तो होते ही हैं साथ ही विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के उत्पादक भी होते हैं। विस्तार के लिये डा० सत्यप्रकाश की पुस्तक 'अग्निहोत्र' देखें। यहां पर लोक में हाथों पर आहुतियों के पश्चात् जल में डाली हुई घृत की बूंदों को मलने की प्रथा देखने में आती है।

६०. तनूपाः—तनू पातीति तनूपाः। ऐ० २।४ के अनुसार प्राण 'तनूपात्' है क्योंकि वह शरीर की रक्षा करता है। श० १।५।४२ में 'रेतस् (=वीर्य)' को 'तनूपात्' कहा है। शरीर की स्थिति वीर्य से ही होती है। 'तनूपात्' 'अग्नि' का प्रसिद्ध नाम है। उचर अग्नि के अर्थों में 'प्राण' और 'रेतस्' भी मिलते हैं। घृतः प्राण और रेतस् को प्रतीक अग्नि से शरीर को रक्षा की प्रार्थना की गई है। आयुर्दाः—आयुः ददातीति। इत्यते प्राप्स्यते यत्तदायुः। जीवनं वा। (दसउ० २।११८) अथवा, एति प्राप्नोति सर्वानित्यायु-जीवनकालः (दसउ० १।२)। दोनों स्थलों पर दोनों ही व्याख्यान संभव हैं, केवल प्रत्यय का भेद है। आयुःपद गतिशील काल का वाक्य है। इसी लिए इस के अर्थों में 'संवत्सर, यज्ञ, लोक और अग्नि का भी महत्त्व किया गया है। अग्नि गतिप्रदान करती है। सूर्य और चन्द्र के रूप में वह समय (=संवत्सर) का विधान करती है—तु० क० 'ये द्वे कालं विधत्तः।' अभिज्ञानशाकुन्तल १।१। वर्चोदाः—अग्नि वर्चम्=तेज का कोश है, यह मुज्ञात है। तन्याः—तनाः। शरीर का अर्थात् शरीर में। ऊनम्—कमी। आपृण—आ + √पृण् प्रसन्न करना, शान्त करना—लोट् मध्यम पु० एक य०। (कमी को) शान्त कर दो, (कमी को पूरा कर के) प्रसन्न करो। अतः अनुवाद में 'पूरा करो' अर्थ दिया गया है। इसे √पृ पूरा करना से भी लिया जा सकता है।

(ii) वेद में अग्नि को अंगिरा कहा है। ऋ० १०।६०।२ में अग्निरस ऋत के प्रशंसक, सग्लता के धारक, सुपुत्र, अमुर के वीर, विद्वत्प्रदान और यज्ञ के तेज को श्रेष्ठ मानने वाले, ऋ० १।५।३।७ में धनदायक और

आयुर्वर्षक, ऋ० ६।६५।५ में गो (=वाणी=ज्ञान) के वशज और य० ३।४।१७ में पदह और साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले कहे गए हैं। ऐसे व्यक्ति ही राष्ट्र को और समाज को प्राण और आयु देते हैं और उन की कमी दूर करते हैं। अतः यहाँ पर व्यञ्जनावृत्ति से ब्रह्मचारी और उपस्थित विद्वानों और सामान्य जनता को अपने अपने अनुरूप भावनाएँ ग्रहण करने का संकेत है।

६१. देवी—देव-पद का स्त्रीलिंग रूप। ऊपर सू० ३३ में देवपद देखें। सरस्वती—सामान्यतः यह 'विद्या' की देवी मानी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ वारू, जिह्वा, गौ, अमावास्या, योषा, पुष्टि आदि पाये जाते हैं। ऋग्वेद में सरस्वती को पावक, ज्ञान सम्पन्न, सृष्टियों की प्रेरक, बुद्धियों को चिताने वाली कहा है—

‘पावका न सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञ वष्टु धियाऽसु ॥  
 चोदयित्री सुनृताना चेतन्ती सुमतीनाम् । यज्ञ दधे सरस्वती ॥  
 महो अर्थः सरस्वती प्रचेतयति केतुना । धिया विश्वा विराजति ॥’

अतः वैदिक सम्प्रदाय में यह विद्या, ज्ञान और यज्ञकर्म आदि की धोतक है (ऋ० ६।६१, १०।१४।१५ आदि भी देखें)। अश्विनौ—ये युगल देवता हैं। ऋग्वेद में ये इन्द्र, अग्नि और सोम के पश्चात् आते हैं। इन सूक्तों में बहुत से चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है। इन के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों ने बड़ा विचार किया है। वस्तुतः कोई एक अर्थ वा दृश्य आदि इन के समस्त मन्त्रों की सगति नहीं लगा सकता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अनेक अर्थ दिए गए हैं। शतपथब्राह्मण ४।१।५।१६ में अग्नि और आदित्य से युक्त पृथिवी और धुलोक को पुष्करखनी अश्विनौ कहा है। इस पद के अन्य अर्थों में शीत, नासिका, अध्वर्यु, देव मिपञ्ज भी आते हैं। श्रीमैकडोनल इन्हें प्रकाश के देवता मानते हैं और इस

पद की व्युत्पत्ति 'अश्न + इन्'—घोंड़े वाला देते हैं। यास्क (जि० १२।१) के कथनानुसार कुछ आचार्य इन्हें अशोरात्र, कुछ कर्वाचन्द्रमती और कुछ पुण्य कर्म करने वाले दो राजा मानते हैं। प्रकरण में इन में से कोई अर्थ संगत नहीं होता है। आद्याग्रिथी आदि जड़ वस्तुएं चेतन ब्रह्मचारी को मेधा प्रदान करने में समर्थ प्रतीत नहीं होतीं। अध्वर्यु के अर्थ मन,<sup>१</sup> चक्षु,<sup>२</sup> और प्राण, उदान<sup>३</sup> दिए गए हैं। मन और चक्षु ज्ञानेन्द्रिय हैं। वे विषयों का साक्षात्कार कर मानव के ज्ञान और उस के द्वारा मेधा को बढ़ाते हैं। भाव यह है कि मन और चक्षु से विषयों का ज्ञान यथार्थ हो और वह ब्रह्मचारी के स्वभाव पर गहरा प्रभाव डाल सके।

(iii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अश्विनी के अनेकविध अर्थों में 'अध्यापक और उपदेशक' अर्थ भी दिया है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक संगत है। उपनयन के समय यदि बालक अध्यापक और उपदेशक से ज्ञान और स्मरणशक्ति बढ़ाने के उपायों—योग आदि के निरन्तर उपदेश की प्रार्थना करे तो उपयुक्त हो है। अश्विन्-शब्द √अश् व्याप्ती से बनता है और अध्यापक तथा उपदेशक का वाचक बन जाता है।

(iv) हठयोग के पट्कमल और कुण्डलिनी के सिद्धान्तों की दृष्टि में अधिनी को प्राण और अपान भी माना जा सकता है। दस० ने 'इमं मे मंगे यमुने' आदि मन्त्रों में हठयोग का दर्शन किया है। देखो ऋभाम० पृ० ३७६। पुष्करस्त्रज्ञौ—श० ७।४।१।१३ के अनुसार अपस् के रस का ऊपर कर के उस को पुर-वत् रत्नक बनाना 'पुष्कर' है। अपस् के अर्थ 'प्राण, अमृत, शान्ति, प्रतिष्ठा, भद्रा, यज्ञ, सर्व देवाः' आदि हैं। ऊपर पुष्करपर्णम् (पुष्कर का पत्ता) के अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् भी हैं। अतः पुष्करस्त्रज्ञौ का अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् से सम्बन्ध व्यक्त है। संच० का 'कमल की मालाओं से सजे हुए' अर्थ बहुत शोभन नहीं है।

६२. अंगान्यालभ्य जपति—यह अगस्त्यं पारस्करिय नहीं है, परन्तु द्म सूत्रों में यह अरा परिशिष्ट रूप में पहण किया गया है और इनी लिये षोष्ठकों में रक्सा गया है। पारस्करिय शाखा में यह क्रम से स्वीकृत हुआ यह जानना सम्व नहीं जान पड़ता। अन्य सूत्रकारों ने द्म का विधान माना है। दस० ने यहाँ प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक् पृथक् वाक्य दिया है। यथा ॐ “वाक् म आप्यायताम्। ॐ प्राणश्च म आप्यायताम्। ॐ चक्षुश्च म आप्यायताम्। ॐ श्रोत्र च म आप्यायताम्। ॐ यशो बल च म आप्यायताम् ॥” जयराम ने भी ‘तत्र वाक् च म आप्यायतामिति क्रिया रिपरिणाम कुर्यात्’ लिख कर दस० के समान प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक् पृथक् वाक्य की योजना का विधान माना है।

(ii) आलभ्य—आ+√लम्+ल्यप्। चारों ओर से प्राप्त कर के =स्पर्श कर के। इस धातु के अर्थ में कालान्तर में परिवर्तन हो गया और आ+√लम् हिंसा अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। तु० क० सुरमितनया लम्भजा रन्तिदेवस्य कीर्तिम्। मेघ० १।४६। इस अर्थपरिवर्तन के कारण अभ्य पशुओं का वध कर उन्हें यज्ञ में डालना प्रारम्भ हुआ। वैदिक विषयों और तत्सम्बन्धी स्थलों पर आ+√लम् का पूर्वोक्त मूल अर्थ ही लगाना उचित प्रतीत होता है। जपति—तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन के इस सूत्र के अनुसार किसी विषय के मान वा अर्थ को मन में विचारना, धारण करना ही जप है। अतः मन ही मन (—उपाशु या मौन रूप में) किसी विषय वा मन्त्र आदि का पुन पुन उच्चारण करना जप नहीं है। यहा पर ‘वाक् च म आप्यायन्ताम्’ आदि के जप में क्रिया के साथ ‘वाक्’ आदि की वृद्धि की भावना भी मन में धारण करनी अभीष्ट है।

तिलक लगाना

६३. व्यायुपमिति—भाष्यकारों के मत में ‘प्रतिमन्त्रम्’ का अर्थ ‘व्यायुपम्’ के चार पाद हैं। प्रत्येक पाद से एक एक क्रिया करे। ‘व्यायुप जमदग्ने’ से ललाट पर, ‘कश्यपस्य व्यायुपम्’ से मीवा में, ‘वहेवेपु व्यायुपम्’

से दाहिने कन्धे पर (अथवा दोनों बाहुओं के मूल में—शुकदेव) और 'तन्नो अस्तु ज्ञायुषम्', से हृदय पर राख से 'त्रिपुरङ्ग तिलक' लगाए । परन्तु यदि विधानकर्त्ता का यही अभिप्राय होता तो वे प्रतिपादम्' पद का प्रयोग करते । अतः सम्भव है कि उन्हें यहां चार मन्त्र अभिप्रेत हों । जिन को परम्परा अब विस्मृत हो गई है । इन में से दो काख यजुर्वेद संहिता में प्राप्त 'येन धाता बृहस्पतेरिन्द्रस्व चायुषेऽवपत् । तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय ॥ दीर्घायुन्वाय वलाय वर्चसे । सुप्रजास्त्वाय चासा अथो जीव शरदः शतम्' ॥ (१।७५-७६) और एक माध्यन्दिन यजुर्वेद संहिता का ३।६३- 'शिवो नामासि स्वधित्तिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः । निवर्त्तयाम्यायुषेऽग्नाथाय प्रजननाय रायस्योपाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥' हो सकते हैं । कर्क आदि सभी भाष्यकारों का विचार है कि अंगालम्भन और ज्ञायुषपतिज्ञककरण पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है और इसी लिए उन्होंने इस का विधान नहीं किया है । इस विधि में ये दोनों प्रयोग परम्परा से शिष्टों में प्रचलित होने से अन्य ग्रन्थों से ले कर यहां सम्मिलित कर दिए गए हैं ।

ज्ञायुषं जमदग्नेः का अर्थ

(ii) इन मन्त्रों के अर्थ इस प्रकार है—

[जमदग्नेः] परम गतिशील जनों का [ज्ञायुषम्] विद्या, बुद्धि, और धर्माचरण से प्राप्त बुद्धि, बल और पराक्रम का गुण [करयपस्य] क्रान्तदर्शी अध्यापकों का [ज्ञायुषम्] अवश्य मनन और निदिध्यासन का गुण और [यत्] जो [देवेषु] विद्वानों का [ज्ञायुषम्] चार आश्रमों, चार वर्णों और परोपकार का गुण (है) [तत्] वह [ज्ञायुषम्] तीन प्रकार का गुण [नः] मुझे [अस्तु] प्राप्त हो जाए ।

(iii) देवेषु—शतपथब्राह्मण में विद्वानों को 'देव' कहा गया है । ज्ञायुषम्—आयु की व्युत्पत्ति √इ धातु से दी जा चुकी है । जो प्राप्त हो वह आयु है । अतः यह गुण का वाचक है । देव्यो व० ३।६२ में दस०

का भाष्य । त्रिभिः गुण का व्याख्यान प्रत्येक स्थल पर 'देव' 'जमदग्नि' और 'कश्यप' के ग्रथो के अनुरूप करना होगा । विद्वान् आश्रमो और वसो के धर्मो का पालन कर के अपने को उन्नत कर राष्ट्र और मानव जाति का उपकार करते हैं—नु० क० यदि द्विवृषोऽसि सृजामसोऽसि॥ अवे० ५।१६।२ । जमदग्निः—शतपथ ब्राह्मण में सप्तार के द्रष्टा और मनन करने वाले को जमदग्नि श्रृष्टि कहा है । वहा इस का अर्थ प्रजापति भी किया गया है । यास्क ने इस का व्याख्यान 'प्रजमितामयो वा प्रज्जलितामयो वा' किया है । 'प्रजमित' के स्थान पर दस० ने 'प्रजवित (य० ३।६२ का भाष्य) और डा० पतहसिंह ने 'प्रयमित' (वैए० २६४) पढ़ा है । तीनों पद क्रमशः √जम् मक्षण करना, √जव् जाना (निघ० २।१४।१०५), √यम् उपरमे (वश में करना आदि) से बनते हैं । अतः दुर्गुणों का नाशक, प्रगतिशील समयी यज्ञमय पुरुष । ऐसा व्यक्ति ही राष्ट्र का चनु होता है । इस लिए उस का गुण 'विद्या बुद्धि और धर्माचरण से विशिष्ट शुद्धि बल और पराक्रम' होता है ।

(iv) कश्यपस्य—तैत्तिरीय आरण्यक में 'कश्यपः पश्यको भवति' कह कर इसे √दृश् से व्युत्पन्न किया है । देखने वाला, अतः क्रान्तदर्शी । प्रकरण ब्रह्मचर्यव्रतधारण का है । अतः वहा 'अव्यापक' का बाध ही अभिप्रेत है । कश्यप प्रजापति और आदित्य का भी नाम है । इस पद के प्रयोग से 'प्रजापति के सदृश, अखण्ड, सत्य ज्ञान वाला, क्रान्तदर्शी अव्यापक' भाव व्युत्पन्न किया गया है । वैए० २२८, दस० य० ३।६२ का भाष्य, ऋत्तमाभू० पृ० ३७१ । अरण्य मनन और निदिध्यासन से ही मनुष्य 'कश्यप' या क्रान्त द्रष्टा बन सकता है ।

येन धाता मन्त्र का अर्थ—

(ii) [धाता] ईश्वर ने [येन] जिस (वेदज्ञान) से [बृहस्पतेः] वेदज्ञान के पारगत [च] और [इन्द्रस्य] परमेश्वर्यशाली ब्रह्मचारियों को [आयुषे] गुणप्राप्ति के लिए [अवपत्] प्रवृत्त किया है (श०—बोया है)

[तेन] उक्त [ब्रह्मणा] वेदज्ञान से [ते] तुम्हारी [जीवनाय] आयु को [जीवातये] गतिशील बनाने के लिए [वपामि] धारण करता हूँ।

(vi) यह कारवर्षहिता का मन्त्र है और भाव्यमिदन में उपलब्ध नहीं होता है। अक्षपत्—√घप् दोना से लङ् लकार प्रथम पु० एक व०। दोना, स्थापित करना, जमाना, धारण करना, धारण कराना। अतः हिन्दी अनुवाद। तु०क०—'तस्माच्चक्षत् सर्वहुत श्रुचः सामानि जग्निरे। ह्यन्दासि जग्निरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।' प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ईश्वर ने वेदों का प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में मानव के कल्याण के लिए दिया था। जीवातये—जीने के लिए। यह√जीघ् से तुमर्थ में वैदिक रूप है। जीवनाय—जीवन के लिए। दोनों पदों के प्रयोग से अर्थ में पुनरुक्ति आ जाती है। अतः जीवातये को गत्वर्थ में लिखा गया है। प्राणधारण गति ही है। जीवन = जल = रस = अमृत—इस प्रकार जीवनाय का अर्थ 'रस और अमृत की प्राप्ति के लिए' भी किया जा सकता है।

(vii) दीर्घायुत्वाय मन्त्र का अर्थ

[अथो] और [असौ] वह (में) [दीर्घायुत्वाय] निर काल व्यापी जीवन [वक्ष्णाय] बल [वर्षसे] तेज [च] और [सुप्रजास्त्वाय] कल्याण-कारिणी विश्वज्योति की प्राप्ति के लिए [शतम्] शतकों [शरदः] वर्ष [जीव] जी सङ्ग ॥

(viii) सुप्रजास्त्वाय—प्रजा के अर्थ के लिए ऊपर सू० ५५ की टिप्पणियाँ देखें। शतम्—इसे उपलक्षण लेना उचित होगा। तु० क०—भूवर्ष शरदः शतात्। आयुषं जमदग्नेः मन्त्र के भाष्य में दश० ने तीन सौ और उस से भी अधिक दिन के जीवन की कल्पना की है। असौ, जीव—इन दोनों में पुरुष का व्यत्यय अभीष्ट है। प्रकरण के अनुसार इन को उत्तम पुरुष में लिखा गया है।

(ix) शिवो नामासि मन्त्र का अर्थ

[ते] तुम्हारा [नाम] नाम [स्वधितिः] अपने ज्ञान से धारण (अथवा—



प्रसन्न) करने वाला [पिता] रक्षक (और) [शिवः] कल्याणकारी [अस्ति] है। [नमः] (मेरा) अव्ययन-यज्ञ [ते] तुम्हारे लिए [अस्तु] हो। [मा] मुझे [मा हिंसीः] पीड़ित न करो (अर्थात्—दुःख न हा)। [आयुषे] गतिशील जीवन [अन्नाद्याय] ज्ञान और शान्ति आदि भोगों के उपभाग [प्रजननाय] (स्वर्गों द्वारा) नई-नई सृष्टि [रायस्पोपाय] मित्रा आदि धन की समृद्धि रूप महिमा [सुप्रजास्त्वाय] कल्याणकारिणी विश्वज्योति (और) [सुवीर्याय] कल्याणकारिणी दाहक शक्ति (की प्राप्ति) के लिए [निवर्तयामि] पूर्ण रूप से (ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतीक रूप त्रिपुण्ड्र तिलक) लगाता हू।

(x) नाम—√नम् से। पर्यवसान, स्वरूप की पूर्णता। शिवः—श० ६।७।१।१५ में इसे √शम् शान्त करना से, पपाठ० १।१५३ में √शी सोना से (तु० क० दस० भाष्य) और संशकौज्ञ० में √शो से ०ट्त्सन् क्रिया गया है। इसे 'शि' से 'वन्' लगा कर भी व्युत्पन्न क्रिया जा सकता है। कतिपय विद्वान् इस पद को अनार्य भाषाओं से आया हुआ मानते हैं। पौगण्डिक शिव को भी वे अनार्य देवता मानते हैं। परन्तु सहिताओं में इस पद के प्रचुर प्रयोग, शिवपूजा का बीज व्यम्बक = नारिकेल में होने से यह विचार समीचीन नहीं मालूम पड़ता। अस्ति—अस्ति। पुष्यव्यत्यय। स्वधितिः—निघ० २।२०।१६ में इसे वज्रनामों में पढ़ा गया है। भाष्यकारों ने सामान्यतः यही अर्थ ग्रहण किया है। दस० ने ऋ० १।१६२।१८ में स्वेन धृतौ (द्वियचन) और ऋ० १।१६२।१८ में वितृत् अर्थ किए हैं। ऋ० ६।१६६।६ में स्वधितिर्वनानाम् का प्रयोग गीता के 'वेदाना सामवेदोऽस्मि' (१०।१२२) के समान हुआ है। अतः यहाँ यह किसी वृत्त (अश्वत्य ?) (तु० क० अश्वत्य. सर्ववृक्षाणाम्—गी० १०।२६) का वाचक है। ऋ० १०।१६२।१५ में इसे इन्द्र का विशेषण मानना समीचीन प्रतीत होता है। ऋ० २।२।१०, ३।८।६, और ५।७।८ में यह 'ज्ञान—वेदज्ञान' का वाचक प्रतीत होता है।

१. देवो कोकोनट इज दी ओरिजन औप शिवकल्ड, एस०के० गुप्त, आदश्रोका० १६५८ (संक्षेप)।

(xi) पदपाठकारों ने इस का स्वरूप स्वऽधितिः माना है। धिति-शब्द √धि धारण करना अथवा √धिन् प्रसन्न करना से व्युत्पन्न होता है। (देव्यो विकी० पृ० ५१६ स्तम्भ २, धित और धिति पद)। अतः इस पद का प्रकरण की दृष्टि में अपने शान से धारण और प्रसन्न करने वाला अर्थ किया गया है। अन्य अर्थ प्रकरण में पंगु-से प्रतीत होते हैं। नमः—इस का अर्थ 'नमस्ते', 'प्रणाम' भी किया जा सकता है। श० २।४।२।२४; ७।४।१।३० में इस का अर्थ 'यज्ञ' दिया गया है। अतः यहां अध्यापन-यज्ञ अर्थ ग्रहण किया गया है। हिंसीः—दुर्वांध वस्तु पीडित करने वाली होती है। भाव यह है कि मेरा अध्ययन का परिश्रम सफल हो। यह पद √हिंस् से लुङ् मध्यम पु० एक व० का रूप है। 'मा' के प्रयोग के कारण 'अट्' का लोप हो गया है। निवर्तयामि—मन्व का विनियोग त्रिपुण्ड्र लगाने में किया गया है। अतः अनुवाद में यही भाव ग्रहण किया गया है।

त्रिपुण्ड्र लगाना अनावश्यक।

(xi) त्रिपुण्ड्र को यज्ञोपवीत के समान ही तीन ऋषों आदि का यातक चिह्न माना गया है। यदि इस का लक्ष्य यज्ञोपवीत के लक्ष्य से अभिन्न है तो यह कर्म अनावश्यक है। संभवतः इसी कारण पारस्कराचार्य ने इस का विधान नहीं किया है। वेत्ते भी यह क्रिया वैदिक प्रतीत नहीं होती। अत्रावाय—तां० १।३।६ में अन्न को 'वाज.' और ऐ० ५।२।७ में 'शान्तिः' कहा गया है। अत्तु योग्यमात्रम्—भक्षण, उपभोग के योग्य। प्रजननाय—उत्पन्न करने के लिए। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य काल में पुत्र आदि उत्पन्न नहीं करता है। अतः हिन्दी अनुवाद। रायस्पोपाय—ब्रह्मचारी का धन विधा है। उसी की पुष्टि या समृद्धि अभीष्ट है। श० ३।५।२।१२ में 'भूमा' (महिमा) को 'रायस्पोपः' कहा गया है। सुवीर्याय—कल्याणकारी वीर्य = शक्ति के लिए। तै० १।७।१।२ में 'अग्नि' को वीर्य कहा है। अतः उस में 'दाहक' का भाव निहित है। अतः हिन्दी अनुवाद।

## अभिवादन

६४. यहा भाष्यकारों ने अभिवादन का भी विधान माना है। मूल में उस का कोई निर्देश नहीं है।

## भिक्षा मांगने की रीति

६५-६७—भवत्पूर्वाम्—मान यह है कि ब्रह्मचर्य का इच्छुक भिक्षा मागते समय 'भवान्/भवती भिक्षा ददातु रुहे, छात्र तेज का इच्छुक 'भिक्षा भवान्/भवती ददातु' और वैश्यगुणों में कौशल का अभिलाषी 'भिक्षा ददातु भवान्/भवती' का प्रयोग करे। यहा पर भाष्यकारों ने भवति भिक्षा देहि, भिक्षा भवति देहि और भिक्षा देहि भवति का सम्बोधन बताया है। गदाधराचार्य के मत में भिक्षा अपने वर्ण के कुलों से ही मागनी चाहिए। सभ्यतः वे मानते हैं कि उपरोक्त सम्बोधन से प्रत्येक गृहस्थ ब्रह्मचारी के वर्ण को जान कर अपने वर्ण के ब्रह्मचारी को भिक्षा दे देगा। परन्तु वर्णों का ऐसा दृढ वर्गीकरण पीछे का है, वैदिक काल का नहीं है। अतः ये प्रयोग ब्रह्मचारी की दिवाविशेष के ही द्योतक माने जा सकते हैं।

६८-६९. तिस्रः—माता आदि माग पूर्ण करने वाली तीन, छै, बारह या (आवश्यकतानुसार) अनेक ऐसी स्त्रियों से भिक्षा मागे जो देने में इकार न करें क्योंकि इकार से बालक के मन में द्योभ हाता है। दस० ने माता, पिता, बहन, भाई, मामा, मौसी, चाची आदि से भिक्षा मागना बताया है।

७०. माता कभी भिक्षा के लिये इकार नहीं करती। अतः उस से ही सन से पहले मागा जाता है।

७१. निवेदयित्वा—मागने पर मिली समस्त भिक्षा को आचार्य को दे कर, उस द्वारा दिए भाग से चुधाशान्ति कर बाणी को सयम में रखे, कम और सयत पद गेले अथवा मौन रहे (?)। सस० ७२ की दृष्टि में यहा

मौन रहना अभीष्ट प्रतीत होता है। कर्काचार्य इस मौन को वैकल्पिक समझते हैं।

वनस्पतियों में जीव

७२. अहिंसन्—नञ् + √हिंस् + शतृ + पु० प्रथमा एक व०। हिंसा न करते हुए। अर्थात् विना काटे हुए। प्राचीन भारतीयों के मत में वृक्ष आदि में भी जीव होता है—तृ० क०—मनु० १।४६

“तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।

अन्तःतंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥”

वेद में भी वनस्पति का चेतन अग्नि से तादात्म्य कर के इस भावना का सूत्रपात किया गया प्रतीत होता है। (देखो ऋ० १०।११०।१० आदि)। अतः काटने से वृक्षों को पीड़ा पहुँचती है। ब्रह्मचारी अहिंसाप्रमुख यम-नियम आदि का अतः लेता है। अतः वह वृक्षों को भी कष्ट नहीं पहुँचा सकता है। ऐसी परिस्थिति में सूख कर निर्जीव हो गई शाखा आदि को लाना ही यहाँ अभीष्ट है। अरख्यात्—समिधाएँ जंगल से बीन कर लानी हैं, यस्ती में से मांग कर नहीं। यस्ती में से मांगने में रहस्यों पर अनावश्यक भार, ब्रह्मचारी में अत्यधिक परनिर्भरता की भावना, जंगल में जाने से वहाँ का व्यायाम और शुद्ध वायु से वञ्चित रहना आदि दोष हैं। अरख्य<sup>१</sup> √ ऋ से व्युत्पन्न होने के कारण ज्ञान का स्रोतक है। अतः अरख्य से समिदाहरण में व्यञ्जना से यह अर्थ भी उपलब्ध होता है। समिधम्—समिध् से द्वितीया एक व०। समिधः—पा० मे०। यह बहुवचन का रूप है। तस्मिन्—उर्धा पूर्व की अग्नि में जिस के समस्त यज्ञोपवीत धारण की क्रियाएँ की गई थीं। पूर्ववत्—पहले के समान परिसमूहन, पर्युक्ष्ण और समिधाधान कर के प्रज्वलित अग्नि में यहाँ के लेलानुसार समिधा दें। अथ ब्रह्मचारी शील सकता है। आधाय—आ + √धा + ल्यप्। पं० सुतदेव ने यहाँ उपनयन की दक्षिणा में एक गाय

का विधान माना है (—गो० ए० सू० २।१०।५०) जो नितान्त अप्रासंगिक और अवेदिक है। दक्षिणा ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर देने की परिपाटी लक्षित होती है। देखो रघु और कौत्स का आख्यान।

उपनयन के समय किए जाने वाले उपदेशों का प्रयोजन

७३. ये विधान स्वास्थ्य, वीर्यरक्षा<sup>१</sup> तथा क्रियाशीलता की दृष्टि से किए गये हैं। दस० ने सस्कारविधि में इस अवसर पर दिये जाने वाले और भी उपदेश सरुलित किए हैं।

७४. ये विधान शरीररक्षा, चरित्र में भद्रता और ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से किए गए हैं। दरुडधारण से अपनी और अन्यो की रक्षा सम्भव होती है। अग्निपरिचरण<sup>२</sup> (= हवन) से शारीरिक और आत्मिक शुद्धि होती है। गुरुसेवा से ज्ञान मिलता है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा'। वस्तुतः ज्ञानप्राप्ति में तीनों ही आवश्यक हैं। भिक्षा से अपना और गुरु का तथा अन्यो का निर्वाह होता है। ये दैनिक कृत्य हैं।

७५. ये विधान चरित्रनिर्माण के लिए किए गए हैं। दुर्गुणों से बचना मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य है। मानव की प्रवृत्ति निम्नगामी है। ये सब कर्ष निम्न हैं। बालक की प्रवृत्ति को उच्च बनाने के लिए इन सब से उसे बचाना आवश्यक है यद्यपि गुरुकुल में आचार्य इन का अभाव उत्पन्न कर सकता है। परन्तु बालक मन में भिक्षाकाल में और एकान्त समय में इन कर्मों का चिन्तन और आचरण कर सकता है। अतः ये उपदेश दिए गए हैं। स्वामी शिवानन्द की पुस्तक ब्रह्मचर्य ही जीवन है' में इन उपदेशों की विस्तृत व्याख्या की गई है। मधु—शराय। मांस—यहा पर पशुओं आदि का

१. प० मुखदेव ने 'अक्षारलक्षण' का अर्थ 'संधा नमक' किया है।

२. प० मुखदेव ने इस का भाव यह लिखा है—'जिस अग्नि को स्थापन कर आचार्य उपनयन सस्कार का आरम्भ किए हों उस को सुरक्षित रखे और राय प्राप्त उसी अग्नि में समिध की आहुति प्रदान करे।'।

उन के बंध द्वारा प्राप्त मांस अभिप्रेत है, ब्राह्मणग्रन्थों के उत्तम भाग या पदार्थ नहीं। वेद में मांसभक्षण को बहुत निकृष्ट दृष्टि से देखा गया है। तु० क० 'कृतान्वाय गोघातम्' (य० ३०।१८) तथा 'यो नां रसं दिप्सति पितृो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम् । रिपुः स्तेनः स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि प ईषतं तन्वा त्ना च' ॥ ऋ० ७।१०।४।१० । मांस रजोगुण्य और तमोगुण्य का बढ़ने वाला होने से वर्ज्य माना गया है। मज्जन—भाष्यकारों ने 'हृद्देवतीर्धस्नान' का निषेध माना है। शरीररक्षा की दृष्टि से गहरे, तेज़ धार वाले, मगर आदि से व्याप्त जल में स्नान का और अतिशय स्नान का निषेध ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। उपर्यासन—चारपाई आदि। इस के निषेध का प्रयोजन विलासमय जीधन से बचना प्रतीत होता है। स्त्रीगमन—इस के द्वारा आठ प्रकार के मैथुनों का निषेध अभिप्रेत है। इस का निषेध वीर्यरक्षा के लिए है। स्त्रियों के फेर में पड़ कर मनुष्य उदात्त लक्ष्यों में विफल हो जाता है। इसी लिए उसे नरक का द्वार कहा गया है। सामान्यतः अधिकांश स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा तमोगुणी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। कन्याओं के लिए पुरुषगमन वर्जित है। उन के लिए उन्हें पथभ्रष्ट और आविद्ध उत्पन्न करने के कारण पुरुष नरक के द्वार हैं। अनृत—भूट बोलने से पाप में प्रवृत्ति होती है। अदत्तादान—जो वस्तु अपनी नहीं है और दूसरे ने दी नहीं है उस का लेना चोरी कहलाता है। चोरी से अनेक प्रकार के दोग उपपन्न होते हैं। वह मनुष्य में विकृत वासना उत्पन्न कर उसे कुमार्गगामी कर देती है। इस से बचाने की भावना से ही योगदर्शन में 'अस्तैय' को यज्ञ में रक्खा है। इस उपदेश में अहिंसा, सत्य, अस्तैय, ब्रह्मचर्य और अर्पण—इन पांच योगशास्त्र के यमों का मांस, अनृत, अदत्तादान और स्त्रीगमन का निषेध कर विधान किया है।

ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि

७६. अष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि—ज्वगन्माचार्य के मत में ४८ वर्ष के चारों बंधों का अव्ययन रूप एक ही व्रत अभिप्रेत है। उस में सारे बंधों के मन्त्रों

से आहुति दे कर हवन किया जाता है। प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष की अवधि के निर्धारण में अपने (अथवा ?) वेद की आहुतियां दो जाती हैं। यावद्ग्रहणम् में एक, दो या सत्र वेदों का अध्ययन अभिप्रेत है।

(11) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने छान्दोग्योपनिषद् ३।१६ की व्याख्या करते हुए ब्रह्मचारियों के तीन विभाग माने हैं<sup>१</sup>—१. वसु—२४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर वेद पढ़ने वाले २ रुद्र—४४ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले और ३ आदित्य—४८ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले। पारस्कर के विधान में बालक जल्दी से जल्दी ८ वर्ष का वेद पढ़ना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार वेदाध्ययन के लिए इस विभाजन में अधिक से अधिक ४० वर्ष माने गये हैं। इस अवस्था में प्रत्येक वेद के लिये १० वर्ष का समय बनता है। सूक्त० ७० में विकल्प में प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष का समय बता कर उपरोक्त अवधि को बढ़ाया है, अन्यथा यह सूत्र अनावश्यक था। सूक्त० ७८ में इस अवधि को और भी बढ़ाया है। प्रथम विधान परम मेधावियों के लिए है शेष दो विधान अल्पतर और अल्पतम मेधा वालों के लिए हैं। ये अवधियां ब्राह्मण के गुण धारण करने के दृष्टिकोण में तो लागू होती हैं, परन्तु शेष दो—क्षत्रियगुणरामी और वैश्यगुणाभिलाषी में नहीं, क्योंकि उनका उपनयन आठ वर्ष की आयु में नहीं होता है, प्रत्युत ११ और १२ वर्ष की अवस्था में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदाध्ययन सब वर्णों के लिए अनिवार्य होने से आठ वर्ष की आयु में सत्र के लिए ही प्रारम्भ हो जाता है और जा क्षत्रिय और वैश्य गुणों के भी अभिलाषी होते थे उनका इन गुणों से सम्बन्धित शिक्षा पारस्कराचार्य की निर्धारित आयुओं पर प्रारम्भ होती रही हो। कालान्तर में इस प्रणाली में विकार आया और क्षत्रिय और वैश्य ने गुणों के अभिलाषियों का वेदाध्ययन

१ इन ऋषि ने अपने वेदभाष्यों में भी अनेक बार वसु, रुद्र और आदित्य के ये ही अर्थ ग्रहण किए हैं। देखो ऋ० १।४।१, ६४, ३, ११४, १ आदि।

वही आयु में प्राप्त होने लगा। इन दोनों वर्गों के गुणोद्भूतों के लिए वेदाध्ययन की अवधि अल्पकालीन होने और व्यवसायिक शिक्षा के समस्त लौकिक दृष्टि से गौण स्थान प्राप्त करने के कारण शर्नैः शर्नैः वेदाध्ययन इन दोनों वर्गों में से उठ गया। ब्राह्मणोत्तर वर्गों के शूद्रपदवान्य वेद के प्रकारसदृशता ब्राह्मणों के लिए एक समस्या बन जाने स्वाभाविक थे। इन दोनों में अनेकों अवसरों पर संघर्ष हुए होंगे। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए शिक्षा के लिए उत्तरदायी ब्राह्मणों ने अन्य वर्गों के वेदाध्ययन को क्रमशः घटा कर कालान्तर में उसे निःशेष कर दिया होगा। प्रत्यर्ग्वेदिक काल में वर्गव्यवस्था का आधार जन्मगत हो जाने से वेदाध्ययन के आयोजित इस हास की प्रगति बढ़ जानी स्वाभाविक थी। पहले सब को ब्राह्मण मान कर उपनयन किए जाने की उपरोक्त कल्पना श० ११५।४ से पुष्ट होती है। इस ब्राह्मण में केवल ब्राह्मण के उपनयन का विधान है, अन्य वर्गों का नहीं। शतपथ २।५।२।६ और ३।६।३।३ से ज्ञात होता है कि उस काल में मानव जाति का एक वर्गीकरण क्षत्रिय और विश्व ही थे। अतः उस काल में ब्राह्मण आदि पद जातिवाचक न हो कर गुणवाचक थे। (अथे० १०।८।३७ में ब्राह्मणपद का प्रयोग भी देखें।) ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण पद समस्त मानव जाति का अंतक रहा होगा और उस के लिए विहित नियम सब पर समान रूप में लागू होते रहे होंगे।

(iii) वेदब्रह्मचर्यम्—वेदाय ब्रह्मचर्यम्। वेद पढ़ने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत।

वस्त्रों और मेखला के भेद का कारण

७९. शाण०<sup>१</sup>—वजुर्वेद में बहुत से पशुओं को विभिन्न देवताओं से

१. पं० मुखदेव ने आश्वलायन श्रुत सूत्र ६।१६।६—यदि वासवि यसीरन्—काषायं ब्राह्मणं मासिष्ठं क्षत्रियं क्षत्रियं वैश्यः' के आधार पर ब्राह्मण के लिए मेखण, क्षत्रिय के लिए मर्जाठे और वैश्य के लिए पीले वस्त्रों का विधान माना है।



सम्बद्ध कर के उन के गुणों का वर्णन किया गया है, यह भिन्न बात है कि हम उस वर्णन को ठीक ठीक न समझ पायें। परन्तु शाख और ज्ञौम आदि के गुणों का कोई वर्णन उपलब्ध प्रतीत नहीं होता। फिर भी उन के गुणों के ज्ञान के आधार पर ही ये सूत्र देने होंगे। इन के परिधान में इन वस्तुओं के गुणों का ध्यान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा होगा जितना मित्राणों के अध्ययन के निषय का द्योतन। आचरुल भी कला, विज्ञान और वास्तुविद्या आदि के छातकों, प्रत्यक्छातकों तथा गवेषकों की उपाधियों के लिये विभिन्न वस्त्रों का परिधान निर्धारित है। उत्तरीय और मेखला के भेदों के विधान के भी ये ही कारण हैं।

८० ऐशेयम्—कृष्णसार मृग का (चर्म)। य० २४।३६ में एणी का सम्बन्ध सपो से बताया गया है। श० ७।४।१।२५ में सव के साथ गतिशील हाने के कारण लोकों को, तै० २।२।६।२ में देवों को सर्प कहा गया है। कौ० २७।४ में गौः, वाक् और पृथिवी को सर्पराशी कहा गया है। इन गुणों के आधार को ध्यान में रख कर ही एणी के चर्म का परिधान ब्राह्मण के लिए निर्धारित किया गया होगा। परन्तु यह सुस्पष्ट है कि इन परिधानों की प्राप्ति के लिए बहुत से पशुओं का वध आवश्यक रहा होगा। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूत्र में इस प्रकार का विधान नहीं है। हो सकता है प्रारम्भ में 'ऐशेय' आदि पद गुणों के द्योतक रहे हों, फिर एणी आदि के बालों और तल्पश्चात् उन के चर्म का प्रयोग किया जाने लगा हो। यह स्थिति आज (=अजन्मा, उरूरी) के प्रयोग में सुस्पष्ट है।

(11) य० २४।८ में 'एन्व' को 'मैन्व' कहा है। 'ऐशेय' को 'एनी' का रूप भी माना जा सकता है यद्यपि 'एणी' पद की उपस्थिति में ऐसा मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मित्र के अर्थों में सव का मित्र, सत्य का उत्पादक, ब्रह्म, क्षत्र क्षत्रपति, घोरस्पर्श अग्नि, प्राण, वायु, अद्, शुक्र और कृष्ण पद् आदि मिलते हैं।

=१. रौरवम्<sup>१</sup>—रुरोः इदमिति रौरवम् । य० २४।३६ में रुरो को रौरु = रुर सम्बन्धी कहा गया है । वैदिक कोप में ब्राह्मणग्रन्थों से रुर के अर्थों में बलाने वाला, अग्नि, पशुओं का पति, त्विष्टकृत्, देवों में ज्येष्ठ श्रीर श्रेष्ठ, घोर, प्राण, मह आदि दिये हैं । रुर के रूपों में भव, ईशान, उग, अशनि आदि भी हैं । ज्वम्यक = नारिकेल<sup>२</sup> से उस का पोषक गुण लक्षित होता है । क्षत्रिय में इन्ही प्रकार के गुण अभीष्ट हैं ।

८२. आजम्—अजस्य अजाया वा इदमिति आजम् । य० २४।३९ में 'अज' (बकरा) का सम्बन्ध 'पूपा' से बताया गया है । ब्राह्मणों में पूपा के अर्थ शूद्रवर्ग, पोषक, पृथिवी, वायु, पुष्टि, सूर्य, अग्नि, अन्न, पशु, रेवती नक्षत्र, विशा विटपतिः, प्रजनन, मागों का अधिपति, ऐश्वर्य का आदाता, ऐश्वर्य का अधिपति, कृपा, देवानां मागदुयः, अदन्तक आदि दिये गये हैं । गव्यम्—गोः इदं गव्यम् । गाय का । गो + वत् । यजुर्वेद के पशुप्रकरण में अकेले 'गो' पद का प्रयोग नहीं मिला है । इस के पर्यायवाची 'धेनु' का सम्बन्ध य० २४।१३ में अतिच्छन्दम् से बताया गया है । अतिच्छन्दस् के

१. रुरो को लाल रंग का बताया गया है (पं० मुखदेव का अनुवाद) तंशकौको० ने इसे काला हिरन बताया है । यह विश्वेदेवों के एक गण का नाम भी है । ब्राह्मणग्रन्थों में 'विश्वेदेवाः' के अर्थ 'समस्त देवता, सूर्य की फिरगीं, प्राण, ऋतुएं, इन्द्राग्नी, भोज, दिशाएं उपद्रव, प्रजापति के पुत्र, वैश्य, विशु, पशु, अश्व, गो, अन्न, सब कुछ' आदि दिये गये हैं । इस से क्षत्रिय में तेज, प्राणतारता, सब पर शासन, सब प्रकार के गुण, ऐश्वर्य, गतिशीलता, जागरूकता, ध्यान्ति, उग्रता, प्रजापालन आदि गुणों के धारण की भावना प्रकाशित की गई है । वह अपने आर का वैश्य ही समझे । उन से भिन्न नहीं, क्योंकि विशु—समस्त प्रजा—वैश्य है । इस मूलभूत एकता की उपेक्षा से ही आर्य जाति में ऊंच-नीच की भावना उत्पन्न हो कर अनर्थ हुआ है । २. देवों कोकौण्ट (ज्वम्यक इन ही शूद्रवेद) दत्त ही आरिजन अर्थात् शिवकल्ह, आइओका० १६।१८ (सं०) ।

अर्थ 'उदर, ऋक्, इन्द्रों का रस, लोक और वर्ण आदि दिए गए हैं। 'गो' शब्द से मिलते हुए 'गोमृग' का सम्बन्ध य० २४११ और २४१३० में प्रजापति और वायु से तथा गव्य का य० २४१२८ में बृहस्पति से सम्बन्ध बताया गया है। प्रजापति के अर्थ 'प्रजापालक, अग्नि इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाक्पति, सवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रशेता, भूत, वन्धु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, सोम, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम, सुपर्णगद्विमान् मूधा, सदस्य, उद्गाता, उद्गीथ, अथर्ना, सत्य, गार्हपत्य, आत्मा, पुरुष, यजमान, पितर, प्रजनन, सर का धारक, विप्र, क्षत्र, चित्त, ये लोक, यह सब कुछ, अतुलनीय, देवों में अन्नाद और रीर्यवान्, अमृत, पूर्ण' आदि, वायु के अर्थ पवन, सब का विवेचक, कामनायुक्त, अनुष सर, देव, ब्रह्म, बृहस्पति, पवित्र, इन्द्र, मित्र, यम, यन्ता जानवेदम्, सब कुछ का करने वाला, तेज, पूषा, तार्क्ष्य, तीनों लोकों में वर्तमान, सविता, सोम, विश्वकर्मा, चन्द्रमा, प्राण, उग्र पुरोहित, मह, यज्ञ वाक्, देवों की प्रात्मा, शान्ति और बृहस्पति के अर्थ वाणी का पति, वाणियों का उत्पादक, वायु, प्राण, अपान, चक्षु, शुम्भ (= धन), ब्रह्म, देवों का ब्रह्मा, देवों का उद्गाता, देवों का पुरोहित आदि मिलते हैं। अतः यहाँ पर पापक, समृद्धिजनक, शान्ति, यात्रा आदि के गुण अभीष्ट हैं।

सब वर्णों की एकता

(ii) उपरोक्त देवताओं के वाचक अर्थों से एक बात अनायास ही स्पष्ट हो जाती है कि सब वर्णों में अधिकृत गुण समान ही अभिप्रेत हैं। उन में मूलभूत एकता है। उन में भेद किसी एक वा अधिक गुणों की ओर प्रवृत्ति के कारण ही किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण आदि पद केवल गुणवाचक ठहरते हैं, जातिविशेषों के चोकर नहीं। मानवों में जो वर्गकिरण उन के कर्म या व्यवसाय के आधार पर होता या वह ही मूलतः उन का वर्ण रहा हो सकता है।

८३. असति—√अस्+शतृ+सप्तमी एक वचन, नपुंसक०। अपने-अपने वर्ण के लिए नियत चर्मों के अभ्यास में। प्रधानत्वात्—यहाँ

पर हेतु में पञ्चमी है । 'गव्य' के सब अजिनो में प्रमुख होने के कारण । इस की प्रमुखता इस के विषय में दिए गए ऊपर के वर्णन से सुस्पष्ट है । इस से सम्बन्धित देवताओं के अर्थों से प्रकाशित गुण सब वर्णों में घट जाते हैं । अतः ऐश्वेय, रौरव और आज चर्मों के न होने पर 'गव्य' चर्म का प्रयोग किया जा सकता है । यहां पर पारस्कर आचार्य को 'गो' का अर्थ पशुमात्र भी अभिप्रेत हो सकता है, गाय मात्र नहीं । भाष्यकारों ने यह अर्थ भी दिया है कि देवों ने पुरुष के चर्म को गाय पर रख कर उसे पुरुषप्रधान बना दिया है । तु० क०—पुरुषप्रधानत्वात् गव्यस्य चर्मणः । पुरुषप्रधानं हि गव्यं चर्मं श्रुतौ पठ्यते । तेष्वच्छ्दाय पुरुषं गव्येतां त्यज्जमदधुरिति । —कर्मभाष्य ।

८४—८६. संच० में मेखलाधारण के लाभों में आन्तों के उतरने से रक्षा और शरीर में चुस्ती लाना दिए हैं । पारस्कराचार्य ने ब्राह्मण की मेखला मुंज की, क्षत्रिय की धनुर्ज्या की और वैश्य की मूर्वा की बताई है । संशर्काका० ने क्षत्रिय की मेखला मूर्वा की मानी है । वहां धनुर्ज्या को मूर्वानिर्मित माना गया है । महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण की मेखला मुंज वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुषसंशक तृण वा बल्कल की और वैश्य की ऊन वा सन की मानी है । (संचि० पृ० ६१ पाटि०) । संच० में इन चार्सों के गुण आयुर्वेद के आधार पर दिए हैं । मुंज को मधुर, कषाय, शीतल, त्रिदोषनाशक और वृष्य, दर्भ को त्रिदोषनाशक, मधुर, कषेला और शीतल बताया है । सन को खट्टा, कषेला, मलगर्म, रुधिर को गिराने वाला, चमन लाने वाला, वात और फफू का शामक तथा तीव्र अंगों के टूटने को दूर करने वाला कहा गया है । मूर्वा के गुण भी इसी प्रकार से आयुर्वेद के ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं । औषधियों को खाने लगाने और पहनने से रोगों को दूर करने में जो सहायता मिलती है वह सुप्रत्यक्ष । इसी दृष्टि से ये मेखलायें धारण की जाती थीं । उपरोक्त चार्सों के गुणों और ब्राह्मण आदि के कर्मों का सम्बन्ध ज्ञातः है ।

(ii) मौञ्जी—मुञ्जस्य इय मौञ्जी । मौर्गी—मूर्गाया इयमिति मौर्गा ।  
 ५० सुखदेव—कास की । भाष्यकारों ने इसे 'सुख' से व्युत्पन्न किया है ।  
 धनुर्ज्या—भाष्यकारों ने इसे तान्त की (=स्नायुमरी) या वास का  
 (वेणुमयी) माना है । दस० ने इसे धनुष् नामक घास बताया है ।

८७ कुशंति—कुश, अश्मन्तक<sup>१</sup> और बल्व<sup>२</sup> भी घासों के नाम  
 हैं । बहुधा कुश और दर्भ को एक ही माना जाता है । ये तीनों क्रमशः  
 ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के गुणों के अभिलाषिया के लिये हैं  
 (हरिहराचार्य) ।

दण्डधारण का प्रयोजन और उस के भेद का विवेचन

८८—९०—सच० में दण्डधारण के लाभ शरीररक्षा, मेरुदण्ड का  
 सीधा रखना दिए हैं । पलाश आदि के दण्डों का विधान उन के गुणों की दृष्टि  
 में किया गया है । सच० ने इन के गुण अभिनवनिघण्टु के आधार पर इस  
 ऋर दिये हैं—पलाश बीरन, बलकर्ता, दस्तावर, गरम कपैला नरपर,   
 कड़वा, क्षिग्ध, ब्रण गाले और गुदा के रोगों का नाशक, टूटी हड्डी का जोड़ने  
 जाला, घातादि दोंषों, सग्रहणी, बवाभीर और कृमियों का नाशक है । बिल्व  
 (पा बेल) कषाय, कड़वी, माही, रुद्ध, अग्निर्धक, पित्तकारक, वात और कफ  
 नाशक, उलकारक, लघु उष्ण और पाचक हाता है । उदुम्बर या गूलर  
 शीतल, रुद्ध, भारी, मधुर, कपैला, वर्णकारक, कफ, पित्त और रुधिर क  
 निकारों को दूर करने वाला, व्रत का शोधक और रोगक होता है । इस प्रकार  
 इन वृक्षों के दण्डों का धारण कतिपय रोगों का प्रतिरोधक है । सच० का  
 कहना है कि इस दण्डधारण से वनस्पतियों के प्रयोग का शानसग्रह भी  
 होता है, परन्तु यह लाभ प्रत्यक्ष नहीं है । विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न  
 वृक्षों के दण्डों का विधान उन के गुणों से समता की दृष्टि में किया जाना  
 स्वाभाविक था । उपरोक्त आयुर्वेदिक गुणवर्णनों से यह साम्य सुस्पष्ट नहीं

---

१.-२. ५० सुखदेव ने श्मन्तक पाठ रख कर बेरहुट अर्थ और  
 बल्व का अर्थ कास किया है ।

होता । ऐसा प्रतीत होता है कि मौखी, धनुर्ज्या और मौर्वी तथा पलाश, पैल्व और औदुम्बर पदों का ऐरोय आदि के समान अग्नि, रुद्र और पूषा आदि देवताओं से सम्बन्ध है । उसी के आधार पर ये विधान किए गये हो सकते हैं । ये प्रस्तावित सम्बन्ध मृग्य हैं ।

६१. पलाश आदि के गुणों में साम्य होने के कारण कोई भी वर्ण किसी भी वृक्ष का दण्ड धारण कर सकता है ।

(ii) अग्नि, मेखला और दण्ड के ये वैकल्पिक सूत्र राणसूत्रों से पहले के काल में समस्त वर्णों की एकता और सब के लिए एक जैसे विधान की सत्ता के द्योतक हैं । इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि ऐरोय आदि का प्रयोग वर्णभाव की दृष्टि से नहीं किया गया है ।

वर्णों के लिए दण्डों के विभिन्न माप का कारण

९२. दण्डों के माप का यह विधान पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है । वह इस में पीछे से मिलाया गया है । संव० ने इस मापभेद को वर्णभेद का द्योतक माना है । वस्तुतः केशव-वद उ० ५।३३ में  $\sqrt{\text{किलश}}$  से व्युत्पन्न हुआ है । अतः इस के द्वारा कष्टों के सहन करने—तप करने का लक्ष्य सामने रखा है<sup>१</sup> । ललाट तक दण्ड के विधान से शारीरिक बल को बुद्धि के अधीन रखने का संदेश दिया गया है । प्राण—नासिका प्राण और अपान की प्रतीक है । इस माप में ब्रह्मचारी को राष्ट्र के प्राण बनने का निर्देश किया गया है । वैश्य ही विश्व—प्रजा—राष्ट्र के प्राण हैं । वे ही विश्वे देवाः और मरुत् हैं, सब के मित्र भी । प्राण भी विश्वेदेवाः हैं ।

(ii) इस मापविधान में एक और भाव भी हो सकता है । योगचूडा-मण्डुपनिषत् ३५ में लिखा है कि कुण्डलिनी को जाग्रत करने से मनुष्य वेदमता होता है—

१. ध्यान रहे कि जहां ब्राह्मण को तपस्वी माना गया है, वहां य० ३०।५ में शूद्र ही का सम्बन्ध तप से बताया है, ब्राह्मण को नहीं ।

“कुण्डलिन्या समुद्रता गायत्री प्राणधारिणी ।

प्राणनिगा महाविद्या यस्ता वेत्ति स वेदवित् ॥”

अतः इस माण्डिकान्त में कुण्डलिनी को जाग्रत कर शरीर में कण्ठप्रदेश में स्थित विशुद्धचक्र, भ्रुवों के बीच में स्थित आशाचक्र और शिर में स्थित उड्यानचक्र<sup>१</sup> । (=सहस्रदलकमल) के भेदन की शीघ्र लक्ष्य क्रिया हो सकती है । हरिहराचार्य ने दण्डों के मान को केशों के मूल, भ्रुमध्य और ओंठों तक बता कर इसी मुभाव की शीघ्र मनेत क्रिया हो सकता है ।

६३ आहूतः—आ + √ ह् + क्त । बुलाया हुआ । उत्थाय—  
उद् + √ त्या + ल्यप् ।

६४. शयानम्—√ शी + शानच् + पु० द्वितीया एक व० । आसी  
नम्—√ आस् + शानच् + पु० द्वितीया एक व० ।

स्नातक की कीर्ति

६५. अमुत्र—परलोक में विष्णु लोक में जहाँ भूरिशुद्ध, और अथ  
गौण = विद्या रहती हैं—यत्र गावो भूरिशुद्धा अथास (श्रु० १।१५।६) ।  
स्वगस्थान, मोक्षस्थान । भाव यह है कि ऐसा ब्रह्मचारी इस लोक में रहता  
हुआ भी स्वर्ग के सुखों का उपभोग करता है । कुछ, विद्वान् इस में मरने पर  
मुक्ति की कल्पना करते हैं । परन्तु, मुक्ति इतनी सरल नहीं है । यहाँ पर  
‘अमुत्राय वसति’ की पुनरावृत्ति नियम की महिमा पर बल देने के लिये की  
गई है । स्नातक—विद्या या व्रत समाप्त कर के गृहस्थाश्रम में आने वाला  
विद्यार्थी ।

स्नातकों के भेद

९६ त्रयः—इन तीनों का व्याख्यान अगले सूत्रों में दिया है । इन  
में त्रिशासन स्नातक श्रेष्ठ है, शेष दो समान माने गए हैं—तु० क० तेषामु-  
त्तम श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ (गोभिलगृह्यसूत्र ३।५।२३—सुरदेव सत्करण) ।

९७. वेदम्—एक या अधिक वेद का अध्ययन । असमाप्य व्रतम्—ब्रह्मचर्यव्रतपालन करने की अवधि को पूरा किए बिना ही । भाव यह है कि यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रत तो अभी पूरा नहीं हुआ है अर्थात् अभी २४, ४४ या ४८ वर्ष की आयु नहीं हुई है, परन्तु, वेद का जितना अध्ययन अभीष्ट था वह पूरा कर लिया । अतः ब्रह्मचारी अधिक दिन गुरुकुल में न रह कर व्रत की अवधि को अर्पूर्णा छोड़ कर गंगार में जीवन बिताने चला आता है ।

९८. यहां पर व्रत की अवधि तो पूरी बीत जाती है, परन्तु वेद का अभीष्ट अध्ययन पूरा नहीं होता, फिर भी ब्रह्मचारी संसार में प्रविष्ट हो जाता है ।

९९. यहां वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य पालन की अवधि दोनों ही पूरी कर के ब्रह्मचारी वर को लौटता है । समावर्तते—उम्+आ+√वृत्+लट् प्रथम पु० एक व० । लौटता है, गृहस्थ बनने के लिए गुरुकुल छोड़ कर लौटता है ।

### उपनयन की चरम सीमा

१००—१०३—उपनयन की निम्नतम या निम्नतम सीमा का निर्देश तो किया जा चुका है । तो भी परिस्थितियों के कारण यदि किसी का उपनयन उस काल में न हो सके तो ब्राह्मण का उपनयन १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक और वैश्य का २४ वर्ष की आयु तक कराया जा सकता है । इस के पश्चात् उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं रहता और वे गायत्री के उद्देश से यज्ञित हो जाते हैं । सावित्री के उपदेश के बिना वे वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं बनते हैं । पतितसावित्रीकाः— पतिता अधिकार भावादिःमृता सावित्री येभ्यस्ते । मनु ने इस अवधि को केशान्त संस्कार का काल माना है । (२।६५) । म० २।३८ भी देखें ।

१०४. इस में पतित सावित्रिकों का उपनयन, अध्यापन, याजन और व्यवहार से वञ्चित किया गया है । यह व्यवहार कुछ दिन पूर्व हिन्दू समाज में प्रचलित जातिव्युत् और धर्मव्यत करने की प्रथा के अनुरूप है ।



मनु के काल में एम लोगो को ब्राह्म्य कहा जाता था (देखो मनु० २।३६)। इतना फटार व्यवहार करने पर भा उ० ब्राह्म्यस्तोम नामक यज्ञ कर न पुनः सम्य (=श्राय) समाज में स्थान पाने का अधिकार दिया गया था। कालान्तर में इस अधिकार का प्रयोग स्वच्छा से न करने वाले या न करने न लिए अन्यो द्वारा निरास किए हुए लोग ही पवित्र—आधुनिक शब्द देने होंगे। याद एसा ही तो निन्दारणीय यह है कि ये ब्राह्म्य स शब्द नैस कहनाए जाने लगे।

(ii) उपनययु — उप + √नी + क्त्रिग्लिट् प्रथम पु० ष्टु व०।  
 अध्यापयेयु — आध + √ह + णिन् + क्त्रिग्लिट् प्रथम पु० ष्टु व०।  
 याजययु — √यन् + णिन् + क्त्रिग्लिट् प्रथम पु० ष्टु व०। व्यवहरेयु —  
 वि + श्रव + √ह + क्त्रिग्लिट् प्रथम पु० ष्टु व०। इस का भाव विवाह शादी आदि धार्मिक और सामाजिक कर्म हैं।

१०५ कालातिक्रमे—कालत्यातिक्रम। उरोस्त चरम अथाव के गीत जाने पर। जयसम और हारहर भाष्यकारों ने इस का अर्थ गर्भासन आदि समस्त संस्कारों व निश्चित समय का पालन न करना समझा है। परन्तु यहा पर समस्त प्रकरण उपनयन संस्कार का ही है। अतः उतना ही भाव अभ्यु है, भाष्यकारों का विस्तृत अर्थ नहीं। नियतयत्—भाष्यकारों व मन में इस का भाव यह है—नित्य कर्मों के न करने के पाप से छुटकारा पाने के लिए श्रौत सूत्रों में विहित कर्मात् अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करे। इस प्रायश्चित्त के करने पर संस्कारों का पुन अधिकार प्राप्त हो जाना है। श्री हरिहराचार्य लिखते हैं कि यहा काल का अतिक्रमण केवल उपनयन विषयक ही नहीं है, प्रयुक्त अन्य कर्मों का अतिक्रमण करने पर भी यही अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करना होता है, इस का कारण यह है कि गृह्यसूत्रकार ने अन्य किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया है। इस का अर्थ यह भी किया जा सकता है—नियत = नियमों के पालन—सयमी के समान आचरण करे। जैसा सयमी विद्वान् आचरण करे या उपदेश करे वैसा ही आचरण आदि करे। हिन्दी अनुवाद भाष्यकारों के आधार पर किया गया है।

१०६. त्रिपुरुषम्—त्रीन् पुरुषान् यावत् इति त्रिपुरुषम् । तीन पीढ़ियों—पिता, पुत्र, और पौत्र—जिन की सावित्री के उपदेश को प्राप्त नहीं कर सकी हैं । अपत्ये—जिन की तीन पीढ़ियों में उपनयन संस्कार नहीं हुआ है उन की सन्तान । चौथी पीढ़ी और उस के आगे । संस्कारो नाध्यापनं च—इस में 'न' का सम्बन्ध मध्य में स्थित दीर्घ के समान संस्कारः और अध्यापनम्—दांनों से है । हरिहर आचार्य के विचार में 'न' का सम्बन्ध केवल अध्यापनम् से है । अतः वे मानते हैं कि उपनयन तो किया जा सकता है । परन्तु अध्यापन नहीं—'त्रिपुरुषं त्रीन् पुरुषान् यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृर्पात्रास्तेषामपत्ये पुत्रे संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चतुर्थादीनां तेषां च उपनीतानामपि अध्यापनं न भवति ।' परन्तु यह मत समीचीन नहीं । उपनयन होत ही उपनीत से उपनीत को अध्यापन का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है । १०० मुखदेव समझते हैं कि 'नियत प्रायश्चित्त करने पर भी जिन लोगों का तीन पीढ़ी तक उपनयन न हुआ हो, उन की चौथी पीढ़ी के पुत्र का उपनयन नहीं हो सकता न वह वेद पढ़ने का अधिकारी है ।'

१०७. तेषाम्—इन सावित्री के उपदेश से और उपनयन के अधिकार से वञ्चित पूर्व सूत्र में वञ्चित पुरुषों में से । ईषुः—√थाप + सन् + उ + पुल्लिङ्ग प्रथमा एक व० । ब्राह्म्यस्तोम—एक यज्ञ होता है जिस में पतितों को शुद्ध किया जाता है और उन्हें फिर से यज्ञ आदि कर्मों का अधिकार दिया जाता है । स्वामी दयानन्द ने इसी के आधार पर पिछली शताब्दी में विधर्मियों को शुद्ध करने और दलितों के उद्धार का आन्दोलन चलाया था ।

(ii) यहाँ यह जानना भी परम आवश्यक है कि पारस्कराचार्य ने पतितसावित्रीकों को ब्राह्म्य नहीं कहा है । यह नामकरण मनु आदि पिछले लेखकों का है । अथर्ववेद के ब्राह्म्यकारण में ब्राह्म्य नीचता का संज्ञक नहीं । यहाँ वेद मूष्टि के आधिकारण परमात्मा और विद्वान् सदाचारी पृथगीय अनिधि आदि का संज्ञक है । (दिव्यो अथ० १५।१०; १२; १४-१८। ब्राह्म्य-

काण्ड के डा० सगूर्यानन्द और प० ज्ञेमकरण और जयदेव आदि के भाष्य देखें)। अवे० १५।१२ के अनुसार ब्राह्मण की आज्ञा के बिना यज्ञ से अभीष्ट लाभ नहीं होता। अध्ययन और अध्यापन भी यज्ञ हैं। अतः ब्राह्मण को सन्तुष्ट कर के ही पतितताविधीक इन यज्ञों से लाभ उठा सकते हैं। यही भाव ब्राह्मणस्तोम यज्ञ के लिए जाने का प्रतीक होता है।

(iii) कामम्—इच्छानुसार, अथवा निर्विवाद रूप से। अधीधीरन्—अधि + √इ + विधिलिङ् प्रथम पुरुष बहु वचन। व्यवहार्याः—वि + अच् + √हृ + श्यत् + पुलिङ्ग प्रथमा बहु वचन। इस मनाय का स्थल मृग्य है।

(iv) यहा पर प० सुरदेव ने वेदारम्भ संस्कार का विधान माना है।

१०८. यहा से अन्त तक का भाग परस्पर गृह्यसूत्र का अंश नहीं है। गुजराती प्रेस के मरकरण में इसे कोई स्थान नहीं दिया गया है। पञ्च भाष्यकारों में से गदाधर और विश्वनाथ ने अपने भाष्यों में पूर्व प्रकरण के भाष्य के अन्त में सू० १०८-१२४ में वर्णित क्रियाओं का मन्त्रों के विनियोग को दर्शाते हुए विधान किया है।

(ii) इस भाग में छै वेदव्रतों का विधान किया गया है। इन में साभिन्न व्रत छै रात्रियों या तीन रात्रियों में या तुरन्त ही उपनयन के समय पूरा किया जा सकता है। इस में सवितृदेवता के मन्त्रों का पाठ और अध्ययन अभीष्ट है।

(iii) शेष पाच वेदव्रत एक वर्ष की अवधि वाले हैं। आग्नेय में 'समिधाग्निम्' (य० ३।१) आदि अग्निविषयक मन्त्रों के, शुक्रिय व्रत में 'श्रुच वाच प्र पत्रे' (य० ३६।१) आदि के शुक्रिय विभाग के, औपनिषद् व्रत में 'द्वयाद् प्राजापत्य' (!) आदि उपनिषद् भाग के, शैलम व्रत में 'आ ब्रह्मन्' (य० २१।२२), 'उदीरतामर' (य० १६।४६), 'आ नो भद्रा' (य० २५।१४), 'आशु शिक्षानो' (य० १७।३३) और 'इमा तु क' (य० २५।

४६)—इन शीलभिरी श्रुचाओं के अध्ययन, पाठ और श्रवण अभिप्रेत हैं। गौदान व्रत की अवधि की समाप्ति पर गुरु को मायों का जोड़ा देने का विधान है। इन में से शुक्रिय, श्रीमनिपद और शीलभ में अन्नगुण्डन भी होना है जिस की विधि सूत्र० ११३ में बताई गई है।

(iv) इन सब व्रतों में अग्नि का परिसमूहन, समिधादान आदि सब कर्म किए जाते हैं। और व्रत की समाप्ति पर उन का वितर्जन भी किया जाता है। इस की विधि का विस्तार गदाधर और विश्वनाथ आचार्यों ने अपने भाष्यों में किया है। यह सब अनाश्यक होने से यहां उद्धृत नहीं किया जाता है।

११०. उदीक्ष्य—उत् + √ईक्ष् + ल्यप्। देख कर, अर्थात् पूरा कर के। अपः—भाष्यकारों के क्रियादर्शन के अनुसार और 'अप्स्वन्तर' मन्त्र के विनियोग के कारण यहां उत्तमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग हुआ है। अप्स्वन्तः—इस प्रकरण में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग के अनुकूल अथवा अन्य कोई अर्थ नहीं दिया जा रहा है, क्योंकि यह सारा प्रकरण ही मूल लेखक की अभिप्रेत है। वैसे भी यहां की क्रियाएं उपनयनोत्तरकालीन और वेदाध्ययन विषयक हैं। इन समस्त मन्त्रों का अर्थ ग्रन्थ की विशालकाय बना देगा। इन के अर्थ दयानन्द भाष्य में देखे जा सकते हैं।

११२. उपव्रतम्—भाष्यकारों ने व्रतों की समाप्ति पर व्रत के विसर्ग का विधान किया है। वही विसर्ग यहां 'उपव्रत' मालूम पड़ता है।

११३. अन्नगुण्डनम्—यहां पर शुक्रों, श्रीमनिपदों और शीलभिनियों से श्रावण (=मुनना) ही अन्नगुण्डन माना गया है।

११५. अविद्यमाने—यदि सूत्र० ११३-११४ में वर्णित अन्नगुण्डन का प्रयोग न किया जाए तो 'आ ब्रह्मन्' आदि सूत्र में प्रदत्त मन्त्रों रूपा वेदशिरम् (=वेदज्ञान के मार) से अन्नगुण्डन किया जाये।

१. तु० क० प्राणोऽग्निः शीर्षम्। कौ० ८।१ तथा शीर्षं शिरः।

श० १।४।५।

११८ सू० ११३ में मन्त्रों को ही अवगुण्डन बताया था । यहा पर उन के साथ प्रतीक रूप में बख के पन्धान का भी वर्णन पाया जा रहा है ।

११८ इस की विधि का सू० १२२ की विधि से साक्षात् विरोध है जिस का समाधान निवारणीय है । व्युष्टायाम्—उषा काल हो जाने पर । अरण्य—इसे अरण्य = ज्ञान से व्युत्पन्न मान कर अध्यात्म में मन्त्रों रूपी सू० ११३ में वर्णित अवगुण्डन का निवर्जन मानने पर सू० १२२ से विरोध का कुत्र समाधान दिगर्द पड़ता है । वहा पर बख की अवगुण्डनी का निधान है, जो गुरु को दी जाती है ।

११९. इन मन्त्रों का अर्थज्ञान पूर्वक जप प्रातः काल में अभीष्ट है ।

१२१ शान्तिभाजनम्—अवगुण्डनी के समान यह भी दो प्रकार का है—'श्री शान्तिः' इस मन्त्र के रूप में और दूसरा घात्वादि से निर्मित पात्र जो गुरु का आश्रम में खर के प्रयोग के लिए भेंट कर दिया जाता था ।

१२३. गोदालम्—यह उपनयन संस्कार की दक्षिणा में दी जाती होगी । इस में ब्रह्मचारी द्वारा अपने ज्ञान के अन्यों को प्रवचन आदि द्वारा प्रदान करने की प्रतिज्ञा का अवशेष प्रतीत होता है क्यों कि गो = वाक् ज्ञान और यज्ञ का प्रतीक है । तु० क० तै० स्वाध्यायप्रवचनाभ्या मा प्रमद । तथा श्व० १०।६०।१६, ११०।६, अने० ५।१६ आदि ।

श्रीसुत ला० रामस्वरूप जी गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र, आचार्य डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी के शिष्य और आचार्य डा० फतहसिंह के शोधशिष्य

आचार्य डा० सुधीरकुमार गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०,

शास्त्री, प्रभाकर, स्वर्णपदकी द्वारा प्रणीत पार

स्फरीय उपनयनसूत्रों की सुकाशिनी

टिप्पणिया समाप्त हुई ।

# वेदालवगयम्

## पारस्करीयोपनयनसूत्राणि

### अकारादिवर्णनानुक्रमेण पदानां विषयाणां चानुक्रमणिका

(इस अनुक्रमणिका में पदों आदि के आगे सूत्रों का संख्या दी गई है। उस के आगे कोष्ठकों में टिप्पणियों में बनाये गए संदर्भों के अंक हैं। जहां पृ० लिखा है वहां उस के आगे का सत्या टिप्पणियों के पृष्ठ की है।)

अक्षरालवग	७३	अतिच्छन्दस्	८२	अत्ये	१०६
पाठि०	१	अथ	१४, ५१	अयन्	६१ (iv)
अग्निः	३१	अथर्ववेद में		अप्यन्तः	११०
अग्नि का परिसमूहन श्रीर		विधान नहीं	८०	अभिवादन	६४
उस का भाव	५२	अथाग्निम्	१६	अमुत्र	६५
अग्नि के विशेषण	४७	अथास्य	२२	अमृतम्	६ (iii)
अग्नि परिसमूहन में		अदत्तादान	७५	अरम्यात्	७२
विनियुक्त मन्त्र ५.३ (iii)		अदुहत्	४८ (viii)	अरम्ये	११८
अग्निम्	३४	अधि	२०	अरिष्टे	३३
अग्ने	५५	अधीपीरन्	१०७ (iii)	अर्द्धर्चशः	४५
अग्ने सुभयः मन्त्र के		अध्यापयेयुः	१०४ (ii)	अलंकृतम्	६
उत्तरार्द्ध का संच० का		अध्वर्यु	६१	अथगुगटनम्	११३
अर्थ	५३ (ii)	अनाहनस्यम्	१७ (ii)	अथगुगटन (वस्त्र)	११६
अम्यम्	१५	अनिराकरिष्युः	५५ (iii)	अवपत्	६३ (vi)
अंगान्पालभ्य जपति	६२	अनुवर्तवन्	४५	अविद्यमाने	११०
अंगालम्भन पारस्कर को		अनृत	७५	अशान	३७
अभिमत नहीं	६३	अन्न के अर्थ	५५ (iii)	अश्विनी	६१
अगिरा	६० (ii)	अन्नादः	५५ (iii)	अष्टवर्षम्	१
अग्निम्	१६	अन्नाशाय	६३ (xii)	अष्टाचत्वारिंशद्	वर्षाणि
अग्निनों के लिए पशुवध		अन्दारब्ध	३५		७६
की संभावना	८०	अपः	११०	असति	८३

असमाप्य व्रतम्	६७	आ पृथ	६०	के विकल्प	४
असानि	७ (III) (II)	आयु	६ (III) (II)	(II अ-III)	
असावहम् भोऽ	२६	आयु	६०	उपनयन की चरम सीमा	
असि	६३ (X)	आयुत्वाय	६ (III),	१००-१०३	
असौ	६३ (VIII)		६, III) (II)	उपनयन के काल—	
अहार्णम्	५५	आयुर्दा	६०	निशिष्ट विद्यालयों में	
अहिंसन्	७२	आयुषे	६ (III)	जाने के काल ४ (II)	
अगात्	१२	आयुष्यम्	१५	उपनयन के लिए श्रुतु	
आगाम्	७ (III) (II)	आलभ्य	६२ (II)	आदि का विधान	
आग्नेयो वै ब्राह्मण	४७	आसीनम्	६४	४ (IV)	
आगिरस	६ (III)	आहूत	६३	उपनयन के समय किए	
आचमन का प्रयोजन		इति रा	१२	जाने वाले उपदेशों का	
	३७ (II)	इन्द्रः	३१	प्रयोजन	७३
आचार्य	३१	इन्द्राय	६	उपनयन के कालातिक्रम	
आजम्	८२	ईप्सु	१०७	पर प्रायश्चित्त	१०५
आज्याहुती	३५	उद्धयस्व वनस्पते मन्त्र		उपनयन संस्कार पृ० १	
आथास्य	२८	का अर्थ	२१ (III)	उपनयन होते ही वेदा	
आदधाना	११		पृ० २५	ध्ययन का अधिकार	
आदित्य (ब्रह्मचारी)		उत्तरतोऽग्ने	४३	प्राप्त	१०६
	७६ (II)	उत्थाय	६३	उपनयेयु	१०४ (II)
आधाय	७२	उदीक्ष्य	११०	उपनेता	पृ० १ (II)
आधुनिक शैली पर		उदुम्बर के गुण	८८-९०	उपर्यासिन	७५
गायत्री का अर्थ ४७ (V)		उपदेश के योग्य ब्रह्म-		उपविष्टाय	४३
ज्ञानवन्ति	६	चारी के गुण	४३	उपव्रतम्	११२
आप	२२	उपनयन का काल	१	उपसन्नाय	४३
आपो हि ष्ठा मन्त्र का			पृ० २	उशती	२३ (V)
अर्थ	२३ पृ० २६	उपनयन के आयुमान		उपसः	४६ (IV)

उत्पन्न	६०	श्री नामालि	२८	जगती कुन्द बाली	
श्रीर नामों की संज्ञा		कृत्रिम वेदम ही	२९	सावित्री	४६
सिद्धा की कलावा		(पाठि० १)		जगती वैदमल	४६
	४८ (viii)	ज्याय	२३ (v)	जगदग	२३ (v)
पुरुः	४६ (vi)	गन्धर्वः	४८ (vi)	जगति	६२ (ii)
दुर्गा	१७ (ii)	गर्वाहो	१	जगदन्तो	६३ (iii)
दनी	१७ (ii)	गवय	८२	जगिन्तु	१७ (ii)
दन्तः	८० (ii)	गज्यम्	८२	जल से छंपाति भरना	
दरा ते	५७	गन्धादिन की प्रधानता		और उम का महत्त्व	
दरा ते मन्त्र और उम		का कारण	८३		२२ पृ० २६
का अर्थ	५७ (ii)	गायत्री का उद्देश्य नव		जलमेघन	५८
दिसेपम्	८०	के लिए	५०	जानकदेसे	५५
शोकेम्	४७ (vi)	गायत्रीम्	४७	जायमानः	६२
क	६८	गायत्री मन्त्र—छातु-		जिन्मय	२३ (v)
कवः	४८ (viii)	निक शैली पर अर्थ		जीव	६३ (viii)
कर्म	३८		४७ (v)	जीवनाय	६३ (vi)
कयः	१२	—दस० का अर्थ		जीरपुत्रः	५५ (iii)
कयवत्य	६३ (iv)		४७ (ii-iv)	जीवातवे	६३ (vi)
कामम्	१०७ (iii)	—महत्त्व	४७ (vii)	तपसुदेवहितं मन्त्र का	
कानातिक्रमं	१०५	गोदानम्	१२३	अर्थ	२५
कुवडमिनी	गोधन से	गोमूत्रा	८२	तपसुदेवहितं मन्त्र का	
पेदज्ञान	६२ (ii)	चक्षते	२३ (v)	दस० का अर्थ २५ (iii)	
कुशति	८७	चक्षुः	१७ (ii)	तज	६
केतपूः	४८ (vi)	चित्तम्	२७ (ii)	उन्मूपाः	६०
केतम्	४८ (vi)	छन्दोनाम मन्थार्य प्रका-		तन्वाः	६०
केशान्त संस्कार का		शक	५० (पाठि १)	तस्मा अरंयमाय मन्त्र	
काल	१००-१०३	छै पंचमत्त	१०८ (ii-iv)	का अर्थ २३ (iv) पृ० २७	



तरिगन्	७२	दण्डं प्रयच्छति	१८	नाम	६३ (४)
सा सवितुः मन्त्र का अर्थ		दण्डों का मापविधान		निधिपः	५३
	४८ (VII)	उठधानचक्र के भेदन		निधिपाः	५३
तिलक लगाना	६३	का श्रोतक	६२ (ii)	नियतवत्	१०५
तिघः	६८-६९	दधे	४९ (vi)	नियुनक्तु	२७ (ii)
तूष्णीं वा	१३	दभं के गुण	८४-८६	निवर्तयामि	६३ (२i)
तेजः	१७ (ii)	दिया	३९	निवेदयित्वा	७१
तेषाम्	१०७	दीक्षावत्	२१	पञ्चः	४५
तेहृदय दधामि	२७ (ii)	दीर्घायुत्वाय मन्त्र का		पतितसावित्रीकाः	
त्रय	९६	अर्थ	६३ (vii)		१००-१०३
त्रिपुरङ्ग तिलक लगाना		देवयन्त	१२	पतिनसामित्रीको	को
अनावश्यक	६३ (xii)	देव सवितुः प्रसुव मन्त्र		वेदाध्यनन का अधि	
त्रिपुररूपम्	१०६	वा अर्थ	४८ (iv)	कार नहीं	१०६
त्रिष्टुम् छन्दवाली सावित्री		देवस्य	४७ (vi)	परमम्	१५
	४८	देवहितम्	२५ (ii)	परिददाति	३२
त्रिष्टुभ राजन्यस्य	४८	देवानाम्	५३	परिदधे	१७ (ii)
व्यायुपतिलक पारस्कर		देजाय	३३	परिधापयति	८
को अभिमत नहीं	६३	देवी	११, ६१	परीत्य	३४
व्यायुगम्	६३, ६३ (iii)	देवेयु	६३ (iii)	पयंदधात्	९ (iii)
व्यायुष जमदग्ने का		द्यायापृथिवीन्वाम्	३३	पलाश के गुण	८८-९०
अर्थ	६३ (ii)	धनुर्ज्या	८४-८६ (ii)	पविनम्	१५
त्वा	९ (iii)	धरुणम्	१७ (ii)	पशव	५५ (ii)
दक्षिणत.	४४	धिय	४७ (vi)	पशुओं और देवताओं	
दण्ड	१८	धीराकः	१२	का सम्बन्ध	७९
दण्डधारण का प्रयोजन		धेनु	८२	पशुभि.	५५
और उस के भेद का		नमः	६३ (xi)	पश्चादग्ने.	७
विवेचन	८८-९०	नाकम्	४९ (iv)	पश्चिम दिशा	७ (ii)

परिवीतः	१२	प्रधानत्वात्	८३	ब्रह्मवर्चसाय	२०
परिद्रुतिः	४६ (vi)	प्रपीनाम्	४८ (viii)	ब्रह्मवर्चसी	५५ (iii)
परिसमूहति	५२ (ii)	प्रयाणम्	४६ (iv)	ब्राह्मण आदि पद गुण-	
पर्युक्ष्य	५४	प्रवचन की प्रतिष्ठा	११३	वाचक	७८ (ii);
पर्युप्त	६	प्राणपानाभ्यां बलमा-			८२ (ii)
पाणिना	५२	दधाना	११	ब्राह्मण और शूद्र दोनों	
पांच यम	७५	प्राशानान्ते	३५	तपस्वी	६२; ६२
पुनः	२०	वध्नीते	१०	(पाटि० १)	
पुरस्तात्	१५	बल	१५	ब्राह्मण, राजन्यं, वैश्यम्	
पुराण	६ (पाटि० ८)	बलाय	६ (iii) (ii)		१ (viii)
पुष्करम्बुजौ	६१ (iv)	विल्व के गुण	८८-६०	ब्राह्मणान्	५
पूर्ववत्	५८, ७२	बृहस्पति	८२	ब्राह्मणों के आचार के	
पूषा	८२	बृहस्पतिः	६ (iii)	अनुकूल शूद्रों का उप-	
प्यायस्व	५७ (v)	ब्रह्म	७ (iii) (ii)	नयन विहित	४ (vi)
प्यातिपीमहि	५७ (v)	ब्रह्मचर्यम्	७ (iii)	मर्गः	४७ (vi)
प्रजननाय	६३ (xii)	ब्रह्मचर्यव्रत	७ (iii) (ii)	भवत्पूर्वाम्	६५-६७
प्रजया	५५	ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि		भाजयत	२३ (v)
प्रजापतये	३३		७६	भिक्षा मांगने की रीति	
प्रजापति	८२	ब्रह्मचारी का वेप	६		६५-६७
प्रजापति की कल्याणी			५० ७	भुवः	४७ (vi)
तन्	५५ (ii)	ब्रह्मचारी को पश्चिम में		भूः	४७ (vi)
प्रजापतेः	१५	बिठाने का रहस्य	७	भूतेभ्यः	३२
प्रतप्य	५६		५० ८	भूम्याम्	२०
प्रतिमुञ्च	१५	ब्रह्मभोज	५ ५० ७	मन्न	७५
प्रत्यङ्मुखाय	४३	ब्रह्मभोज के उपयुक्त		मधु	७५
प्रदक्षिणम्	३४	ब्राह्मण का लक्षण		मनसा	१२
प्रदक्षिणम्	५४		५ (ii)	मनुष्याणाम्	५३

मन्त्र—अध्यात्म में	का सच० का अर्थ	वयुनामित् ४६ (VI)
वितर्जन ११८	१५ (II) पृ० २२	वरुण ७ (II)
—अवगुरुठन ११३,	यथामगलम् ४	वरेण्यम् ४७ (VI)
११६	याजयेयु १०४ (II)	वर्चसे ६ (III) (II)
—शान्तिभाजन १२१	युञ्जते मन उत मन्त्र का	वचादा ६०
मम व्रते मन्त्र का दस०	अर्थ ४६ (V)	वर्णम् ११
का अर्थ २७	युवा १२	वर्णों की अपेक्षित सम्प
मही ४६ (VI)	युवा सुवाता १२	न्नाताए १ (II—VIII)
महे २३ (V)	युवा सुवासा का विनियोग	वर्णों की एकरता ७८ (II),
मास ७५	१२ (II—III) पृ० १८	८२ (II), ६१
मानभक्षण निकृष्ट ७५	येन धाता मन्त्र का अर्थ	वर्णों के लिए दरदों के
माता से भिन्ना ७०	६३ (V)	विभिन्न माप का कारण
मित्र ८० (II)	येने द्राय मन्त्र का अर्थ	६२
मित्रस्य १७	(सच) ६ (III) (III)	वर्णों के वर्णों के रग ७६
मूज के गुण ८४—८६	योध शिवतम मन्त्र का	(पाटि० १)
मेखलाधारण से लाभ	अर्थ २३ (III) पृ० २७	वर्ध्नीमहि ५७ (V)
८४—८६	रथाय २३ (V)	वमु (ब्रह्मचारी) ७६ (II)
मेखलाबन्धन ब्रह्मचारी	रस २३ (V)	वस्त्रपरिधान का महत्त्व
द्वारा ही १०	राजन्यम् १ (VIII)	८ पृ० १०
मेखलाम् १०	रायसोपाय ६३ (XII)	वस्त्रों और मेखला के
मेधया ५५	रुद्र ८१	भेद का कारण ७६
मौखी ८४—८६ (II)	रुद्र (ब्रह्मचारी) ७६ (II)	वाचस्पति ४८ (VI)
मौर्षी ८४—८६ (II)	रौरवम् ८१	वाज १७ (II)
यज्ञ १३	वन २१ (IV)	वाजजित् ५७ (V)
यज्ञस्य ५३	वनस्पतियों में जीवन	वाजम् ४८ (IV)
यज्ञोपवीतम् १३	७२	वाजम् ४८ (VI)
यज्ञोपवीत परम पवित्र	वनस्पते २१ (IV)	वाजि १७ (II)

वायु	८२	विवेचन	७६ (ii)	शुभ्रम्	१५
वासः	८	वेदारम्भ संस्कार	पृ० ३५	शूद्र—आर्यों से श्रेष्ठ	
विद्यार्थी में आवश्यक		वैकल्पिक विधानों का		४ (v) (५)	
गुण	४३ (ii)	महत्त्व	६१ (ii)	—निकृष्ट	४ (v) (१)
विपश्चितः	४६ (vi)	वैश्य, समस्त प्रजा	८१	—रददलित क्षत्रिय ही	
विप्रत्य	४६ (vi)	(पाटि० १)		४ (v) (४)	
विप्राः	४६ (vi)	वैश्यम्	१ (viii)	—मूर्ख ही	४ (v) (२)
विभिन्न वर्णों के उप-		वैश्य (=विश्व्) ही राष्ट्र		—वर्णों में श्रेष्ठ व्यक्ति ही	
नयन में आयु की		के प्राण	६२	४ (v) (५)	
भिन्नता का कारण ?		वैहायसः	२०	—काम-सेवा	४(v)(३)
(ii—viii) पृ० २—४		व्यवहारेयुः	१०४ (ii)	शूद्रों के उपनयन के	
विमृष्टे	५६	व्यवहार्याः	१०७ (iii)	विधान के अभाव का	
विश्वजन्याम्	४८ (viii)	व्युद्ययाम्	११८	कारण	४ (v—vi)
विश्वा रूपाणि मन्त्र का		मते	२७ (ii)	पृ० ५—७	
अर्थ	४६ (iii)	म्रात्य १०४, १०७ (ii)		श्रुतिः	४७ (viii)
विश्वेदेवाः ८१ (पाटी० १)		अतिथि, परमात्मा १०७		श्रेयान्	१२
विश्वेभ्यः देवेभ्यः ३३		(ii)—क्री आशा से यज्ञ		पासमास्ये	४६
वेदब्रह्मचर्यम् ७६ (iii)		में लाभ १०७ (ii)		संशास्ति	३५
वेदम्	६७	म्रात्य से शूद्र १०४		संस्कारो नाध्यापनं च	
वेदमंत्र अपारस्कराय		म्रात्य स्तोम १०७		१०६	
	१०८	शतम् ६३ (viii)		सद्यः	४७
वेदमंत्र—छै	१०८	शयानम् ६४		सन का गुण ८४—८६	
	(ii—iv)	शाण० ७६		सत्र वर्णों की एकता	
वेदाशिरस् ११५		शान्तिभाजनम् १२१		७८ (ii), ८२ (ii),	
वेदस्य ५३		शिवः ६३ (x)		६१	
वेदाध्ययन के लिए		शिवो नामासि, मन्त्र का		सद्य के लिए गायत्री का	
निर्धारित अवधि का		अर्थ ६३ (ix)		उपदेश	५०

समस्त प्रजा वैश्य	सवित्रे	३३	सूर्यमुदीक्ष्यति	२४
८१ (पाटि० १)	सत्तुवासम्	५७ (V)	सोम	७ (II)
समावर्तते	सहजम्	१५	सौभयसम्	५३
समित्	सहस्रधाराम्	४८ (VIII)	स्त्रीगमन	७५
समिध'	सावित्रा का उपदेश	४३	स्थविरम्	१७ (II)
समिधम्	सावित्री के उपदेश का		स्नातक	६५
समिधम्	काल परिमाण	४६	स्नातक की कीर्ति	६५
समिधाधान		पृ० ३६	स्नातकों के भेद	६६
समिधाधान का भाव	सावित्री—जगती छन्द		स्व	४७ (VI)
	वाली	४६	स्वदत्त	४८ (VI)
समिद्धम्	—त्रिष्टुभ्छन्दवाली	४८	स्वधिति	६३ (X—XI)
समीक्षिताय	सावित्रीम्	४३	स्वसा	११
समीक्षमाख्याय	सुप्रजास्त्वाय	६३ (VIII)	स्वाध्य	१२
सम्मार्जित	सुभगा	११	स्वाहा	४८ (VI), ५५ (III)
सरस्वती	सुमतिम्	४८ (VIII)	हस्त गृहीत्वा	२८
सर्प	सुवासाः	१२	हाथ तपा कर श्रगो के	
सर्वा च	सुनीर्याय	६३ (XII)	स्पर्श का लक्ष्य	५६
सविनु	सुभुव.	५३	हिंसी	६३ (XI)
सवितृदेवता का त्रैष्टुभ	सूर्य	२४	होत्रा.	४६ (VI)
मन्त्र	सूर्य	२५ (II)		

॥ ॐ ॥

वेदलावण्ये  
ऋक्सूक्तानि  
(य० ३१ च)

# वेदलावण्यम्

## भूमिका

### ऋग्वेद का परिचय

#### वेदशब्द

१—वेद शब्द√विद् से बनता है। यह धातु ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारण अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस से करण और अधिकरण में घञ् प्रत्यय लगता है। अतः यह पद ज्ञान, सत्ता, प्राप्ति और विचार अर्थों का द्योतक है। दयानन्द सरस्वती ने अपनी भूमिका में लिखा है—विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वा सत्यविद्या यैरेषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः१। प्राचीन काल में ही 'वेद' पद ज्ञानमात्र तक सीमित न रह कर कुछ अन्यों के लिये प्रयुक्त होने लगा जिन से ऊपर वर्णित पदों की प्राप्ति सम्भव मानी गई है। ये ग्रन्थ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। सामवेद में केवल ७५ मन्त्र ही ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं आए हैं। यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी बहुत से मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद मूल वेद है, शेष प्राचीन। इन में कर्मकाण्ड की दृष्टि से ऋग्वेद से मन्त्र ले कर निया के क्रम से रख दिए गए हैं। परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती का विचार है कि विभिन्न वेदों में समान मालूम पड़ने वाले मन्त्रों का रूप एक सा दिखाई पड़ता है, उन के अथ भिन्न-भिन्न अभिप्रेत हैं। इस को पुष्टि अनेक बार ऐसे

१-ऋभाभू० पृ० २५।

२-वेमाप०, १०।२४-२५।

मन्त्रों के भिन्न-भिन्न ऋषि और देवता मिलने से भी होते हैं ३ ।

## शाखासंहिताएँ

२—इन चार वेदों की शाखा संहिताएँ भी उपलब्ध होती हैं । किसी समय इन की संख्या ११२७ रही बताई जाती है ४ । आज-कल इन में से कुछ ही मिलती हैं । उपलब्ध ऋग्वेदसंहिता शाकल शाखा की बताई जाती है । इस के आश्वलायन श्वसूत्र आदि कुछ ग्रन्थों में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के पाठभेद मिले हैं, जिन की परीक्षा से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि उपलब्ध ऋक्संहिता प्राचीन है और पाठभेद अर्वाचीन । इन अर्वाचीन पाठभेदों में मूल पाठों को सरल करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है ५ ।

३—यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय मिलते हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद । शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ मिलती हैं—माध्यन्दिन संहिता और कारव संहिता । इन दोनों संहिताओं में पर्याप्त साम्य है । वैपम्य के स्थलों पर लगभग सर्वत्र ही कारव संहिता माध्यन्दिन संहिता से अर्वाचीन और उस का सरल संस्करण मालूम पड़ती है ६ । इसी संहिता में सर्वप्रथम मन्त्रों के विनियोगों का विधान पाया जाता है, माध्यन्दिन में नहीं ७ । इन दोनों संहिताओं में केवल मन्त्र ही मन्त्र हैं, कारवसंहिता के अभी निर्दिष्ट विनियोगवर्गन के अतिरिक्त इन में ब्राह्मणभाग नहीं है । कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में ब्राह्मणभाग

३—वही, १७।१०६; सौप्तरी० पृ० १७०-१७२, आर्यसिद्धान्त विमर्श, पृ० १८७ ।

४—ऋभाभू० पृ० ३४८; वेमाप० २०।७३; वैश्व पृ० ६६ ।

५—नेवेशा०, पृ० १३, संदर्भ २ ।

६—वही, पृ० ५-८, १३ (संदर्भ ३)

७—वेमाप०, ५।५६ ।



भी पर्याप्त माना में पाया जाता है। ब्राह्मण वेदमन्त्रों का अनेक दृष्टियों में संक्षिप्त व्याख्यान देते हैं। इन में मन्त्रविषयक क्रियावाण्ट का विस्तृत वर्णन और विवेचन पाया जाता है। अतः इस सम्प्रदाय की तीनों उपलब्ध संहिताओं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक को माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अर्वाचीन, सरलीकृत और विस्तृत व्याख्यानां से युक्त सम्करण कहा जा सकता है ८।

४—रामवेद की दो शाखाएँ हैं—कौथुम और जैमिनीय। अथर्ववेद की भी दो हैं—शौनक और पैथलाद। इन की पारस्परिक तुलना से यह स्पष्ट मालूम होता है कि कौथुम और शौनक शाखाएँ प्राचीनतम हैं, शेष अर्वाचीन और सरलीकृत संस्करण ६।

५—मध्यकालीन परम्परा के विद्वान् शाखासंहिताओं को भी मूल वेद ही मानते हैं। वे भी उन की दृष्टि में अपौरुषेय हैं १०। आधुनिक विद्वान् शाखा-संहिताओं को एक ही अपनी-अपनी मूल वेद संहिता का भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न कुछ पाठभेदों वाले संस्करण मानते हैं ११। परन्तु ये मत ठीक नहीं। जैसा स्वा० दयानन्द सरस्वती ने लिखा है, शाखासंहिताओं को पूर्व मंदीरों में लिखे वर्णन के अनुसार मूल-संहिता का व्याख्यान या सरलीकृत संस्करण मानना उचित होगा १२।

८—वेमाप० ५।१।

६—नेवेशा० पृ० ८—१३। वैसा० पृ० १०० पर इस मत पर आपत्ति करते हुए राणायनीय शाखा को मूल वेद माने जाने का कथन किया गया है। परन्तु राणायनीय संहिता अभी उपलब्ध ही नहीं हुई है। देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्दत्त), १६३५, पृ० २१३। ३।

१०—वैसा०, पृ० ६६।

११—नेवेशा०, पृ० १—२।

१२—वैसा० पृ० ६६—१०० पर इस मत पर आपत्ति तो की है, परन्तु कोई विवेचन नहीं किया है।

## ब्राह्मणग्रन्थ

६—प्रत्येक वेद और उन की संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण रहे थे । आज-कल न तो सब शाखासंहिताएँ मिलनी हैं, न उन के सब ब्राह्मण । अब तक थोड़े-से ही ब्राह्मण उपलब्ध हुए हैं—ऋग्वेद के ऐतरेय, कौषीतकि और शांखायन १३, यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण १४ और तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद १५ के ताण्ड्य, जैमिनीय, जैमिनीयोपनिषद्, मन्त्र, आर्षेय, देवत, सामविधान, संहितापनिषद् और वंश ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण मिले हैं । जैसा ऊपर लिखा जा चुका है ये वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं । इन में अपनी-अपनी संहिता में सम्बन्धित विषयों का वर्णन किया गया है । सामान्यतः इन्हें कर्मकारण्ड का ही ग्रन्थ माना जाता है और इन के वेदव्याख्यानो को याज्ञिक । परन्तु यज्ञपद का जिस सीमित अर्थ में इस कथन में प्रयोग किया जाता है ब्राह्मणों की दृष्टि उतनी सीमित नहीं । ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञपद के अर्थों पर विहंगम दृष्टि से मुख्यतः दो बातें मिलती हैं कि वहाँ प्रत्येक लोकोपकारक पदार्थ, कर्म, भाव और स्थिति यज्ञ है । उन के वेदार्थ और कर्मकारण्ड के विवेचन में यह दृष्टि श्रोतप्रोक्त है । इस प्रकार उन के वेदार्थ अनेकविध हैं । उन में देवता सीमित अर्थ में याज्ञिक नहीं । वहाँ

१३—कुल्य विद्वान् कौषीतकि और शांखायन ब्राह्मणों को एक ही मानते हैं । डा० टी० आर० चिन्तामणि ने इन्हें पृथक्-पृथक् ग्रन्थ प्रमाणित किया है । देखो आइओका० ६, पृ० १६टी॥

१४—इस की दो शाखाएँ माध्यन्दिन और काण्व मिलती हैं ।

१५—मन्त्र, आर्षेय, देवत, सामविधान, संहितापनिषद् और वंश ब्राह्मण किसी समय ताण्ड्य ब्राह्मण के अंश रहे होंगे । हाल ही में एक छान्दोग्य ब्राह्मण कलकत्ता में छपा है । मन्त्रब्राह्मण को भी छान्दोग्य ब्राह्मण कहा जाता है । दोनों का स्वल्प अध्येतव्य है ।

वरुण क्लोम भी है, मखिला यजुत् भी और दोनो ब्रह्म और वाक् भी । इन ग्रन्थों में वेदार्थ के लिए महान् सामग्री मरी पड़ी है, जिस की कतिपय भ्रान्त धारणाओं के कारण और ठीक ठीक अवगत न करन क कारण महान् उपेक्षा की गई है । आजकल कुछ विद्वान् यवन वेदार्थ आदि में इन का पर्याप्त प्रयोग कर रहे हैं १६ ।

### आरण्यक

७—ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तिम भागों को आरण्यक कहते हैं । सायण आदि विद्वानों के मत में अरण्यक पढ़े जाने के कारण इन का नाम आरण्यक पड़ा है । इस की अपेक्षा इन्हें अरण्य = ज्ञानविशेष-मात्तदायक ज्ञान-ब्रह्मज्ञान आदि का व्याख्यानग्रन्थ होना के कारण आरण्यक कहा जाना अधिक समीचीन जान पड़ता है १७ ।

८—आरण्यकों में महाजल और होय आदि यज्ञों का विवरण, यज्ञों के दार्शनिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप का विवचन करा गया है १८ । इन में मनो को अन्तर्कार्यक माना गया है १९ ।

९—आजकल उपलब्ध आरण्यकों की संख्या अल्प ही है । अथर्वक श्रुग्वेद के ऐतरेय और शंख्यायन या कौषिक आरण्यक, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक, मैत्रायणी (या बृहत्) आरण्यक, शुक्र यजुर्वेद के माध्यन्दि । बृहदारण्यकोपनिषद् (और काश्व बृहदारण्यकोपनिषद्) और सामवेद का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २० या तबलकार आरण्यक उपलब्ध हुए हैं ।

१६—देखो डा० एतह सिद्ध, वैदिकदर्शन, भारतीय समाजशास्त्र मूलाधार, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, उद्योगोत्त आदि ।

१७—वेमाप० ७।२ ।

१८—वैसा० पृ० १५०—१५१ ।

१९—वेमाप० ७।६ ।

२०—इस में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—तीनों मिले हुए हैं ।

## उपनिषद्

१०—बहुधा आरण्यकी के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। काण्व यजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् के नाम से प्रख्यात है। इन ग्रन्थों में ब्रह्मविद्या—ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप का सूक्ष्म और गौचक विवेचन किया गया है।

११—उपलब्ध उपनिषदों की संख्या बहुत विशाल है। इन्हें वैदिक और अवैदिक दो भागों में रक्ता जाता है। वैदिक उपनिषदों में सव प्रमुख और प्रामाणिक उपनिषद्—ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कौषीतकि, प्रश्न—आ जाते हैं। श्वेताश्वतर और मैत्रायणी उपनिषद् भी उच्च कोटि के हैं। शेष में तान्त्रिक, योग, अथर्ववेदीय और साम्प्रदायिक उपनिषद् हैं। इन की संख्या बहुत है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों की माहमा के कारण अवर व्यक्तियों ने अपने विचारों के प्रसार के लिए उपनिषद् बना डाले।

## सूत्र

१२—वैदिक साहित्य का अन्तिम अद्ग सूत्रों में मिलता है। ये बड़ी संक्षिप्त शैली में लिखे गए हैं १२१। बहुधा टीकाओं और भाष्यों की सहायता के बिना इन्हें समझना सम्भव नहीं होता है।

१३—समस्त सूत्र ग्रन्थ छे वेदाङ्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं। ये वेदाङ्ग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं। वेदार्थ जानने के लिए इन का ज्ञान परम आवश्यक माना गया है। शिक्षा में उच्चारण सम्बन्धी नियम मिलते हैं। व्याकरण में

२१-बु० क०-- स्वल्पाद्वरमन्दिश्वं माणवद् विश्वतोमुखम्।

अस्तोभमनययं च नृत्तं सूत्रविदां विदुः॥ वंसाप० १०।१ भी देखें।

ज्ञात होता है कि कुछ भूर्त्तिर्वा-खिलीने आदि अवश्य बनते होंगे। वैदिक  
 षण्णं कुमार-देव्या पद से भी यही भाव निकलता है। 'सि-धु' घाटी  
 की लिङ्गपूजा भी वैदिक स्वरूप = नारिकेल का ही विकसित रूप है।

३०—सि-धु घाटी की खुदाई में एक अग्निकुण्ड के सदृश  
 स्थान भी मिला है ३१ जिस पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है।  
 तथापि अग्निकुण्ड का अभाव इस सम्भ्यता को प्राग्वैदिक सिद्ध नहीं  
 करता है। आज भी प्रतिादन अग्निहोत्र करने वालों के घरों में  
 अग्निकुण्ड बहुत कम पाया जाता है।

### ज्योतिषविषयक

३१—श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथब्राह्मण से  
 एक कथन खोजा है जिस के अनुसार उस समय वृत्तिकारें प्राचीन  
 दिशा में ही उदय होती थीं, परन्तु आजकल वे कुछ उत्तर की ओर उ  
 उदय होती हैं। ज्योतिष की गणना के अनुसार ब्राह्मणकालीन  
 स्थिति अब से ३,००० वर्ष ई० पू० रही थी ३२। तैत्तिरीय संहिता, ओ०  
 ऋग्वेद शतपथब्राह्मण से प्राचीनतर है। दोनों के निर्माण के लिये  
 २५०-०५० वर्ष गन कर ऋग्वेद का काल ३५०० ई० पू० ठहरता है।

३०—ऋग्वेद में शिशुदेवा. पद को विद्वानों ने लिङ्गपूजाको  
 निर्देशक माना है। परन्तु भारतीय विद्वान् इस का भाग्य  
 अग्रहचारी लेते हैं। सीएसडी० पु० २२८-२३३ भी देखें।

३१—एच-आर मण्डल के वर्ग २ विभाग बी मकान XI के  
 स० ८५ के निम्नतम तल में उपलब्ध निम्न स्थान

३२—डा० गोरखप्रसाद भारतीय ज्योतिष का इतिहास  
 पाटि० १ में इस गणना को अशुद्ध बताते हैं। उन्होंने २५००  
 ई० पू० को ठीक गणना बताया है।

३२—पं० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने समस्त वैदिक काल को चार युगों में बाँटा है—अदिति युग, मृगशिरा युग, कृत्तिका युग और अन्तिम युग । अन्तिम युग वेदांग ज्योतिष की रचना (१४०० ई० पू०) से बुद्ध भगवान् के निर्वाण काल (५०० ई० पू०) तक रहा । वेदांग-ज्योतिष में श्रविष्ठा के आदि में सूर्य और चंद्रमा के उत्तर की ओर घूमने का वर्णन आया है । यह स्थिति आज से १४०० ई० पू० में थी । यह ग्रन्थ इस काल के प्रारम्भ में प्रणीत हुआ । यह काल बुद्ध भगवान् के निर्वाण ५०० ई० पू० में समाप्त हो जाता है । इस काल में समस्त सूत्रग्रन्थ श्रौत, स्मार्त आदि रचे गये । कृत्तिका युग इस से पूर्व रहा । इस के प्रारम्भ में वसन्तसम्पात (= दिन और रात का बराबर होना) कृत्तिका नक्षत्र में होता था । शतरथब्राह्मण के उपरोक्त कथन के अनुसार ये नक्षत्र पूर्व दिशा में उदय होते थे, जिस का समय लगभग २५०० ई० पू० था । इस काल में तैत्तिरीय संहिता और शतरथब्राह्मण का निर्माण हो चुका था । इस से पूर्व वसन्तसम्पात मृगशिरा नक्षत्र में होता था । मृगशिरा से कृत्तिका तक पहुँचने में लगभग २००० वर्ष लगे होंगे । इस काल में ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र रचे गये । इस मृगशिरा युग से भी पूर्व पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्तसम्पात का उत्प्लेख मिलता है, जिस का समय २००० वर्ष और अधिक प्राचीन हो कर ६००० से ४००० ई० पू० तक रहा । इस में मन्त्रों की रचना हुई जो कालान्तर में संहिताओं में संकलित किए गए । जैकोशी भी इसी प्रकार ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का काल निरूपित करते हैं, परन्तु वे ४५०० से अधिक पहले जाना उचित नहीं समझते हैं । श्री दीनानाथ शारदा सुलेट ने भी अपने दंग ने ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का रचनाकाल आज से तीन हज़ार वर्ष पूर्व माना है । श्री पी० सी० सेनगुप्त ने श्रद्धि का काल २६ जुलाई ३६२८ ई० पू० और इन्द्र के मयवा बनने का काल ४१७० ई० पू० निर्धारित किया है । श्री आर० के० प्रभु ऋग्वेद का

१०,००० ई० पू० में और बाटेर १५,००० ई० पू० के परते रखते हैं।

३३—श्री कीय, विण्टरनिट्ज और के० सी० चहोपाध्याय आदि इन निष्कर्षों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। उन का कहना है कि ज्योतिष विषयक उपरोक्त आधारों की योजना में बहुत सी कल्पनाओं से कास लिया गया है, तथा उन-उन स्थलों के, जहाँ ये प्रमाण मिलते हैं, अपेक्षाकृत सरल अर्थ दिए जा सकते हैं। अतः वे इन ज्योतिषविषयक युक्तियों और तत्सम्बन्धी गणनाओं का पुनः परीक्षण आवश्यक समझते।

### भूगर्भविज्ञान के आधार पर

३४—डा० अविनाशचन्द्र दास ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक स्थितियों—समुद्रों और नदियों के अवस्थान आदि, ऋतुपरिवर्तन, वर्ष के वाचक पद—हिम और शरद् आदि के आधार पर ऋग्वेद के काल को ७५,००० वर्ष पूर्व से जाते हैं।

३५—स्वामी महादेवानन्द गिरि का कहना है कि वसन्तसम्पत्ती का एक चक्र २१,००० वर्षों में पूर्ण होता है, जिस के पश्चात् बड़ा भयंकर शीत युग या हिम युग ( ग्लेशियल युग ) आता है। इन की गणना के अनुसार पिछला हिम युग १०,००० ई० पू० में हुआ था। ऋग्वेद ( २। १२; १७.५; १। ३२। १; १। ३३। ४ आदि ) में भी इस प्रकार के शीत युगों का वर्णन पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने सृष्टिरचना से अब तक कुल चार हिम युगों की उताही मानी है। ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त में वर्णित हिमयुग इन में से कौन-सा है यह विचारणीय है। श्री नारायण भवनराव पावगी ने भी भूगर्भ विषयक ऋग्वेद में वर्णित स्थितियों के आधार पर वेद का रचनाकाल

६,००० ई० पू० रक्षता है। वैदिक संस्कृति में श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी ने इस के स्थान पर २,४०,००० से ६,००,००,००,००० ई० पू० काल दिया है।

३६—वैदिक साहित्य के प्रारम्भ को इतना प्राचीन मानने में सामान्यतः विद्वानों को बड़ा संकोच होता है। इस का एक कारण यह है कि इतने प्राचीन काल में भारत में या अन्य किसी प्रदेश में उस समय मानव का अस्तित्व था भी, या नहीं। यदि हाँ, तो क्या वह इतने विकसित मस्तिष्क का था कि इस प्रकार की उदात्त रचनायें उपस्थित करता। इस संशय की निवृत्ति आधुनिक काल में प्राप्त अस्थिपत्रों से स्वतः हो जाती है।

३७—एक युक्ति यह भी दी जाती है कि मानव स्वभाव सर्वत्र एक सा है। अतः जिस काल में वेद को रक्षता जाए उस काल की अन्य देशों की सामाजिक स्थिति आदि से वैदिक संस्कृति की तुलना की जाए तो समान भावों की सत्ता मिलनी चाहिये। यदि ऐसा न हो तो समय निर्धारण ठीक नहीं माना जा सकता। परन्तु सब देशों का मानसिक और बौद्धिक विकास एक ही धारा में एक ही गति से नहीं होता है। आज भी तो उच्च और अधःसम्भ्र जातियों के विकास में महान् अन्तर पाया जाता है। अतः यह सिद्धान्त उचित नहीं।

### निष्कर्ष

३८—इस प्रकार ऋग्वेद के काल के निर्णय में बहुविध मत हैं, जिन में बड़े मार्ग भेद हैं। अतः विद्वानों ने बहुत ही उचित कहा है कि ऋग्वेद की निम्नतम गीमा ही निर्धारित की जा सकती है—ऋग्वेद इस से पीछे का नहीं हो सकता। इस से अधिक कहना सम्भव नहीं। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इस स्थिति को अनुभव कर के श्रीर उन्हे



सुदूर प्राचीन काल में रचित जानते हुए इन्हें सृष्टि के आरम्भ में रचा मान कर तिथिनिर्माण के विवाद को समाप्त कर दिया हो सकता है। वेद के अध्ययन और अध्यापन में तिथिनिर्णय बौद्धिक व्यायाम मात्र है, वेदार्थ और वेदविषयों को समझने में कुछ भी सहायक नहीं है। ३

## ऋग्वेद संहिता की उत्पत्ति और विकास

३६—परम्परा के अनुसार स्वयम्भु परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में मानवों के कल्याण के लिए चार ऋषियों—अग्नि, आदित्य, वायु और अगिरस् द्वारा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद का निष्कास के समान प्रकाश किया। इन के पश्चात् भी बहुत से ऋषि हुए जिन्होंने मन्त्रों के अर्थ का साक्षात्कार किया और संसार को अपनी देन दी। वेदमन्त्रों से सम्बद्ध ऋषिनाम इन्हीं मन्त्रद्रष्टाओं के हैं। ३३

४०—एक अन्य विचारधारा भी भारतीय परम्परा में पाई जाती है। इस के अनुसार जिन-जिन मन्त्रों के जो-जो ऋषि बताए गए हैं वे-वे उन मन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं, रचयिता नहीं ३४। इस मत के अनुयायी सायण के भाष्य के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि क्रियात्मक रूप से सायण ऋषियों को मन्त्र रचयिता मानते हैं।

४१—वेदोत्पत्ति विषयक परम्परा से प्राप्त कुछ अन्य मत भी हैं जिन का अन्तर्भाव उपरोक्त दो मतों में ही जाता है ३५।

३३—ऋमाभू०—वेदोत्पत्तिविषय। सप्र०—७। १३०—१३३। इन में उद्धृत प्रमाण भी देखें। स्वयं वेदमन्त्रों का भी यही कहना है।

३४—आर्यसिद्धांतविमर्श में ऋषियों पर लेख देखें।

३५—इन का वर्णन स्वा० कर्मानन्द ने वैदिक ऋषिवाद और भी एम० मोनियर विलियम्स ने अपनी रचना—'इण्डियन विण्डम',

४२—परन्तु आधुनिक विचारधारा वेद को ईश्वरकृत मानने के लिए तय्यार नहीं है। यहाँ वेदों को भी उसी प्रकार मानवों की रचना माना जाता है जिस प्रकार काव्य लौकिक कवियों की रचनाएँ होते हैं। जब भारतीय आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तब वे अपने साथ एक धर्म लाए थे जिसमें देवता प्रमुख रूप से प्रकृति की शक्तिर्या थीं जिन को पुरुषाकार में वर्णित किया गया है। इनमें से कुछ देवता जैसे, सूर्य, वायु, अग्नि, इन्द्र आदि—इरानी काल के हैं, और अन्य, जैसे मिथ्र, वरुण और इन्द्र आदि—इरानी काल के हैं। ये अपने साथ अग्नि और सोम की पूजा भी लाए। जैसा ऋग्वेद और अथर्ववेद की तुलना से सुस्पष्ट हो जाता है। इन ऋषियों को बहुविध छन्दों में धार्मिक कविताएँ रचने की कला भी ज्ञात थी। इन प्राचीन सूक्तों का लक्ष्य बर्हि ( यज्ञवेदी पर बिछी घास ) पर रक्ते हुए सोम रस और तथापि हुए सौ की अग्नि में आहुतिर्या देते हुए स्तुतियों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना था। भारतीय आर्यों के आक्रमण के प्राचीनतम काल में प्रातः और ऋग्वेदसंहिता में सुगन्धित सूक्त सामान्यतः ऋषियों के कुलों में पैतृक परम्परा से रचे गए हैं। इनको ऋषियों ने अपने-अपने कुलों में मौखिक रट कर सुरक्षित रक्खा है। इस काल में मन्त्रों को लेखबद्ध नहीं किया गया। वंशों में प्रचलित इन सूक्तों को एकत्र किया गया और इसमें कुछ अन्य सूक्तों को जोड़ कर इन्हें ऋक्संहिता का प्रारम्भिक रूप दे दिया गया। डॉ. मैन्डोनल

१८६३ ई० पृ० २—३ में किया है और इनमें विरोध दिखाने का प्रयास किया है। यह प्रयास उन के वैदिक दर्शन के घोर अज्ञान का परिचय देता है। इस दर्शन में प्राण, गायत्री, अदृष्ट, काल, पुरुष, वाक्—सब ब्रह्म के नाम हैं। दूसरे मत के समर्थक आर्यसमाजियों की युक्तिर्या पहले मत पर ही केन्द्रित हो जाती है।

के विचार में आधुनिक ऋक्संहिता का रूप ब्राह्मणकाल की समाप्ति पर उपनिषदों से पूर्व ६०० ई० पू० में बन चुका था। इस संहिता के सम्पादकों ने कुछ स्थलों पर स्वरसन्धि के निदम लगाए जिन्होंने मरणा कुछ स्थलों पर छन्दोभंग हो गया है। इस प्रकार छन्दोभंग काल में मन्त्र रचे गए और कुछ काल पश्चात् संहिता के रूप में संकलित हुए ३६।

1411

४३—इस मत की पृष्टि मन्त्रों के अपने लेखों से भी होती है। वहाँ पर अनन्य वार मन्त्रकार, मन्त्रकृत् आदि पदों का प्रयोग हुआ है। सर्वानुक्रमणी ने भी ऋषि का लक्षण—मन्त्र की रचना करने वाला किया है—यस्य वाक्य स ऋषिः। साथ ही प्रत्येक मन्त्र का ऋषि भी सर्वानुक्रमणीकार ने बताया है। बहुत से मन्त्रों में उन के रचयिता ऋषियों के नामों का प्रयोग हुआ है। निरुक्त और ब्राह्मण मन्त्रों के कुछ लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋषियों को मन्त्र-रचयिता मानते हैं ३७। मन्त्रों में प्राचीन और नवीन ऋषियों और मन्त्रों का भी उल्लेख आया है ३८।

1412

1413

४४—ऋग्वेद के साथ सम्बद्ध ऋषियों की स्थिति बड़ी विचित्र है। मन्त्रों में वर्णित ऋषिनामों और उन से सम्बन्धित इतिहास आदि में कोई सामञ्जस्य नहीं है, उन वर्णनों का पुराणों और सर्वानुक्रमणी आदि के विवरणों से स्पष्ट विरोध और विषमता दृष्टिपथ में आते हैं ३९। अनेक मन्त्रों के ऋषि और देवता एक ही पद हैं। अतः

३६—देवो मे०—वैरी० भूमिका, तथा वैदिक साहित्य के इतिहास १०५

३७—देखो कर्मानन्द वैदिक ऋषिवाद, सुरजमान, ऋग्वेद के रचने वाले ऋषि आदि।

३८—यथा ऋ० १।१।२ आदि।

३९—सुधीर कुमार गुप्त, ऋग्वेद में इतिहास नहीं है (ऋग्वेद का अर्थ में संकलित)।

मन्त्रों में ऋषिनाम विशेषण के रूप में आए हैं। एक ही मन्त्र के विभिन्न स्थलों पर विभिन्न ऋषि दिए गए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और निबन्ध में बहुत से ऋषिनामों के निर्वाचन और अनेकविध अर्थ दिए गए हैं। यहाँ पर वेदमन्त्रों का स्रोत ब्राह्मण को माना है, ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में व्यावर्तन के नियम से कुछ ऋषिनाम परम्पर में पर्यायवाची सिद्ध होते हैं। यजुर्वेद में ऋषिपद 'वेदमन्त्रार्थ' का भी स्रोतक मालूम पड़ता है। कुछ मन्त्रों के प्रयोगों में वरुण आदि का व्यक्ति मानना सम्भव नहीं है। इन पदों को ऋषि न माने जाने का अग्रश्रेष्ठ माधवभट्ट के कथनासः के भाष्य में उपलब्ध होता है। कुछ ऋषि नामों का यजुर्वेद में शाम्भारिक पदों के रूप में प्रयोग हुआ है ४०। ऐसी स्थिति में मन्त्रकृत् और ब्रह्मकृत् आदि पदों से कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं ४१।

४४—अतः वेदमन्त्रों को उन से सम्बद्ध ऋषियों की रचना अथवा दर्शन मानना सम्भव नहीं। ये पद उन के अर्थों को बताने वाली संज्ञाएँ ही हैं। प्राचीनकाल में भी ऋषिज्ञान को वेदार्थज्ञान के लिए परम आवश्यक समझा जाता था, परन्तु कालान्तर में उस का वास्तविक स्वरूप विस्तृत हो गया। यह सब कुछ होते हुए भी आज विद्यालयवाद के युग में वेदमन्त्रों को ईश्वररचित मानना बुद्धिमत् नहीं है, भले ही हम उन के वास्तविक रचयिताओं को जानने में सफल हो या नहीं।

४०—विस्तार के लिए देखें—सुधीर कुमार गुप्त, सर्वज्ञ श्रीक दी ऋग्वेद, देवर मैसेज एण्ड किलीसीकी ( और उस का हिन्दी अनुवाद ); वेमाप० ४१७८—१२४; ११२९—२४; १७१२—६६ आदि।

४१—सीएचडी० में थोरिजन एण्ड अर्थरशिप श्रीक दी हिम्ज श्रीक दी ऋग्वेद देखें।

## वेदमन्त्रों की सुरक्षा के साधन

४६—वेदमन्त्रों की रचना और संकलन के शत्रु बाद ही उन की सुरक्षा के लिए विलक्षण उपाय किए गए और उन को बिना किसी अक्षर के नाश, विकार और प्रक्षेप के सुरक्षित रखा गया ।

४७—वेद का कण्ठस्थ करना सख्त काम नहीं था, परन्तु इस को प्राचीन काल में अनिवार्य किया गया । इसी से आज-तक वेद सुरक्षित चला आ रहा है । यह परम्परा अब क्षीण हो रही है, जिस से वेद की अक्षुण्ण रक्षा को अवाप्त पहुँचना स्वभाविक है । इस्तेलेश्यों और मुद्रित प्रतियों को नष्ट किया जा सकता है, उन में लेख या छापे की भूलें रह जातों हैं, परन्तु कण्ठस्थ करने वालों में यह दोष नहीं रहता है । यद्यपि दुष्ट मनुष्य वहाँ भी विनाश उत्पन्न कर सकता है, परन्तु अन्य वैदिकों का उस पर अक्षुण्ण रहता है ।

४८—इस के साथ ही कुछ पाठों की रचना की गई । इन में सब से पहला पदपाठ कहलाता है । पदपाठ में सब पदों को अलग-अलग स्वतन्त्र रूप में पढ़ा गया है, प्रत्येक पदों के आगे इति और समाप्त के पूर्व और उत्तर पदों तथा प्रवृत्ति-प्रत्यय आदि के बीच में अवग्रह लगा कर उन के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । इसे वेद का सर्वप्रथम व्याख्यान कहा जा सकता है । यह विशेषता अन्य पाठों में उपलब्ध नहीं । आजकल शाकल्य का पदपाठ ही सर्वत्र उपलब्ध होता है । राशय का भी पदपाठ मिला है । गार्ग्य के सामवेद के पदपाठ में लगभग सभी पदों में अवग्रह लगाया गया है, यथा मिऽवम् । अऽप्य । अन्ऽये । चन्द्रऽमसः । सुऽर्क्यस्य ४२ । ये दोनों अभी मुद्रित नहीं हुए हैं । अन्तिम

४२—भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग २ (२), प्रथम संस्करण से साभार उद्धीत ।

पदपाठ न्वा० दयानन्द सरस्वती का मिलता है । यह शाकल्य के पदपाठ के समान है परन्तु इस में अनेक स्थानों पर भिन्न है ४३ । भाष्यकारों ने अनेक बार शाकल्य के पदपाठ से अपना मतभेद प्रदर्शित किया है । ऋग्वेद में छै मन्त्र ४४ ऐसे भी हैं जिन का पदपाठ नदा मिलता है । उन्हें ज्यों का त्यों ही पदपाठ में रख दिया गया है ।

४६—इस के पश्चात् क्रमपाठ बनाया गया । इस में पदपाठ का प्रत्येक पद दो बार पढ़ा जाता है—अपने से पहले और अपने से अगले पद के साथ—क ख, लघ, गघ । यह पदपाठ के समान प्राचीन है । इस के पश्चात् जटापाठ की रचना की गई । इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों को उलटा और फिर सीधा भी पढ़ा जाता है—कख, खक, कख, खग, गख, खग; गघ, घग, गघ । इस की चरम सीमा घनपाठ में मिलती है । इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों को उलटा और तीन पदों को मिला कर सीधा और उलटा भी पढ़ा जाता है । इस का क्रम यह है—कख, खक, कखग, गखक, कखग; खग, गख, खगघ, घगख, खगघ आदि ।

४७—प्रातिशाख्यों में शिक्षा, व्याकरण और लुन्दों का विवरण मिलता है । इन में अपनी-अपनी संदिताओं का पदपाठ भी मिलता है । ऋग्वेद की प्रातिशाख्य शौनक की प्रणीत है ।

४३—देवी वेमाप० २६, साएसडी०—ही पदपाठ श्रीक देी ऋग्वेद  
ऐज गिबन वाई दयानन्द

४४—ऋ० ७।५।१२; १०।२०।१; १२।१।१०; १६।०।१—३। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि शाकल्य इन्हें प्रक्षिप्त मानते थे । परन्तु सम्भव है कि शाकल्य ने इन के अर्थ में समझे हैं जिन में पदपाठ एक से अधिक प्रकार बनता है । वेमाप० ६ ।

५१—अनुमतिर्या में सूक्तों के प्रथम मन्त्र की प्रतीक, ऋषि, देवता, छन्द और मन्त्रमंख्या दी गई हैं। मन्त्रों से सम्बंधित आख्यान भी दिए गए हैं। ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी कात्यायन की रचना है। शौनक रुद्रदेवता को भी देवा श्रेणी का कहना उचित होगा।

### ऋग्वेद में विकार

५२—इन साधनों की सहायता से ऋग्वेद के मन्त्रों और पदों का इस प्रामाणिकता के साथ सुरक्षित रखा गया है कि इतने वर्षों से अब तक उन में कोई विकार—नाश, परिवर्तन और प्रक्षेप—नहीं आया पाया है। इस प्रकार अन्यत्र कहा भी मन्त्रों की सुरक्षा नहीं की गई है।

५३—उत्तम ज्ञान पर भी बहुत से आधुनिक विद्वानों ने वेद के पाठों में विकार माना है और अनेक बार उन में परिवर्तन करने का सुझाव दिया है। श्री राजवाड़े ने एक लेख में इस प्रकार के कतिपय स्थलों एकत्रित किए हैं। पं० विश्वधनु ने अपने बम्बई ग्रन्थसम्मेलन में वैदिक विभाग के समापतिभाषण में भी इस प्रकार के कतिपय स्थलों का विवेचन किया है। बम्बई के पादरी श्री एम्ब्लर तो समस्त वेदमन्त्रों को विवृत मान कर उन का मूल पाठ बनाने में सलग्न हैं। इन विद्वानों ने अनेक स्थलों पर यह सोचने का प्रयास नहीं किया है कि जहाँ वे अर्थ के आधार पर पाठ में विकार मानते हैं वहाँ अर्थान्तर भी हो सकता है जो न उन्हें सूझ रहा है, न आधुनिक नियमों की कसौटी पर पूरा उतर रहा है ४५।

४५—इस का एक उदाहरण अथे० १।१४।३ का शमोप्यात् पाठ है, जिसे सायण ने शमोप्यात् कर दिया है, और आधुनिक विद्वान् उसे ग्रहण करते हैं। यह पाठ परिवर्तन निवृत्त अनावश्यक है। देवो मुधीर कुमार गुप्त, ए न्यू इण्टर-प्रैटेशन ग्रीष्म अथे० १।१४।

## ऋग्वेद का विस्तार और विभाजन

५४—विस्तार—ऋग्वेद में कुल १०१७ सूक्त हैं । यदि इन में अष्टम मण्डल में प्राप्त ग्यारह बालखिल्य सूक्तों को भी जोड़ लिया जाए तो कुल सूक्त १०२८ हो जाते हैं । इन में लगभग १०६०० मन्त्र हैं । इस प्रकार सामान्यतः एक सूक्त में दस मन्त्रों का परिमाण आता है । मन्त्र से छोटे सूक्त में एक मन्त्र और सब से बड़े में ५८ मन्त्र हैं । अतएव ऋग्वेद का विस्तार इतना है जितना होमर के समस्त उपलब्ध काव्यों का ।

५५—विभाजन—ऋग्वेद का दो प्रकार से विभाजन किया गया है । पहला अष्टक विभाग है। यह अनेकांकुत अधिक अर्वाचीन है और पूर्णतः यान्त्रिक है । इस में समस्त ग्रन्थ को आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है । वे सब लगभग बराबर ही हैं । प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में पाँच या छे मन्त्रों वाले कुछ वर्ग मिलते हैं । स्वाध्याय और प्रवचन को दृष्टि से यह विभाजन विशेष उपयोगी है ।

५६—दूसरे विभाजन में समस्त ग्रन्थ को दस मण्डलों या खण्डों (मै०—ग्रन्थों; श०—चक्रों) में बाँटा है । प्रत्येक मण्डल को सूक्तों में और सूक्तों को मन्त्रों में विभक्त किया गया है । प्रत्येक मण्डल में सूक्तों की संख्या और सूक्तों में मन्त्रों की संख्या विभिन्न है, इस में अष्टक विभाग के समान कोई स्थिर नियम लक्षित नहीं होता है । यह विभाजन प्राचीन और ऐतिहासिक है । इस से ऋग्वेद के मूल संघटनाक्रम का परिचय मिलता है । उद्धरण आदि देने में यह विभाजन अधिक सुगम पड़ता है । अतः इस विभाजन का प्रमाण आदि देने में पुष्कल प्रयोग किया जाता है ।



## ऋग्वेद की संघटना

५७ प्राचीन भारतीय परम्परा केवल ऋग्वेद के मन्त्रों का ही नहीं प्रस्तुत चारों संहिताओं के मन्त्रों का एक ही समय में ईश्वर से प्रादुर्भूत हुआ मानती है। इस दृष्टि से सब वेद मुसम्बद्ध हैं और उन में देश और काल विषयक कोई पौर्वापर्य नहीं है।

५८ विकासवाद के सिद्धान्तानुसार वेद को विभिन्न व्यक्तियों की रचनाएँ मानने ही यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रों की रचना में पौर्वापर्य रहा होगा। इस की पुष्टि मन्त्रानुक्रमणियों में पदतः वैदिक ऋषियों की वशा-वन्ध्या से होती है। वहाँ एक ऋषि की मन्त्रलिपि पुत्र, पौत्र प्रपौत्र आदि की रचनाएँ मिलती हैं जिन्हें किसी भी अवस्था में समकालीन नहीं माना जा सकता।

५९ वंशमण्डल—इस आधार पर आधुनिक विद्वानों ने ऋग्वेद के दो भाग किये हैं—१ मूल भाग—यह ऋग्वेद का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इस में मण्डल २ से ७ आते हैं। २ अर्वाचीन भाग—इस में मण्डल १, ८, ९ और १० आते हैं। मूल भाग के मण्डल स्वल्प में एक समान हैं। देवी परम्परा के अनुसार उन में से प्रत्येक मण्डल के सूक्त एक ही वंश के ऋषियों की रचनाएँ हैं जो उन्हें अपनी संहिता के रूप में सुरक्षित रखते रहे।

६० इस परम्परा की पुष्टि अन्त साक्षिया—सूक्तों में वर्णित ऋषि-नामा और प्रत्येक मण्डल में प्रयुक्त ध्रुवका से होती है। इन वंशमण्डलों में संघटना एक जैसी है—इन में से प्रत्येक मण्डल विभिन्न देवताओं के सूक्तों के वर्गों में समान रूप से विभक्त किया गया है। दूसरी ओर मण्डल १, ८ और १० में ये विशेषताएँ नहीं मिलती हैं। उन के वर्गों में सूक्त विभिन्न वंशों के ऋषियों की रचनाएँ हैं और वे किसी एक-एक वंश के ऋषियों द्वारा नहीं रचे गये हैं। मण्डल ९ अन्य मण्डलों से इस लिए विशिष्ट है कि इस

में तमस्त मन्त्र सोम देवता के ही हैं और इस के वर्ग छन्द की समानता पर बताये गये हैं।

६१. वंशमण्डलों में सूक्तों का प्रथम वर्ग नियमित रूप से अग्नि देवता का है, और दूसरा इन्द्र का और शेष अन्य अप्रधान देवताओं के हैं। इन देवताओं के वर्गों में सूक्त मन्त्रों की घटती हुई संख्या के अनुसार रखे गये हैं। उदाहरण के लिए दूसरे मण्डल के अग्निदेवता का दस सूक्तों का वर्ग १६ मन्त्रों वाले सूक्त से प्रारम्भ होता है और ६ मन्त्रों वाले सूक्त पर समाप्त होता है। अगला वर्ग २१ मन्त्रों के सूक्त से प्रारम्भ हो कर ४ मन्त्रों के सूक्त पर समाप्त हो जाता है। यदि प्रक्षेपों की सम्भावना का ध्यान में रखा जाये तो वंशमण्डलों का क्रम बढ़ती हुई सूक्तसंख्या के अनुसार रखा गया है। इस प्रकार मण्डल २ में ४३, मण्डल ३ में ६२, मण्डल ६ में ७५ और मण्डल ७ में १०४ सूक्त हैं। वंशमण्डलों की एकरूपता से ऐसी प्रबल सम्भावना होती है कि ये मण्डल ऋग्वेद के मूल आधार के जो पीछे की मिलावटों से आधुनिक रूप का प्राप्त हो गये।

६२. अर्वाचीन मण्डल—मूल मण्डलों के साथ पीछे से सम्बद्ध मण्डलों में प्रथम मण्डल का उत्तरार्द्ध (सूक्त ५१ से अन्त तक) सब से पहले जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस में नौ वर्ग हैं जो प्रत्येक अलग-अलग ऋषि की रचना हैं। इन भाग में वंशमण्डलों की अन्तःसंघटना को अगनाया गया है।

६३. मण्डल ८ प्रमुख रूप से कण्व वंशजों की रचना होने से वंशमण्डलों के सदृश है। परन्तु यह अग्नि के सूक्तों से प्रारम्भ नहीं होती है। साथ ही इस में प्रगाथ छन्द का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इस में सूक्तसंख्या सप्तम मण्डल से कम है। इन से प्रतीत होता है कि यह वंशमण्डलों के समुदाय का अंग नहीं था। सीमित साम्य के कारण यह अन्त में सब से पहले जोड़ा गया होगा।

६४. प्रथम मण्डल का पूर्वार्द्ध (सूक्त १-५०) अनेक अंशों में मण्डल ८ के समान है। अधिकांश सूक्तों के रचयिता कण्व ऋषि रहे प्रतीत होते

है। उन का प्रिय छन्द प्रगाय भी यहाँ उपलब्ध होता है। दोनों सग्रहों में बहुत से समान भाव और पदसमूह भी मिलते हैं। इन दोनों सूक्तसमुदायों में कोई-न-कोई भेद अवश्य रहा होगा। परन्तु अभी तक यह नहीं दिखाया जा सका है कि ये दोनों मूल भाग के आदि और अन्त में जोड़े जा कर अलग-अलग कैसे हो गये।

६५ पहले आठ मण्डलों के एक सूत्र में बँध जाने पर मण्डल ९ भी जोड़ दिया गया। इस में नमस्त सूक्त पावमान सोम के हैं। वशमण्डलों में सोम का एक भी सूक्त नहीं है। प्रथम और अष्टम दोनों मण्डलों में मिला कर सोम देवता के सामान्य पक्ष के वर्णन करनेवाले केवल तीन ही सूक्त पाये जाते हैं। मण्डल ९ के सूक्तों के रचयिता वे ही ऋषि हैं जो वशमण्डलों के क्यों कि उस में वशमण्डलों के ऋषियों के प्रिय ध्रुवक मिलते हैं। अतः यह माना जा सकता है कि प्रथम से अष्टम तक के सब मण्डलों में पावमान सोम के समस्त मन्त्र निकाल कर मण्डल ९ में १-८ मण्डलों की संहिता के अन्त में रख दिये गये। इस प्रकार यह उद्गाता के लिए एक पृथक् संहिता बन गयी। शेष भाग होता से सम्बन्धित रह गया।

६६ मण्डल ९ की शैली और सूक्तों में गूढ़ आभ्यासिक निर्देशों से ज्ञात होता है कि यह मण्डल पहले आठों के पीछे की रचना है। इस के कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन हो सकते हैं जितना भारत-ईरानी काल से प्राप्त सोमयज्ञ।

६७ इस मण्डल को दो भागों में रखा जा सकता है। प्रथम भाग (सूक्त १-६०) में सूक्तों का सकलन मन्त्रों की घटती संख्या के अनुसार किया गया है। प्रथम सूक्त में दस मन्त्र हैं और अन्तिम में कुल चार। दूसरे भाग (सूक्त ६१-११४) में यह क्रम नहीं मिलता है। इस में बहुत लम्बे-लम्बे सूक्त भी हैं, यथा—एक में ४८ और दूसरे में ५८ मन्त्र हैं। दोनों भागों में छन्द का भी भेद है। प्रथम भाग में केवल चार मन्त्रों

को छोड़ कर शेष सब गायत्री छन्द में हैं, दूसरे भाग में अन्य छन्दों—जगती, त्रिष्टुप् आदि के वर्गों का प्राधान्य है।

६८. दशम मण्डल सब से अन्त में जोड़ा गया। इनकी भाषा और विषयों में ज्ञान होता है कि यह शेष मण्डलों में पीछे की रचना है। इस के ऋषि शेष मण्डलों के ऋषियों में परिचित हैं। इस के महिता के अन्त में होने और सूक्तों की संख्या प्रथम मण्डल के सूक्तों के बराबर (अर्थात्—१९१) होने से यह मुख्यतः है कि यह महिता का परिशिष्ट है। इस के सूक्तों की रचना अनेकों ऋषियों ने की है, जिन में कुछ ऋषि वे ही हैं जो अन्य मण्डलों में भी आये हैं, परन्तु परम्परागत मन्त्रों का ऋषिवर्णन बहुत से सूक्तों के सम्बन्ध में किसी सूक्त का नहीं है।

६९. इन मण्डल का स्वरूप नामान्वयतः अर्वाचीन होने पर भी इन में कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन और काव्यमय हैं जितने सामान्य रूप से अन्य मण्डलों के। इन सूक्तों को इन मण्डल में इन लिए स्थान मिला हो सकता है कि शेष मण्डलों के संकलन के समय वे किसी कारण से इन में सम्मिश्रित न किये जा सकें।

७०. इन दशम मण्डल की भाषा में प्राचीन रूपों और शब्दों का प्रयोग क्षीण हो रहा है और नये पद और शब्दों का विकास हो रहा है।

७१. विषय की दृष्टि से इन मण्डल में अमूर्त भावों, दार्शनिक विवेचनों और अथर्ववेद के क्षेत्र में सम्बन्धित जाहू-टाने आदि की प्रवृत्ति और वर्णन प्रमुख हैं।

७२. परन्तु ऋग्वेद के विभाजन की ये सूक्तियाँ पूर्णतः नव्य नहीं। इन का प्रमुख आधार नव्यानुक्रमणियों में वर्णित मन्त्रों में सम्बन्धित और बहुधा मन्त्रों में प्रयुक्त तथाकथित ऋषिनामों को इन का रचयिता मानना है। यह मान्यता निर्धारण और निर्दिष्टाद नहीं। ये ऋषिनाम रचयिताओं के

नहीं है, प्रत्युत उन-उन सूक्तों के अर्थों की प्रकाशक मजाएँ हैं।" जब ऋषि और उन के वंश ही नहीं रहे तब वशमण्डला और प्राचीन और अर्वाचीन ऋषियों के अनुमात्र मण्डला के पौर्वापर्य या सूक्तों के वर्गीकरण की कल्पना का प्रसंग ही नहीं रहता।

७३ वशमण्डला में और अन्य मण्डला में देवताओं के सूक्तवर्गों में भेद भी आपातन ही है। ऋग्वेद का देवतावाद 'एक मत्' का विस्तार है। वहाँ अग्नि और इन्द्र तथा अन्य देवताओं में मूलतः भेद नहीं है। बाह्य दृष्टि (आधिभौतिक और आधिदैविक) में अग्नि एक अग्नि नहीं, वह विविध विषयों की समान गुणा के आधार पर एक परिभाषा है। यही इन्द्र आदि उदा की स्थिति है।" वैश्व भी देवताओं के आधार पर वर्गीकरण में भी कुछ अपवाद हैं। मण्डल २ में सूक्त ३ में कई देवताओं के मन्त्र हैं। इसी प्रकार ऋ० ३।२ वैश्वानर अग्नि का ३।४, ८ आदि बहुदेवताक हैं। ऋ ३।३३ इन्द्रसूक्त नहीं है। ऋ ४।३।१ रुद्र का है, अग्नि का नहीं, ऋ ४।१८।१, ५-७ वामदेव के हैं, इन्द्र के नहीं। ऐसी ही अव्यवस्था मण्डल ५, ६ और ७ में पायी जाती है।

७४ सूक्तों के मूलतः वशमण्डलों में भी सर्वत्र एक-मा नियम नहीं है। उदाहरण के लिए ऋ ३।२७-२९ के अग्निवर्गीय सूक्तों में मन्त्रमस्या

४६ देवा मुधीर कुमार गुप्त—ऋग्वेद के ऋषि और उन का दर्शन, वेदवाणी ७।१-२ विद्वत्सिद्धांत १९, ५८, मीक्स ओफ़ दी ऋग्वेद, देवर मैनेज ऐण्ड फिलीमौपी तथा वेभाष० ४, ५, ६, १७ के ऋषि विषयक मन्त्र। इस में ही श्री मैक्सवेल आदि विद्वानों के सर्वानुक्रमणियों के ऋषिवर्णन पर अविश्वास का दाद भी निराधार हा जाता है। ४७ हम देवतावाद के वर्णन के लिए देवा मुधीर कुमार गुप्त, महर्षि दयानन्द और देवता शब्द का अर्थ, ऋग्वेद का धर्म, वेभाष० ४, ५, ६, १७ के देवताविषयक अनुच्छेद।

क्रम में १५, ६ और १६ है। ऋ. ४।१५, ६।१५; १६ और ऋ. ७।१५-१७ आदि इस नियम के अन्वय हैं। स्वयं मण्डलों का प्राग भी मन्वसंख्या के अनुसार नहीं है। यथा मण्डल २ में ४३, ३ में ६२, ४ में ५८, ५ में ८७, ६ में ७५ और ७ में १०४ सूक्त हैं।

७५. मण्डल ९ में प्रथम आठ मण्डलों के गोमसूक्तों का संग्रह मानना और साथ ही इसे पहले आठ मण्डलों के पीछे रखा हुआ मानना परस्पर विरोधी विचार हैं।

७६. दशम मण्डल और वंशमण्डलों में विषय और भाव की दृष्टि से न मौलिक भेद है, न बहुत अधिक। ऋग्वेद के पद विधिष्ट भावों की परिचायिका परिभाषाएँ हैं जिन के ठीक-ठीक भाव को जानने की समस्या आज विद्वद्गण के सामने है। इन रचना में विष्णु और इन्द्र सूक्तों की टिप्पणियों ने यह मुख्यतः ही जायगा कि ये सूक्त भी दार्शनिक विचारों से आंतर्प्रोत हैं। ऋ. ४।४२।४, ६ आदि में ऋ. १०।१२५ के चावसूक्त की शैली ही अपनावी गयी है। प्रतीयमान जादू-टोने आदि के सदृश विषय यत्र-तत्र ऋग्वेद में अन्यत्र भी मिल जाते हैं।

७७. भाषा के आधार पर पूर्वापर्यं निश्चय करता सम्भव नहीं। कनिषय व्याकरण के रूप जो दशम मण्डल में प्रचुर हैं और अर्वाचीन माने जाते हैं वंशमण्डलों में भी मिलते हैं। परंपरागत विषयानुकूल करने में ही अर्थ-नाम्नानि मिल जाती है।

७८. अतः ऋग्वेद में मण्डलों या उन के अंशों में पूर्वापर्यं का निर्णय उपलब्ध नामांशों के आधार पर करना सम्भव नहीं। ही नकला है नगल महिना का संकल्पन किसी एक ही व्यक्ति ने किया हो और विभिन्न दृष्टियों में सूक्तों की संघटना की हो।

## ऋग्वेद की भाषा

७९ ऋग्वेद की भाषा आधुनिक लौकिक मन्वृत भाषा का प्राचीनतम रूप है जो पाणिनि के नियमा में जकड़ी जा कर आधुनिक रूप को प्राप्त हो गयी है। इसमें लौकिक मन्वृत की अपेक्षा रूपमम्पत् बहुत अधिक है। मज्ञाआ और सर्वनामा के विभक्तिवा मे रूपा की प्रचुरता है। इसमें शतृ गान्त् और कत्वान्त पदा के रूप अनेकविध हैं। क्रियापदा में यह रूप समृद्धि सविशेष लक्षित होती है क्या कि ऋग्वेद में लट् का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यह लोकभाषा में विन्दुल भी नहीं है। ऋग्वेद में तुमुन् के लिए लगभग एव दर्जन प्रत्यय हैं जिन में से लोकभाषा में केवल एक तुमुन् ही शेष बचा है।

८० ऋग्वेद की भाषा में उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वरा का प्रयोग किया जाता है। यह स्वर समीतात्मक है और कण्ठध्वनि के आगह्वरोह पर निर्भर है। लौकिक भाषा में ये स्वर नहीं लगाये जाते हैं। यहाँ स्वर अब परिमाणात्मक रह गया है ध्वन्यात्मक नहीं है। इस का भाषा विज्ञान में कोई मूल्य नहीं है जब कि वैदिक स्वर भाषाविज्ञान में और शब्दा का अर्थ करने में महान् सहायक है।

८१ ऋग्वेद की मन्थि लौकिक सन्धि से अधिक स्वाभाविक और प्राचीनतर है। पदान्त न् और च छ या त थ के बीच मे न् या स् का आगम ऋग्वेद में अल्पतर है और ऐतिहासिक है परन्तु लौकिक भाषा में यह आगम अनिवार्य हो गया है। पदान्त ए और ओ के पश्चात् ऋग्वेद में अ' बहुधा बना रहता है पूरूप नहीं होता है। लोकमें यह अ' नियमित रूप से पदान्त ए, जो में एकरूप हो जाता है।

## ऋग्वेद में छन्दःप्रयोग

८२ सम्पूर्ण ऋग्वेद पञ्चात्मक है। प्रत्येक मन्त्र में सामान्यतः चार पाद होते हैं, परन्तु कुछ मन्त्र तीन पादा और पाँच पादा के भी हैं। कुछ ऋचाएँ

द्विपदा भी मानी गयी है यथा ऋ. ५।२४।१। परन्तु ऐसे रधानों पर दो-दो मन्त्रों को भिन्ना कर एकवन् भी माना गया है। ऋग्वेद में और आगे सर्वत्र पाद (म०—एक-चौथाई भाग) छन्दों की इकाई है। इन पादों में बहुधा आठ, ग्यारह या बारह वर्ण (एक बार में बोला जाने वाला स्वर या स्वरसहित व्यञ्जन) होते हैं। सामान्यतः मन्त्र के सब पाद एक समान होते हैं, परन्तु कुछ विन्द प्रयुक्त छन्दों में विभिन्न परिमाण के पादों का सम्मिश्रण पाया जाता है। ऋग्वेद में लगभग पन्द्रह छन्दों का प्रयोग पाया जाता है।<sup>१८</sup> उनमें से नाग छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इनमें भी त्रिष्टुभ्, गायत्री और जगती प्रमुख हैं और ऋग्वेद के लगभग दो-तिहाई भाग में प्रयुक्त हुए हैं। त्रिष्टुभ् में ग्यारह-भ्यारह वर्णों के चार पाद, गायत्री में आठ-आठ वर्णों के तीन पाद और जगती में बारह-बारह वर्णों के चार पाद होते हैं। प्रत्येक छन्द में चार-चार वर्ण बढ़ाने से अन्य छन्द बन जाता है। कर्त्त बार छन्दों में वर्ण-मन्त्रा कम पड़ जाती हैं। उस अवस्था में सन्धिच्छेद कर के अक्षरगणना पूरी की जाती है। यथा विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र चोचम् में वीर्याणि को वीरि आणि पढ़ने से छन्द की पूर्ति की जाती है। ऋग्वेदप्राति-नाम्य के मत में अर्थ के अनुसार सन्धिच्छेद और पादों को आगे-पीछे कर के मन्त्रों के छन्दों को बदला भी जा सकता है।<sup>१९</sup>

८२. वैदिक छन्दों में परिमाणानुसृत लय पायी जाती है जिग में लघु और गुरु का बारी-बारी से प्रयोग किया गया है। पाद के अन्तिम चार या पाँच वर्णों का वन नियमित है। ग्यारह, बारह तथा अधिक वर्णों वाले पादों

१८. इस कथन में छन्दों के अद्यान्तर भेदों, प्राजापत्य, वैश्व और आभृत् छन्दों के विभागों को सम्मिलित नहीं किया गया है। प्रातिहार्य के पूर्वविध छन्दोविन्तार का आधार मन्त्रों के अनेकविध अर्थ हैं। इस विन्तार में छन्दो-नामों को वेदायंशापक संज्ञाएँ माना गया है। देखो वेभाप० १०।९—३१।

१९. वही, १०।१४।



में यति भी हाती है। ला० मैकडानल का विचार है कि इस प्रकार वैदिक छन्द अवेस्ता के छंदा और लौकिक मन्त्र के छंदा के बीच के ठहराव है क्या कि अवेस्ता में केवल वणमरया हाती है और लौकिक मन्त्र में उन का परिमाण भी नियत होता है। परन्तु इन दोनों ही प्रकार के छंदा में वैदिक छंदा की-सी अर्धानुमारी याजना का अभाव पाया जाता है। अतिन्ष्टम् विच्छन्दम भूर्विक् विराट और निचूत छंदा के लक्षणों से ज्ञात जाता है कि परम्परा वैदिक छंदा में वर्णमरया पर ही विनाय बल देती है वणपरिमाण पर नहीं।

८४ सामान्यत एव सूक्त में एक ही छन्द के मन्त्र मिलते हैं। कई बार सूक्तसमाप्ति पर एक मात्र भिन्न छन्द में भी पाया जाता है। कुछ सूक्ता में दो या तीन तीन मन्त्रों के जोड़ा भी पाये जाते हैं। युग्म मन्त्रों में भिन्न भिन्न छंदा के दो मन्त्र एक साथ प्रयुक्त होते हैं। इन्हें प्रगाय कहते हैं। मण्डल ८ में इन का वाहुय है। तीन मन्त्रों के जोड़ा—तृचा में तीनों मन्त्रों का छन्द एक ही होता है। बहुवा यह छन्द गायत्री होता है।

## ऋग्वेद का धर्म

८५ आधुनिकों के मत में ऋग्वेद के धर्म में विभिन्न देवताओं की पूजा प्रबल है। ये देवता मुख्य रूप से प्राकृतिक दृश्या की पुरुषविध कल्पनाएँ हैं। वैदिक सूक्त इन्हीं देवताओं से की गई प्रार्थनाएँ हैं। इन के साथ सोम और धी की आहुतियों देनी भी अभीष्ट रही हैं। इस प्रकार यह धर्म बहुदेवतावादी है और ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीनतम सूक्ता में विश्वदेवतावादी (विराट्यादी) लक्षित होता है।

८६ ऋग्वेद में देवताओं का मर्यादा सामान्यत ३३ बताया गया है। इन्हें तीन श्रेणियों—पृथिवी, अन्तरिक्ष और दुर्गा में विभक्त किया गया है। प्रत्येक श्रेणी में ग्यारह ग्यारह देवता हैं। इन में मरुत् आदि सप्त देवताओं की गणना नहीं की गयी है।

८३. देवताओं का जन्म भी हुआ है। उन का आदि है। परन्तु वे सब एक साथ उत्पन्न नहीं हुए। ऋग्वेद में प्राचीन देवताओं का उल्लेख आया है। कुछ देवताओं को अन्व्यों की सन्तति बताया गया है। सोम पी कर अथवा अग्नि और भविता से सोम पी कर देवता अमर बने हैं। अतः पहले वे अमर नहीं—मर्त्य मानव थे।

८४. देवताओं को पुरुषविध रूप में वर्णित किया गया है। उन के शरीर के अंगों का बहुमः वर्णन किया गया है। ये अंग विविध प्राकृतिक दृश्यों आदि के रूपकात्मक वर्णन हैं। उदाहरण के लिए सूर्य की निरूपण ही उस के हाथ है और अग्नि की ज्वालाएँ ही उस की जिह्वा और शरीर के अंग हैं। कुछ देवता, विशेषतः इन्द्र योधा के रूप में वर्णित किये गए हैं। अग्नि और बृहस्पति आदि कतिपय देवता पुरोहित बताये गये हैं। सब देवताओं के रथ हैं जिन्हें घोड़े खींचते हैं। कुछ देवताओं के रथों को अज अथवा अन्य पशु चलाते हैं। इन वाहनों से देवता आकाश में से होते हुए यज्ञ पर आते हैं। देवताओं और मनुष्यों का प्रिय भोजन दूध, घी, अन्न, भेड़, बकरियों और ग्राम्य पशुओं का मांस है। ये वस्तुएँ देवताओं को यज्ञ में आहुति देकर भेंट दी जाती हैं। यज्ञ में आहुत पदार्थों को अग्नि स्वर्ग में देवताओं तक पहुँचा देता है। देवता स्वयं भी यज्ञ वेदी पर बिछी घास पर आ कर इन आहुतियों को ग्रहण करते हैं। देवताओं का इष्ट और मादक पेय पदार्थ गोमूत्र का रस है। विष्णु का उच्चतम पद—तीमरा दुन्दुब—स्वर्ग देवताओं का निवास स्थान है। यहाँ वे गोमूत्र से तृप्त हो कर आनन्द का जीवन बिताते हैं।

८५. देवताओं के गूण अनेकविध हैं। इन में सर्वप्रधान उन की शक्ति है। वे महान् और परम शक्तिशाली हैं। वे प्रकृति को नियम में रखते हैं और पाप की गुप्त शक्तियों को नष्ट करते हैं। उन का शान्तन ममत्न प्राणियों पर है। कोई उन के नियमों की उपाधा नहीं कर सकता है। वे प्राणियों की आत्मा का मान करते हैं। मानव की कामनाएँ उन की कृपा से ही पूर्ण होती

[ है। देवता दयालु हैं और मनुष्या को समृद्धि देने हैं। केवल एरु रद्र ही ऐसा देवता है जो उग्र स्वभाव है और हिंसा की प्रवृत्ति भी रखता है। देवता सरय हैं। किमी को धोखा नहीं देने हैं। वे मन्त्रों और धार्मिकों के रक्षक हैं परन्तु पाप और अपराध को क्षमा नहीं करने हैं।

१० देवताओं का स्वरूप अभी पूरा विकसित नहीं हुआ है। अभी उन में से प्राकृतिक तत्त्वा का निराकरण नहीं किया गया है। अतः उन का स्वरूप अनिश्चित और व्यक्तित्व में विहीन है। कई बार दो देवताओं की एक साथ स्तुति की जाती है और उन्हें समान गुणा से विभूषित किया जाता है। इन में से कुछ गुण तो एक देवता से ही सम्बन्ध रखने हैं और दूसरे के क्षेत्र से बाह्य होते हैं। इस प्रकार समस्त देवताओं को समस्त गुणा से विभूषित करने की प्रवृत्ति से एक दूसरे से तादात्म्य की भावना सुगम हो गयी। ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीन मन्त्रों में यह भावना व्यक्त भी हुई है। परन्तु यह एकेश्वरवाद में कभी विकसित न हो सकी। एक मूक्त में अदिति और प्रजापति का समस्त देवताओं और प्रकृति से तादात्म्य बनाया गया है।

## देवताओं का वर्गीकरण

११ समस्त देवताओं को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—१ द्युस्थानीय, २ अन्तरिक्षस्थानीय और पृथिवीस्थानीय। प्रथम वर्ग में सौ, वरुण, मित्र, सूर्य, सवित्र, पूषन्, अश्विनौ उपस् और रात्री आते हैं। इन्द्र, अपानपात्र, रद्र, मरुत्, वामु पर्जन्य और आप अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं तथा पृथिवी, अग्नि और सोम पृथिवीस्थानीय।

## प्रमुख देवता

१२ ऋग्वेद में ये देवता बहुत प्रमुख हैं और अनेक मूक्तों के देवता हैं। वरुण ऋन का देवता है। वह पापियों को अपने पाश से बाँधता है।

मित्र, सूर्य, मरिचु और पूषन् सूर्य के विभिन्न पक्ष हैं। उपन् उपाकाल की देवता है। यह प्रतिदिन आती है। पुगनी होने हुए भी गदा नहीं है। उन के आने पर यज्ञ होने हैं। यह सूर्य की पत्नी और पुत्री है। इन्द्र ऋग्वेद में युद्ध का देवता है। यह वृष आदि राक्षसों का वध करता है और मान सिन्धुओं को मुक्त करता है। अत्र गुणकारक भी है और पापियों को दण्ड देने वाला भी। यही आगे चल कर पीगाणिक मित्र में परिवर्तित हो गया है। नभदतः उन के वर्णनों के मूल में व्यवहक नाग्वेक का पुरुषविध रूप भी है। अग्नि का भौतिक रूप ही प्रमुख रूप से वर्णित हुआ है। यह विद्युत् और सूर्य के रूप में भी आती है। यह हवियों को देवताओं के पास ले जाती है और यज्ञ का साधन है। मोम एक लता का रस है। जिसे पी कर इन्द्र अनुरों को जीतना है और देवता अमर हो जाने हैं।

## अल्पस्तुत देवता

१३. कुछ अल्पस्तुत देवता भी हैं। अत्र विद्युत् प्रतीत होता है। यह भारत-ईरान का है। मातरिष्या स्वर्ग से मनुष्यों के लिए अग्नि लाता है। पार्थिव देवताओं में मिन्धु, विषाप् और धुतुद्री आदि नदियों आती हैं। उन में नरस्वती सर्वप्रमुख है और बहुधा वर्णित हुई है। ऋग्वेद के ममस्त वर्णनों में इस का नदीभाव कभी भी विस्मृत नहीं हुआ है।

## अमृत देवता

१४. विचारों के विकास के साथ कतिपय अमृत देवताओं की भी कल्पना की गयी। ऐसे कुछ देवता तो प्रमुख देवताओं के विशेषण मात्र हैं जो कालान्तर में देवता के रूप में कल्पित कर लिये गये। धाता पृथिवी,

१०. देवी सुशीलकुमार गुप्त, कोकानट (व्यवहक उन ही ऋग्वेद) एल दी अंतरिक्ष श्रीक मित्र कन्द, आठवांका० (सं.) १९४८।

तुल्यक, चन्द्र और सूर्य को बनाता है। विधानु, धनु, ऋतु और नेत्र का वर्णन जगदात्मक है। खण्डा का अनेक बार वर्णन हुआ है परन्तु उस का कोई मूलन नहीं है। वह देवगिरी है। उस में इन्द्र का वज्र और चमस बनाया है। वह गोम का गदाक और गरुड का पिता है। प्रजापति गमार का रचयिता है। त्रिदशमन् और हिरण्यगर्भ भी पहले विशेषण थे। 'कर्म देवाय हरिषा विधेम—सिम देव की हम हवि से सेवा करें' में हिरण्यगर्भ के विशेषण में देवता रूप में विरचित शब्दों का क्रम लक्षण होता है। बृहस्पति ही ऐसा देवता है जो ऋग्वेद के प्राचीन और अर्वाचीन दोनों भागों में पाया जाता है।

९५ अमृत देवताओं के दूगरे वर्ग में भास्वराक्षर राजाओं से बने देवता आते हैं। इन में मनुष्य, श्रद्धा, अनुमति '(देवा की) अनुकूलता', अरुमति 'भक्ति', मृत्यु, अमृतानि और निरुमति आते हैं। मनु के दो मूलन हैं और श्रद्धा का एक।

## देवियाँ

९६ एक अन्य अमृत देवता अदिनि की ऋग्वेद में सर्वत्र ही स्तुति मिलती है। इस का प्रमुख कर्म भौतिक यज्ञशास्त्र और नैतिक पापों से मुक्त करना है। वह आदिन्या की जननी है। दिति का बेटल तीन ही चार नाम आया है।

९७ ऋग्वेद में देवियों का स्थान अति गौण है। इन में सर्वप्रमुख उषा है। फिर सरस्वती का स्थान आता है। इस के दो मूलन हैं। वाक् का एक मूलन है। पृथिवी, रात्री और अरुण्यानी के भी एक एक मूलन हैं। देवताओं की पत्नियाँ अग्न्यायी, इन्द्राणी और वरुणानी आदि का व्यक्तित्व नगण्य है। उन का कार्य महत्त्व प्रतीत नहीं होता।

## युग्म देवता

१८. ऋग्वेद के धर्म की एक विशेषता युग्म देवता है। ये द्वन्द्व समास से व्यवहृत किये गये हैं। दोनों ही देवतानाम द्विवचन में प्रयुक्त होते हैं और एक दूसरे के वाचक हैं। इन में सब से अधिक स्तुति मित्रावरुणा की हुई है। धावापृथिवी का नाम बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है। यह जोड़ा भायारोपीय युग का है।

## संघ देवता

१९. देवताओं के कुछ अनिश्चित में समूह भी मिलते हैं। इन का किसी विशेष देवता से सम्बन्ध होता है। मरुतों का सम्बन्ध इन्द्र से है। उन की संख्या सर्वाधिक है। आदित्यों का नायक वरुण है। ये सदैव अदिति के साथ यज्ञित किये गये हैं। इन की संख्या सात है जो मार्दण्य को गिनकर आठ हो जाती है। एक मन्त्र में इन में से छह का नाम आया है—मित्र, अयंमन्, भग, वरुण, दक्ष, अम। सम्भवतः सूर्य सातवाँ था। वज्रुओं का न व्यक्तित्व स्पष्ट है न उन की संख्या बतायी गयी है। इन का प्रमुख इन्द्र है। विश्वे देवा = की स्तुति बहुत से सूक्तों में की गयी है। यद्यपि नाम से यह सब देवताओं का सांताक मान्य होता है परन्तु अनेक बार इन की स्तुति अन्य देवताओं यथा वज्रु और आदित्यों के साथ की गयी है।

## लघु देवता

१००. जिन और प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ छोटे देवता भी हैं। उन में प्रमुख ऋभु हैं जिन के ग्वान्ह सूक्त हैं। ये अपने कीमन्त्र से ही देवता बने हैं। उन्होंने ने त्वष्टा के एक चमस को चार बनाया। इन्होंने अपने माता-पिता को पुनः जयान बनाया। उन के उन दोनों और अन्य तीन चमसकारों के अनेकविध व्याख्यान दिये गये हैं।

१०१ ऋग्वेद में अप्सराओं का भी बहुधा उल्लेख मिलता है। ये गन्धर्वपत्नियाँ हैं। ये एक से अधिक हैं परन्तु नाम केवल उर्वशी का ही आया है। गन्धर्व एक ही है जो अन्तरिक्ष में रहता है, दिव्य साम की रक्षा करता है और जला से सम्बन्धित है।

## रक्षक देवता

१०२ कुछ देवता रक्षक स्तर के भी हैं। वायुदेवता वायु का देवता है। वह घर में सुप्रबुद्ध का दाता रागा का दूर करने वाला रक्षक और समृद्धि देने वाला है। धेनुस्य पति पशु और घाड़ दत्ता है और कुशलक्षेम का स्वामी है। सीता से छेतो और समृद्ध कामनाएँ प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गयी है।

## पार्थिव वस्तु—देवता रूप में

१०३ प्रकृति के प्रमुख दृष्ट्या के अतिरिक्त भूमि के विभिन्न स्वरूप और कृत्रिम पदार्थ भी देवता रूप में कल्पित किये गये हैं। इन में पर्वता का अन्य देवताओं या अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के साथ वर्णित किया गया है। ओषधियाँ का एक सूक्त है। ये रोगों को दूर करती हैं। जल की वस्तुओं में यूप, बहि द्वारा देवी, श्रावाण, उमल और मुमल है। श्रावाण अमर अजर, दलोक से भी अधिक समर्थ और राक्षसों तथा नाश के अपहन्ता है। वर्म, इषु इषुधि धनुष् और ढोठ की भी एक सूक्त में स्तुति की गयी है।

## असुर

१०४ ऋग्वेद में वर्णित असुर दो प्रकार के हैं—१ ऊँचे और शक्तिशाली असुर देवताओं के आकाशीय शत्रु हैं। इन्हें असुर बहुत कम कहा गया है। दास या दस्यु से इन्हें बहुधा पुकारा गया है। यह नाम सामान्यतः भारत के आदि निवासियों के माने जाते हैं। ऋग्वेद में देवासुर युद्ध नियमित

रूप में एक देवता और एक अमुर में ही होता है यथा इन्द्र और वृत्र का संग्राम। वृत्र का ही सर्वाधिक उल्लेख आया है। उन की माता दानु है। दूनरा इतिहासात्मी अमुर बल है। यह गीओं की अपथा (गूफा, वादों) का ही पुन्यविध रूप है। यह उन अपथा की रक्षा करता है। अंगिरस आदि अपने सहायकों के साथ इन्द्र उन वादों में गायों को निगलता है। इन्द्र के अन्य वधु गक्षनों में में अर्बुद एक दुष्ट हिमक पशु है। इन्द्र इस की गीओं को छीन लेता है। विन्द्ररूप स्वप्ता का पुत्र है। इस के तीन सिर हैं। अत्रि और इन्द्र उगे मार कर इस की गीओं को छीन लेते हैं। स्वभानु सूर्य को निगलने वाला है। कुछ अन्य दाग भी हैं जिन्हें इन्द्र मारता है। गक्षसों का एक वर्ग-पण्डि इन्द्र का प्रमुख वधु है। इन्द्र नरना (एक कुतिया) की महायता ने उन के स्थान को ग्राज कर उन में गीओं को छुड़ाना है।

१०५. दूनरे वर्ग में पारिव गक्षस आते हैं। ये मनुष्यों के वधु हैं। इन का सामान्य नाम रक्षन् है। इन का वर्णन सामान्यतः किमी देवता के साथ आता है। यह देवता इन राक्षसों का वध करता है। यातु और यातु-धान अनेक धार राक्षसों के साथ वर्णित हुए हैं। संभवतः ये गुप्तचर हों। पिमानों का ऋग्वेद में वर्णन विरल है।

१०६. लगभग तीन सूक्तों में देवताओं की स्तुति आदि में भिन्न विषय मिलते हैं। इन में से लगभग एक दर्जन सूक्तों में जादू और तान्त्रिक क्रियाओं का वर्णन है। ये अधिकांश रूप में दमनमण्डल तक ही सीमित हैं। उन के विषय मकुत (२।४२-४३), विद्यापनयन (१।१९१), रोग की निवृत्ति (१०।१६३), वृक्षों के हिमक राक्षस के नाम (१०।१६२), मधुओं के निग्न दुर्भावना (१०।१६६) या मपलीमर्दन (१०।१८५) हैं। कुछ सूक्तों में आयुक्षा (१०।५८, ६०), मित्रा लाना (५।५५) या मन्तनि प्राप्त करना (१०।१८३) का वर्णन है। एक सूक्त (३।१०३) में मण्डकों की स्तुति है जो वर्गों के निग्न की जाती है।



## ऋषि दयानन्द का मत

१०७ इस के विपरीत ऋषि दयानन्द ने बड़े आरदार शब्दा में हम बात की घोषणा की है कि ऋग्वेदीय धर्म एक ईश्वर की पूजा का विधायक है। 'अपने यदभाष्या में इन्होंने अग्नि' मविता, 'इद्र, ' और वरुण जादि पदा का परमात्मा अथ किया है। अपने भाष्या में आप ने वही भी यह भाव नहीं छलने दिया है कि वेद में अग्नि देवता, सूर्य देवता वर्षा देवता आधी देवता आदि जिही देवताओं की सत्ता है। आप ने अग्नि और सूर्य का अथ प्रम स आग, ' और सूरज, ' अवश्य किया है परन्तु उन का अथ प्रकाश और गर्मी पहुँचाने वाले आग और सूर्य ही हैं। समाज में भिन्न २ ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्या को उन का समुचित प्रयोग करना चाहिए। ' उदाहरणतः भौतिक अग्नि के या बिजली के रूप में बना में आग का प्रयोग अनुलनीय सम्पत्ति प्रदान कर सकता है। ' सूर्य की विरणा का प्रयोग स्वास्थ्य, और रागा संमुक्ति प्रदान कर सकता है और उस का कला आदि में प्रयोग समृद्ध बना देता है। '

५१ सत्यार्थ प्रकाश (कलकत्ता) पृ० ११४, भूमिका पृ० ५८, ८३।  
 ५२ ऋ० १।७।१, २, आदि। ५३ ऋ० १।२२। ८। ५४ ऋ० १।३।५।  
 ५५ ऋ० १।२५।३। ५६ ऋ० १।५०।३। ५७ . ऋ० १।२३।१७। ५८ ऋ०  
 १।१२।७। ८। ५९ ऋ० १।१२।१, ७, ८, इत्यादि। ६० ऋ० १।२।६।  
 इत्यादि।

१९-१-१९५२ के ट्रिब्यून के अङ्क में पृ० ५, कालम ५ (तीथे) पर एर समाचार के अनुसार डा० प० जवाहरलाल नेहरू ने १७-१-१९५२ को बनारस में एक सभा में भाषण देने हुए कहा था कि भारत में कुछ वैज्ञानिकों ने भोजन पकाने के लिए सूर्य की शक्ति के प्रयोग का उपाय खोज निकाला है और प० जी ने स्वयं इस प्रकार पके हुए भोजन का स्वाद चखा है।

## विवेचन

१०८. ऊपर के लेखों में सुस्पष्ट है कि आधुनिक सम्प्रदाय का विचार है कि धर्मों में अनेकों देवी-देवताओं की उपासना का विधान है।<sup>१</sup> आचार्य मैक्समूलर के विचार में वैदिक धर्म हिनोथीयिस्टिक ( Henotheistic ) है।<sup>२</sup> उन के मन में यद्यपि ऋग्वेद में अनेकों देवताओं का मान्यता दी गयी है तो भी प्रत्येक शेष अन्यो में स्वतन्त्र रूप में वर्णित किया गया है। पूजा या प्रार्थना के समय एकमात्र वह देवता ही भक्त के मन में उपस्थित होता है। कोई भी देवता अपने पद में ऊँचा या नीचा नहीं माना गया है। पूजा के समय प्रत्येक देवता को 'मह्य, परम और एकमात्र देवता' ( as a real divinity as supreme and absolute ) के रूप में अनुभव किया जाता है।<sup>३</sup>

१०९. प्रो० मेवटोनल इस विवेचता को वैदिक कवियों की अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति का परिचायक मानते हैं।

११०. आपका यह बलात् मानना पड़ा है कि वैदिक देवताओं का पुरुषाकार परिच्छेदात्मक वर्णन और चरित्रगत व्यवितत्व से हीन हैं। वे अभी किञ्चित् मात्र ही विकसित हुए हैं। उन के व्यावर्तक गुण बहुत कम हैं। परन्तु उन में कान्ति, शक्ति, परीपकारिता और युद्धिमत्ता आदि बहुत से नमान गुण पाये जाते हैं। अनेकों बार एक देवता की विवेचताओं को दूसरे देवता में भी बनाया गया है। इस से एक देवता के दूसरे देवता से तादात्म्य सम्बन्ध की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। यह प्रवृत्ति ऋग्वेद में बहुधा पायी जाती है ( उदाहरणार्थ देवो ऋ० ५।३।१ )। "अपि च-अग्निपूजक ब्राह्मणों की दृष्टि

६१. देवो मुरुदत्त विद्यार्थी, दी टर्मिनोलॉजी आफ वेदाज एण्ड यूरो-पियन स्नालर्ज. पृ. ४९।

६२. लेक्चर्ज आन दी माउन्स ओफ रिजिजियन पृ० १४१-१४२।

६३. एन्थिपेन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५३३।

में परम महत्त्वशाली देवता अग्नि के स्वरूप, पृथ्वी पर भिन्न भिन्न अग्निषो के रूपा में उस की विविध अभिव्यक्तिया, विजय्री में प्राप्त अन्तरिक्षस्थ अग्नि तथा मूष में प्राप्त दिव्य अग्नि, उग के अन्य रूपा—जिन को वैदिक ऋषि पहेलिया में उन्मिद्विन मग्ने की बड़ी रुचि रखते हैं—पर रहस्यपूर्ण विचार मे यही प्रतीति हानी है कि विभिन्न देवता एन ही दिव्य सत्ता के विविध रूप हैं। यह भाव ऋग्वेद के अर्वाचीन मूर्त्ता के अनेक वाक्यों में पाया जाता है। ऐसे कथन बताते हैं कि ऋग्वेद काल की समाप्ति तक ऋषिया के बहुदेवतावाद में एकेश्वरवाद का पुट लग चुका था।<sup>११</sup>

१११ श्री मैक्समूलर और श्री मैकडोनल द्वारा दिये गये वैदिक धर्म के विवरण की मामालोचनात्मक परीक्षा तथा विश्लेषण यह व्यक्त कर देते हैं कि तथाकथित वैदिक देवताओं की कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं है। उन का एक-दूसरे मे नादात्म्य है तथा उन में गुणा की समानता है। अतः ऋग्वेद के देवताओं के नाम एक ही दिव्यमक्ति परमात्मा के ही विविध नाम हैं। यही शक्ति ऋषिया की भिन्न-भिन्न रुचिया तथा भिन्न भिन्न परिस्थितियों के कारण इन विभिन्न नामों से आकारित की गयी है। इस तथ्य को इन दोना विद्वाना ने समझ लिया है। अतः उन्हा ने घोषणा की है कि देवताओं की इस गारभूत एवता अथवा वैदिक धर्म की एकेश्वरवादिता वा ऋषिया द्वारा स्पष्ट उल्लेख शिष्ट सूक्ता की अपेक्षा अर्वाचीन है।

११२ ऋ० १।१६४ का दर्शन अङ्गिरा की तीसरी पीढी में दीर्घतमा औचक्ष्य ने, ऋ० १०।११४ वा अङ्गिरा की तीसरी पीढी में वैश्य सद्यि ने, ऋ० ५।३।१ का भूम की तीसरी पीढी में वसुधुन आश्रय ने किया था। भूम का पुत्र, अत्रि अनेक बार अङ्गिरा की तीसरी पीढी में भरद्वाज वा समकालीन वर्णित किया गया है। अतः भूम अङ्गिरा की दूसरी पीढी के बाद का नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि वह अङ्गिरा वा समकालीन ही हो। इस

प्रकार बनुशुन अङ्गिरा की चौथी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। अतः नमस्न देवताओं की एकता के स्पष्ट रूप से सूचक और प्रत्यापक ये तीन सूक्त और उन के मन्त्र द्रुहृत से उन सूक्तों से प्राचीनतर और कुछ के समकालीन हैं जिन में प्राङ्गीक दृश्यों के पुरुषाकार का वर्णन माना जाता है। इन वैदिक धर्म न बहुदेवतावादी (Polytheistic) हों सकता है न विश्वदेवतावादी (Pantheistic) और न तात्कालिक देवतावादी (Henotheistic)। इन की एकेश्वरवादिता।

“नर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपानि च सर्वाणि यद् यदन्ति ।  
यदिच्छन्तां ब्रह्मचर्यं चरन्ति तस्ते पद सप्रहृणुं ब्रवीम्यमीत्येतन् ॥”

आदि उपनिषद् वाक्यों, वेदान्त सूत्र (१. १. ४) तथा अन्य ग्रन्थों में जगन्कार शब्दों में प्रतिपादित की गयी है। इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि पद परमात्मा के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं—इन तत्त्व के घोषक मन्त्र द्वारा गीताओं में विशदरे पड़े हैं। इन मन्त्रों में विश्वामित्र के पिता गार्गी कीशिक द्वारा दृष्ट श्ल० ६।२०।३”, अगिरा की चौथी पीढ़ी के भृगु के गौर लिये

६५. कठार० २।१५; ज्योतिषनरोप० ५।६ भी देखें।

६६. ऋषि व्यासजी ने उन मन्त्र का विषय 'विद्वानः कथं वर्तन्ते' दिया है परन्तु उन का भाष्य बताता है कि यहाँ पर परमात्मा का वर्णन है। 'वेद' पद का हिन्दी अनुवाद अशुद्ध है। 'पृष्टवन्तो' के संस्कृत और हिन्दी अनुवाद में विषमता प्रतीत होती है। मंत्री प्रवृत्ति भावार्थ की भावना के आधार पर हिन्दी अनुवाद को ही शुद्ध मानने की ओर है। ऋग्वेद के उक्तवर्गी पद 'भृगीषि अमृतस्य नाम' हैं।

६७. उन मन्त्र का व्यासजी का व्याख्यान इस से भिन्न है। यह अनुवाद विशिष्ट आदि आधुनिक विद्वानों का है, जो प्रकृत कथन को प्रमाणित कर रहा है।

हुए पाते मूलमद द्वारा दृष्ट ऋ० २।१।३", य० ३२।१, और अ० १३।८ (१)।४, ५ का विशेषतया उल्लेख किया जा सकता है। ऋग्वेद के दाना मन्त्र ऋग्वेद काल के प्राचीनतम युग के हैं।

११३ प्रा० वेद्वी हाइमेन का विचार है कि प्रारम्भिक विचारण की दृष्टि को पदार्थों की एतता की अपेक्षा उन को विषमता ही अधिक प्रभावित करती है। वह प्राकृतिक दृष्ट्या में परम गति का अनुमान नहीं कर सकता। ऋग्वेदीय धर्म यद्यपि कुछ विरहित हा चुका है ता भी उस में एक म अधिक देवता हैं। तपार्थित ऋग्वेदीय एनेमरवादिता के मुख्य आधार ऋ० १।१६।८६ में दो बल्कि तीन पद हैं जो विशेष रूप म हमारे मन में इस विधा के लिए एवेश्वरवादी परिभाषा कल्पित करने के औचित्य पर मशय उत्पन्न कर देते हैं। प्रथम तो यहाँ पर देवता के विनी व्यक्तिगत रूप का नहीं बरन् नपुमक मद् एवम् को साम्बिक आधार बनाया है। दूसरे हम इस बात की उल्लेख नहीं कर सकते कि यहाँ पर यह माना गया है कि यह मुख्य आधार (नपुमक) अनेक रूपा (बहुधा) में व्यक्त हुआ माना गया है। चाहे कुछ भी हो इसी कथन क द्वारा ऋग्वेदीय धर्म की म्बिति में प्रारम्भिक एवेश्वरवाद की भावना व्यापित हो जाती है।"

११४ भाषानैदानिया तथा भारतीय साहित्यशास्त्रिया ने यह माना है कि अपनी मानुभाषा के पदा को गीयने समय एक बालक पढ़े विषमता के स्वरा का व्यावर्तन कर के भिन्न भिन्न पदार्थों के अन्तर्गत एतता के या समानता के सूत्रा का पकड़ता है। वह धीरे-धीरे ही दो पदार्थों के भेद का देग और समझ सकता है। इस लिए जब वह आग, मूर्य, दीपक अथवा अन्य किसी प्रकाशमान वस्तु का देखता है तब वह उन सब के समान गुण—धमक या प्रकाश—से ही प्रभावित होता है। जब वह एव गाय, पाडे या भैंस को

६८ ऐनल्स ऑफ भण्डार्यर आरिपण्डल रिचिंग इन्स्टिट्यूट अक स० २८, १९४७ कैथोनीथियियम एण्ड दानस्तुतिः।

केरता है तब वह उन के समान गुण बहुपदात्व से ही प्रभावित होता है। प्रत्येक अवस्था में वह समान गुण वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक ही समझता है।

११५. इसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में मानव ने अग्नि, सूर्य और तारे आदि नवी पदार्थों के समान गुणों का ही अवलोकन किया हो सकता है। अपने ज्ञान की प्रथम अवस्था में उन ने उन्हें नियत रूप में समान माना होगा। पीछे जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ा उन ने भिन्न-भिन्न पदार्थों में भेद किया होगा। इस प्रकार वह समानता ही है विपमता नहीं जिस ने मानव के चिन्तन की प्रथम अवस्था में उन के मन को ग्रहण किया हो सकता है। सन्य और संस्कृत लोगों में भी जब दो पदार्थ किन्ती मनुष्य के सामने लाये जाते हैं तो उन की समानताएँ तुरन्त ही उन के मन को आकर्षित कर लेती हैं। भेद का भाव तब से पीछे आता है और आयामताव्य होता है। यह ठीक है कि अधिकांश अवस्थाओं में वह आवान मनुष्य की अव्यक्त चेतना में होता है और इसी लिए प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले व्यक्ति को इस का सप्रयाम ज्ञान नहीं होता है। अतः तथाकथित मूल-एकेस्वरवाद (Urmonotheism) ही प्राचीनतम प्रागम्भिक धर्म की एकमात्र आधारभूत विशेषता हो सकती है।

११६. ऋग्वेदकार्द्वान मानव सन्धता और संस्कृति के मार्ग पर बहुत दूर पहुँच चुका था। उन ने मूल-एकेस्वरवाद, विश्वदेवतावाद तथा बहु-देवतावादों की अवस्थाओं को पार कर लिया था। उन ने प्रकृति के दृश्यों और पदार्थों की साग्भूत एकता को मालूम कर लिया था उन ने उन एकता के स्वरूप पर भी चिन्तन कर लिया था। यह उसे न पुष्किल कह सकता था न स्वीकृत और न ही नपुंसक किंग। ऋ० १।१६४।४६ के 'नद् एकम्' में नपुंसक लिङ्ग इसी अनुभव का परिचायक है। यह भाव ऋ० ८।३०।१; मैनाम्बनर उप० ८।३ और ५।१० में व्याक्त किया गया है। पानी और हवा के समान वह विभिन्न रूपों को धारण करता है। अतः वह प्रत्येक व्यक्ति को उन के अपने विश्वासों के अनुसार निन्न रूप बान्ध प्रतीत होता है।

इस लिए विभिन्न व्यक्ति उग का भिन्न भिन्न ही वर्णन करते हैं। श्री० हाइमेस को 'अनेक रूपा में अभिव्यक्ति' तथा भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न वर्णना के परिच्छेदात्मक रूप को समझने में ध्याति हुई है। मन्त्र में ऐसी कोई व्यञ्जना नहीं है जैसी श्री हाइमेस ने निवारी है। इस का यथार्थ भाव यही है कि परमात्मा एक केवल एक ही है। ये मनुष्य ही हैं जो उग को भिन्न रूप में वर्णित करते हैं।

११७ जाधुनिक विद्वानों के ऋग्वेदीय धर्म के सम्बन्ध में विचारा का आधार उन की यह कल्पना ही है कि ऋग्वेद काल में मनुष्य अभी बहुत ही अविकसित अवस्था में था। इस कल्पना ने ही वेद और अन्य ग्रन्थों की प्राचीन साहित्यिक परम्परा की प्रभूत मात्मी को ठुकराया है। यही कल्पना वैदिक ग्रन्थों में एकान्त अविद्यामान देवताओं के नामों के अर्थ में अग्नि और मक्खिता आदि के जाने के लिए उत्तरदायी हैं। उन इस निराधार होने का कारण त्यागना और दयानन्द के विचारा को यथार्थ मान कर ग्रहण करना ही उचित है।

# ऋग्वेद में लौकिक सामग्री

## लौकिक सूक्त

११८. मुथिकल ने कोई बीस सूक्तों में लौकिक (—धर्मतर) सामग्री मिलती है। इन में भारत की प्राचीनतम संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। इन में से एक विवाह सूक्त (१०।८५) है, पांच सूक्त (१०।१८-१८) मृत्युविषयक है। इन में से पहले चार में मृत्यु के देवताओं का वर्णन है और अन्तिम में यम के संस्कार के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

## संवादसूक्त

११९. ऋग्वेद में कतिपय पौराणिक संवाद सूक्त भी आये हैं। इनमें वृता दिव्य प्रार्थना है (४।६२; १०।५१-५२; ८६; १०८)। दो सूक्तों में मानव ही पान है। पुण्ड्रवन् और उर्वशी सूक्त (१०।१५) में उर्वशी के प्रेमी पुण्ड्रवन् के आत्मगत विचार हैं। इन में उन कहानी का प्राचीनतम रूप है जिस का काण्डिदान ने दिव्यमार्थनीय में गुम्फित किया है। एक सूक्त (१०।१०) यम और यमी का संवाद है, जिन्हें सामान्यतः मानव जाति के आदि माता-पिता और परस्पर में भाई-बहन माना जाता है।<sup>६९</sup> ये संवादसूक्त आने आने वाले नाटकों का प्रारम्भ कहे जा सकते हैं।<sup>७०</sup>

६९. यम० ने उन में निर्वासन का वर्णन माना है। यमी उन के अनुसार यम की वरत नहीं है, बल्कि कोई अन्य स्त्री है।

७०. देवी सुधीर कुमार गुप्त, संस्कृत साहित्य का सुवर्ण दर्पिण्डास, १०। ७-१३।



## नीतिश्रुत

१२० ये गह्वरा में चार हैं। एव (१०।३४) में एव जुआरी वा जुआ खेलने में विगड़ी हुई अपनी दशा का चित्रण है। एव (१।११२) में मनुष्यों की लक्ष्मी के पीछे दौड़, एव (१०।७१) में वाणी की प्रशंसा, एव (१०।११७) में शुभ कर्मों की गणना के चित्रण मिलते हैं।

## पहेलियों

१२१ दो सूक्तों में पहेलियाँ हैं। एव (८।२९) में नामों को छिपा कर विभिन्न देवताओं का वर्णन किया गया है। एव ५२ मन्त्रों के सूक्त (१।१६४) में अनेकों समझौतों रखी गयी हैं जिन में से अधिकांश को डा० मैक्डोनाल्ड मूय ने सम्बन्धित बताया है। इनकी भाषा गृह्यसूक्त और प्रतीक रूप है। उदाहरण के लिए एक समान वृक्ष पर स्थित दो पक्षी ईश्वर और जीव हैं, जीव वृक्ष प्रकृति।

## सृष्टिश्रुत

१२० लगभग आधे दर्जन सूक्तों में ईश्वर द्वारा सृष्टिरचना का वर्णन है। नामदीप सूक्त (१०।१२९) में सृष्टि से पहले सत् और असत् की सत्ता का विशेष कर अपने सामर्थ्य में विश्वमान एक सत् का वर्णन किया गया है। जमी से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

## दानस्तुतियाँ

१२३ कुछ सूक्त और मन्त्रों में दानस्तुतियाँ हैं। ये अर्ध-ऐतिहासिक हैं। इन में वैदिक ऋषियों और उन के आश्रयदाताओं की वशावतियों और कुछ जानियाँ के नामों का पता मिलता है। ये अर्वाचीन हैं। इन में से अधिकांश प्रथम, दशम और ८ वें मण्डल के परिशिष्ट भाग में उपलब्ध हैं।

## भौगोलिक सामग्री

१२४. ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक परिस्थितियों, विशेष रूप से नदी सूक्त से आधुनिक विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ऋग्वेद की रचना के समय वैदिक आर्यजन पंजाब और पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर प्रांतों के प्रदेश में रहते थे। वनस्तानियों और पशु-पक्षियों के निर्देश में भी यही निष्कर्ष निकलता है।

१२५—परन्तु ऋग्वेद के ऋषि मन्त्र में परिचित थे। उन का उल्लेख चाँदे, पाँचवें और दसवें मण्डल में एक-एक बार आया है। नदी सूक्त में वर्णन पूर्व में पश्चिम की ओर चलता है। यह गंगा में प्रारम्भ होता है। अतः मन्त्र रचनाकाल में आर्य उत्तरप्रदेश के बहुत से भाग में अवश्य स्थित थे। यदि पूर्व उद्धृत मी-१४ के अणुमति के परीक्षण के निष्कर्षों को स्वीकार किया जाए तो उन समय आर्य मध्यप्रदेश में भी फैल चुके थे। यह अन्तिम निष्कर्ष अभी अव्यक्त है।

## ऐतिहासिक सामग्री

१२६—ऋग्वेद में प्रायः ऐतिहासिक सामग्री से यह सुव्याप्त होता है कि आर्य अभी भारत के आदि निवासियों से युद्ध में व्यस्त थे। वे अनेकों विजय प्राप्त कर चुके थे और विजेता के रूप में आगे बढ़ रहे थे। यद्यपि वे अनेकों जनों में विभक्त थे परन्तु उन में धार्मिक और जातीय एतना की भावना प्रचल थी। वे यज्ञ के निवासियों को यज्ञ न करने वाले, नास्तिक, कृष्ण वर्ण, अनासं दान वर्ण कहते थे।

१२७—परन्तु यह सब विचारणीय है। जैसा हम संग्रह में उद्धृत में दिखाया गया है कृष्ण और दान वर्ण पारिभाषिक एव हैं और सृष्टि में पूर्व के अन्धकार के प्रतीक हैं। ऋग्वेद में दान होय नहीं है वे आर्यों के

गमान स्तर के ही प्राणी है। अतः इस गमन्या पर पुनः नई दृष्टि से विचार आवश्यक है।

## सामाजिक अवस्था

१२८—गूफा में इधर-उधर बिखरी हुई मामग्री के तन्त्रालीन सामाजिक अवस्था पर काफी प्रकाश प्राप्त होता है। वन में पिता सर्वोपरि होता था। कुटुम्ब ही समाज की इकाई और आधार थे। स्त्रियाँ को बहुत स्वतन्त्रता और सम्मान प्राप्त थे। बहुत से अपराधा का भी वर्णन मिलता है जिन में पशुआ की चोरी प्रमुख थी। ऋण लेने की प्रथा भी थी। इस का एक कारण जुआ खेलना भी था। वस्त्रा में एक उत्तरीय और एक अघोवस्त्र होते थे। ये भेड़ की ऊन से बनाए जाते थे। बड़े, नूपुर, हार और बालियाँ पहनी जाती थीं। लाग डाही-भूछ रखने थे। कुछ उन्हें मुडवाँ भी थे। भोजन मामग्री में दूध, धी, अन्न, सब्जियाँ और फल प्रमुख थे। आधुनिक कतिपय विद्वान् मानते हैं कि जब यज्ञ में पशुआ की बलि दी जाती थी तभी धार्य लाग मान माने थे। डा० मैकडानल का विचार है कि सामान्यतः यह मान गी का होता था क्या कि यज्ञ में बैला की ही बलि विशेष रूप से दी जाती थी। परन्तु यह विचार मान्य नहीं। वेद में कोई ऐसा स्थल नहीं जहाँ निर्विवाद रूप में ऐसी ध्वनि निकाली जा सके।" पशुयज्ञ आलंकारिक है।" हवन की सामग्री भी पशु है।

१२९—दो प्रकार की शराब भी बनाई जाती थी। मीठ यज्ञों में

---

७० देवी सुभीरकुमार गुप्त, ऋग्वेद में मांस भक्षण की समस्या, वेद सम्मेलन, सुरजा अधिवेशन (संक्षेप) तथा मीएमडी०, मीट ईस्टिंग इन दी ऋग्वेद।

पिया जाता था, परन्तु किसी अन्न से निकाली हुई शराब-मुरा सामान्य अवसरों पर प्रयोग की जाती थी। परन्तु यह मत गर्मोक्षणीय है। एक मन्त्र में (ऋ० १।११६।७) में मुरा शराब नहीं हो सकती यह अश्व के जफ से निकाली जाती है। शेष स्थलों पर इसे बुरी दृष्टि से देखा गया है (तु० कु० दुर्मंदासो न मुरायाम्)।

## व्यवसाय

१३०—भारतीय आर्यों की एक प्रमुख व्यापृति युद्ध थी। यह युद्ध पैदल भी होता था और रथ पर भी। परन्तु ऐसा कोई वर्णन नहीं है कि घोड़ों पर चढ़ कर भी युद्ध किया जाता था। सामान्य वस्त्र बाण और धनुष थे। भाले और कुल्हाड़ी का भी प्रयोग किया जाता था।

१३१—जीवन का प्रधान आधार पशुपालन प्रतीत होता है। अनेक बार गीधों की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। कृपि भी बहुत होती थी। खेतों में हल चलाए जाते थे। इन में बैल जोते जाते थे। अन्न दरारियों से काटा जाता था और कूट कर साफ किया जाता था।

१३२—हिंसक वन्य पशुओं को जाल में पकड़ा जाता था या धनुष और बाण से मार दिया जाता था। इस में कुत्तों की भी सहायता ली जाती थी।

१३३—नीकाओं को पतवारों से लेवा जाता था। नीका ही नदी तरण का प्रमुख साधन थी। वाणिज्य विनिमय द्वारा होता था जिस का साधन गाय थी। मैनडोनल के विचार में कुछ व्यवसाय और शिल्प कलाएँ अधिकसित रूप में थे। परन्तु ऋभुओं के रथ और चमस के निर्माण, स्वप्ता और वृषु तक्षा के कार्यों की दृष्टि में यह कथन मान्य नहीं। रथकार और बढ़ई एक ही होते थे। लुहार लोहे की भट्टी पर पिघलाते थे और इस से धातु के बर्तन आदि बनाते थे। चमार पशुओं के चमड़े की

गाफ करने थे। स्त्रियों प्रायः या मूज की चटार्ई बनाती थी। वे भीनी और बुननी भी थी।

## मनोविनोद

१३४—मनोविनोदों में रचों की दोष्ट प्रचुर थी। सबप्रिय सामाजिक विनोद घृन श्रोता था। नाच अधिपन्न स्त्रियों में प्रचलित था। लोग गीत के प्रेमी थे। वे दुन्दुभि, वीणा और वाण का प्रयोग करते थे। गाने का भी उल्लेख मिलता है।

## ऋग्वेद का साहित्यिक मूल्यांकन

१३५—सामान्य रूप से ऋग्वेद सरल शैली में लिखा गया है। इस में सामान्यतः समानता का अभाव है। जो समान है उन में दो से अधिक पद नहीं मिलते हैं। शब्दों का चुनाव कौशलपूर्ण है। समस्या-मन्त्रों का छोड़ कर सामान्यतः भाव-प्रकाशन में क्लिष्टता और दुर्बलता नहीं है। शब्दों से मिलवाट भी लक्षित नहीं होती है। ग्रन्थ की प्राचीनता की दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि छन्दों की रचना में महान् कौशल है और भाषा पर पूरा अधिकार है। इस ग्रन्थ की रचना का लक्ष्य यज्ञों में मन्त्रों को प्रयुक्त करना था। उस काल में याज्ञिक रीतियाँ बहुत सरल थी। वे पर्याप्त विवर्धित हो चुकी थी। अतः इसके मन्त्रों में बहुश उपलब्ध याज्ञिक गवैतों ने इस काव्य के सौंदर्य को बिगाड़ दिया है। यह स्थिति अग्नि और सोम के सूक्ता में सर्वशेष परिलक्षित होती है। यहाँ पर मिथ्या कल्पनाओं और अस्पष्ट रहस्यमय वचनों का प्रबल प्रभाव है। देवताओं की स्तुतियों में बहुत सुन्दर और उदात्त कल्पनाएँ मिलती हैं। यद्यपि विभिन्न सूक्तों में साहित्यिक गुणों में पर्याप्त भेद है, परन्तु सामान्यतः इस ग्रन्थ का साहित्यिक स्तर पर्याप्त ऊँचा है।

१३६—उपम् सूक्त ऋग्वेद के सुन्दरतम अंशों में से है। ये अन्य साहित्यों की धार्मिक गीतियों से किसी अवस्था में अवर नहीं हैं। इन्द्रवृष

शुद्ध के वर्णन में कतिपय चित्रमय रोचक वर्णन मिलते हैं। मगधसूक्तों में स्तनयित्नु, विद्युत् और शंशावात के दृश्यों के वर्णन में ओजस्वी कल्पनाएँ पाई जाती हैं। वरुण के नैतिक शासन के विविध रूपों के वर्णन में काव्य का उत्कृष्ट रस ओतप्रोत है। कुछ पौराणिक संवादसूक्त स्थिति का परम ललित भाषा में प्रस्तुत करते हैं यथा सरमा और पणियों तथा यम और यमी के संवादों में। अधसूक्त करुणकाव्य का सुन्दर रत्न है। एक सूक्त (१०।९८) में मृत्यु से सम्बन्धित भावों को प्रभावोत्पादक और गम्भीर सौंदर्य से पूर्ण भाषा में व्यक्त किया गया है। नासदीय सूक्त से सुव्यक्त हो जाता है कि गूढ़ दार्शनिक भाव भी उत्तम काव्य का विषय बन सकते हैं।

१३७—यद्यपि ऋग्वेद में पुनरावृत्ति बहुत है। वे ही शब्द और भाव पुनः पुनः आते हैं, परन्तु उस में " विरसता नहीं आने पाई है।

१३८—आधुनिक वेदाध्ययन ऋग्वेद को साहित्यिक काव्य मानता है। इस दृष्टि से यह मूल्यांकन ठीक है। परन्तु ऋग्वेद की भाषा शुद्ध साहित्यिक है, वह और कुछ नहीं, ऐसा मानना कठिन है। ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों का व्यावर्तन शैली पर अध्ययन बताता है कि वैदिक पद कृत्रिम हैं, वे जान-बूझ कर रची गई परिभाषा हैं, जिन का सामान्य काव्य के पदों के सदृश मानना कदाचित् पूर्णतः समीचीन न हो। परन्तु उन पदों की योजना इस विलक्षण ढंग से की गई है कि आपाततः मन्त्र काव्य के पद मातृम पड़ते हैं और उन में काव्य का महान् आनन्द भी प्राप्त होता है।

## ऋग्वेद की व्याख्यान पद्धति

१३९—वेद की व्याख्यापद्धति की समस्या वैदिक काल में ही जन्म ले चुकी प्रतीत होती है। आधुनिक अध्ययन में यह मान कर चला जाता है कि वेद ऋषियों की इसी प्रकार की रचनाएँ हैं जिस प्रकार की रचनाएँ कवियों के काव्य होते हैं। वे किसी एक अर्थ को लक्ष्य कर के लिखे गये।

अतः उनका एक ही अर्थ मिलना और होना चाहिए। परन्तु जब ब्राह्मणों पर दृष्टि डालते हैं तो वही अग्नि, इन्द्र आदि पदों के अनेक विध अर्थ दिए गये हैं। इन अर्थों में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों के साथ-साथ ऐतिहासिक और नैतिक आदि मिथ्यात्व का प्रमाण भी लक्षित होता है। शास्त्रायन आरण्यक में 'चित्र देवानाम्' मन्त्र के लगभग १३ दृष्टियों से अर्थों का उल्लेख किया है। निषण्डु में वेदिक पदों का गवर्णन, विशेषतः पदनामों का मप्रह वेदाध्ययन में महत्त्व पढ़ने के लिए किया गया। निरक्तकार ने बहुत से वेदार्थों के सम्प्रदाय-नैतिक ऐतिहासिक, आध्यात्मिक समय पूर्व याज्ञिक याज्ञिक नैदान पारिव्राजक आर्थ आदि का उल्लेख किया है। उन के मत भी दिए हैं और उन की आलाचना भी की है। साथ ही औपमन्यव, शाकटायन, शाकपूनि, स्थौलाष्टीवि आदि अनेक वेद व्याख्याताओं के नाम और उन के मतों का निर्देश किया है। वहाँ शौन्य के नाम से मन्त्रों के अर्थहीन होने का विवाद प्रस्तुत कर मन्त्रों की सार्वभौमिकता और उन के अध्ययन की उपयोगिता बताई है। वेदार्थ करने के लिए पारस, स्कन्द और वैकट माधव ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदार्थ करने के नियम भी दिये हैं। वैकटमाधव ने तो वेदार्थों की समग्रता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर वेदार्थों का एक नया सम्प्रदाय—ऐतिहासिक-पौराणिक चलाया।

१४०—पिछली शताब्दी में जब पश्चिमी विद्वानों को ऋग्वेद का परिचय मिला तो उनको उसे समझने में बड़ी कठिनाई हुई। उससे पूर्व वे लौकिक मस्त्रुत में परिचित थे। परन्तु यह भाषा वेद की भाषा से साम्य रखते हुए भी उसमें अनेक बातों में भिन्न है। सौभाग्य से उन्हें सायणाचार्य का वेदभाष्य मिला गया और उसकी सहायता से ऋग्वेद का अध्ययन चालू हो गया। पहले तो विद्वानों ने समझा कि सायण ने परम्परा के अनुसार अर्थ दिए हैं। अतः विस्मय आदि ने उस के आधार पर अपने अर्थ प्रस्तुत किए।

१४१—परन्तु शीघ्र ही इस धारणा के विरुद्ध एक प्रतिभिया उत्पन्न हुई। इस प्रतिभिया के प्रमुख नायक रीय थे। उन्होंने सायण के बहिष्कार

का नारा लगाया । उन्होंने ने दिखाया कि सायण और यास्क के अर्थ विश्वसनीय नहीं हैं क्यों कि उन का प्रमुख आधार व्याकरण की प्रक्रिया है । सायण ब्रह्मिक काल से बहुत दूर के युग में हुए । उन को अधिच्छन्न परम्परा नहीं मिली हो सकती । सायण ने यास्कीय निरुक्त को आधार और प्रमाण बनाकर अपना भाष्य रचा है, परन्तु बहुत से मन्त्रों के अर्थ में यास्क स्वयं निष्कवात्मक रूप ने नहीं लिख सके हैं और इन कारण वहाँ एक-एक पद के कई-कई अर्थ भी दिए हैं जैसे जातवेदम् के पाँच अर्थ । उन का कोई प्रामाणिक आधार नहीं था । उन ने बहुत से आचार्यों और वेदार्थ सम्प्रदायों का उद्धृत किया है जिन में परस्पर महान् मनभेद लक्षित होता है । नासत्यो का व्याख्यान आर्णवाभ ने 'मत्य, अमत्य नहीं', आश्रायण ने 'मत्य के प्रणेता' और स्वयं यास्क ने 'नानिका से उत्पन्न' किया है । जब यास्क सन्देह में होते हैं तो वे निर्वचन वा आश्रय लेते हैं । उन के व्याख्यान बहुधा कल्पनामय हैं । यह अवश्य है कि सायण की अपेक्षा यास्क के पास वेदव्याख्यान के अधिक अच्छे और विश्वस्त साधन रहे होंगे ।

१४२—सायण ने अपने भाष्यों में कई बार यास्क से भिन्न अर्थ किया है । इन दोनों में से एक ही शुद्ध हो सकता है । अतः या तो यास्क भूल करते हैं अथवा सायण ने परम्परा का उल्लंघन किया है । सायण ने एक ही पद के एक ही स्थान पर अथवा विभिन्न स्थलों पर एक दूसरे से भिन्न व्याख्यान दिए हैं—यथा अमुर 'दिव्य सत्ता' के अर्थ 'अशुओं का नाशक, शक्तिदायक, जीवन देनेवाला, अनिष्ट का नाशक, पुरोहित, प्राणहारक, जलत्रद, जल निकाल लेनेवाला' आदि दिए हैं ।

१४३—अतः सायण और यास्क ऋग्वेद के बहुत से पदों के विषय में निश्चित ज्ञान से वञ्चित थे । इस कारण उन अर्थों को सम्भावना, प्रकरण और नमान वाक्यों से पुष्ट होने पर ही स्वीकार किया जा सकता है ।

१४४—इस प्रकार सायण और यास्क के अर्थों का तिरस्कार और



वहिकार नर के भाषाविज्ञान के प्रवर्तक रीय ने आग्नेचनात्मक शैली का प्रतिपादन किया। उन्हा ने प्रवरण प्याररण और निर्वचन की दृष्टि में रूप और भाव में समान समस्त पदा की सूक्ष्म तुलना रूप अत-सादी पर अचनिणय का माग निवाला। इम में लौकिक सम्बन्ध में तुलना करने हुए वैदिक भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन और भाषाविज्ञान तथा अवेस्ता से प्राप्त सामग्री का प्रयोग स्वीकार किया। इम शैली के त्रियात्मक प्रयोग में रीय न भारतीय परम्परा की साक्षिया की उपेक्षा की और निवचन पर विनाय बच दिया है।

१४५—रीय की इम शैली के विरुद्ध भी एक प्रतिप्रिया उत्पन्न हुई। विश्वल गण्टनर और मीग आदि न वैदिक मूकता का विरुद्ध भारतीय माना और उन के अथ का प्रत्यवैदिक साहित्य और उन में वर्णित परम विरमिन मसृति त सम्बद्ध किया।

१४६—डा० धैरडोल लिवन हैं कि आधुनिक ममाग्नेचनात्मक वेदाध्यायी का केवल वही सामग्री उपलब्ध नहीं है जो परम्परागत शैली के पण्डितका मुलभ थी जिस परवहसाथ की तुलनात्मक और ऐतिहासिक शैली का प्रयोग कर सकता है प्रत्युत आज उन के पास ऐसी बहुमूल्य महापत्र सामग्री है जो प्राचीन परम्परा का उपलब्ध नहीं थी। यह सामग्री अवेस्ता तुलनात्मक भाषाविज्ञान तुलनात्मक धर्म और पुराण (माइयाग्रीनी) तथा नृषगविद्या (एथ्नोलोजी) है। यह आशा की जाती है कि आग्ने-चनात्मक शैली और उपलब्ध समस्त सामग्री के निष्पक्ष प्रयोग में ऋग्वेद के अधिकांश भाग की अस्पष्टता और दुर्बोभता दूर हो जायेंगी।”

१४७—यह नई शली कमप्रधान (और्ग्रेकिव) अनीष्ट है, परन्तु त्रियात्मक प्रयोग में यह व्यक्तित्व प्रदान है। वस्तुत आधुनिक वेदाध्ययन

में व्यक्तित्व की कतिपय सीमाओं में खुली छुट्टी है। इस में वैदिक विषयों के व्याख्यान विद्वानों ने अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप किए हैं। डा० आर० एन० दाण्डेकर ने बहुत ठीक कहा है कि वेदाध्ययन में विद्वानों ने वेद की उत्पत्ति और स्वरूप के सम्बन्ध में धारणाओं के अनुरूप विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए ए० बर्गने वेद और आख्यान में अत्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते हैं। अरविदघोष का विचार है कि वेद रहस्यवादी और प्रतीकात्मक रचना है। जे० हर्वेयर वेद का अर्थ अवैस्ता के रहस्यवादी और दार्शनिक व्याख्यान द्वारा करना चाहते हैं। आ० कु० स्वामी वेदाध्ययन में रहस्यवादी अध्ययन और संसार की रहस्यवादी रचनाओं का पूर्णज्ञान विशेष आवश्यक समझते हैं। वे इस अध्ययन में उपनिषदों का विशेष महत्त्व स्वीकार करते हैं। डा० वा० श० अन्नवाल अध्यात्मविद्या के अनुसार वेदार्थ करना चाहते हैं। डा० फलहर्सिंह ने दार्शनिक पृष्ठभूमि पर व्याख्यान किया है।

१४८—तुलनात्मक भाषाविज्ञान विभिन्न भाषाओं में समान पदों की तुलना कर के उन के समान भाषाओं का अध्ययन करता है और उन समान भाषाओं को मूल अर्थ मान कर उन के आधार पर वेदार्थ करता है। उदाहरण के लिए सं० अग्नि, लैटिन इग्निस्, सं० वरुण और ग्रीक ओरेनोस् के अर्थ क्रमशः आग और वरुण ही हो सकते हैं। परन्तु ये निष्कर्ष तभी सार्थक और प्रागणिक हो सकते हैं जब सब देशों और जातियों में एक ही अनुसूल प्राकृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक—मंक्षेप में सांस्कृतिक परिस्थितियों में भाषा का विकास हुआ हो। वह भाषा का विकास भी एक निश्चित स्तर पर निश्चित अवधि में निश्चित नियमों के अनुसार हुआ हो। अन्यथा भाषाविज्ञान के समस्त निष्कर्ष कल्पनामात्र रहेंगे। यदि वे परम्परागत अर्थों को पुष्ट करते हैं तो ठीक, अन्यथा वे त्याज्य ही हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। भाषाओं के विकास की भौतिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ और गतियाँ समान नहीं हैं। शब्दों के अर्थों की

सम्पत्ति में ह्लान और वृद्धि होने हैं। नये अर्थों का विनोप परिस्थितिया में शब्द के प्रयोग से पूर्व एक भाषा में विकास हो जाता है। दूसरी भाषा में वे परिस्थितिया उत्पन्न ही नहीं हुई, तो वह अर्थ दर्ता मिल ही नहीं सकता।

१४९—भाषाविज्ञान का वेदार्थ विषय में प्रयोग भी बड़े अनुचित रूप में किया गया है। प्रो० राजवाडे और डा० प्राणनाथ का भाषा विज्ञान के आधार पर वेदमन्त्रा का अर्थ उग्रहमास्पद ही कहा जा सकता है। भाषा-विज्ञान के नियमों के आधार पर वेदमन्त्रा के मूलरूप के निर्माण का पादरी एन्टलर का प्रयोग ठीक ऐसा ही है जैसा कि यह कहा जाए कि तुल्सीदास और शेक्सपियर, कालिदास और गेटे आदि महाकवियों की भाषा में बहुत विकार आ गया है उन को समझने के लिए उन का मूल स्वरूप निर्माण करना आवश्यक है।

१५०—वेद के पद परम वृत्तिय है। वे साहित्यिक नहीं। उन की परिभाषाएँ भाषाविज्ञान से नहीं सुलझ सकती। उदाहरण के लिए मृत्यु के अपेण्डिमाइटिस नामक रोग, क्षीर के पटे दूध का पानी, मण्डूक के प्राण, मिन्धु के घमनी वरुण के वृत्त और सविता के यवन् अर्थ भाषाविज्ञान देने में असमर्थ रहा है। वेद में 'एक' पद का एक ही अर्थ हा सकता है के भाषाविज्ञान के नियम ने बड़ी समस्याएँ उत्पन्न की है। इस का समझने के लिए वृष पद के प्रयोग पर दृष्टि डाली जा सकती है।

१५१—डा० वूलनर के मत में भाषाविज्ञान से और तुलनात्मक शैली पर अर्थ करते के लिए ज्यादातर भूगर्भ विद्या मानवविज्ञान, प्रागितिहास, लोक साहित्य, पुरातत्त्व और भाषाशास्त्र के निष्कर्षों और उन के आधार का साक्षात् ज्ञान परम अनिवार्य बनाया है। परन्तु प्रयोग में इस सिद्धान्त का स्थान नगण्य है।

१५२—आयुनिक शैली में भारतीय परम्परा की धार उपेक्षा की जाती है। इस कारण मन्त्रा और पदों से असम्बद्ध भाषा की उन में व्युत्पत्ति की गई

है। वेद का इन्द्र ईरान का हस्तम घना दिया गया है, इन्द्रमेना नल और दमयन्ती की पुत्री और विष्णुदेवाः लिंगपूजकों का नाम।<sup>१५</sup>

१५३—डा० देगमुख ने दिखाया है कि अवेस्ता<sup>१६</sup> प्रत्यग्बैदिक ग्रंथ है। उन का कोई अण अपरिवर्तित रूप में—मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। पिछला ईरानी धर्म वेद में उपलब्ध भारतीय-ईरानी धर्म से भिन्न है। अवेस्ता में इसी पिछले धर्म और अर्वाचीन सामग्री की प्रधानता है। अवेस्ता की भाषा में भी अन्तर आ गया है। वैदिक देव और अमुर अवे० के दइव और अहुर से भिन्न ही कहे जा सकते हैं। वेद में अवेस्ता के अहुरमज्दा के समान कोई देवता नहीं है। वहाँ वैदिक ऋषीः और वरुणः नहीं के बराबर है। अवेस्ता में कोई ऐसा धातु नहीं जो पूरा मन्त्र हो। भाषाविज्ञान के आधार पर विभिन्न कल्पनाओं का जन्म मिला है। जरखुष्ट्र जरदष्टि, जरदुष्ट्र, जरत्-स्वष्टा में सम्बद्ध किया गया है। वैसे भी अवेस्ता का अर्थ भी अनिश्चित प्रायः है। स्वयं अवेस्ता के अर्थ धरने के लिए वेदाध्ययन आवश्यक माना गया है।

१५४—तुम्हनात्मक आख्यात, मानव और धर्म विज्ञानों का लक्ष्य सब धर्मों में नमानता और विषमताओं के कारणों की खोज करना है। इन में वेदार्थ गौण स्थान रखता है। साथ ही यहाँ वेद को किसी भावविशेष का खोजने के लिए पढ़ा और व्याख्यान किया जाता है। वह निष्पक्ष अध्ययन

७५. देवो नागुनडी०, दी मँथड ऑफ इण्टरप्रैटेसन ऑफ दी वेदाज।

७६. यह पारसियों की धर्म पुस्तक है और उन को इसी प्रकार मान्य है जैसे हिन्दुओं को वेद। यह ईरानी धर्म संस्थापक जरखुष्ट्र की रचना मानी जाती है। इस की भाषा वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। भाषों में भी दोनों में महान् साम्य प्रतिपादित किया गया है।

नहीं है। उदाहरण के लिए वैदिक ऋत और अर्त का एक मानना तथा का निरस्वार करना है।

१५५—इतिहास और पुराण का भी 'इतिहास-पुराणाम्या वद समुपबृहयन् । विभेव्यल्पथुताद वदो मामय प्रहरिष्यन्ति ॥'<sup>१</sup> के लेख के आधार पर वेदार्थ में महायत् माना गया है। निरस्त में इतिहास और आख्यान पद समानार्थक हैं। अथर्ववेद में पुराण मृष्टिविद्या का ज्ञानक है। यदि इस पद में य अथ अभीष्ट है तब ठीक है। परन्तु सामान्य पुराण से १८ पुगण और इतिहास में उन में तथा अन्यत्र वर्णित लौकिक इतिहास समझा जाता है। उन में वेदार्थ असम्बद्ध और जटिल हो जाता है। उदाहरण के लिए ऋ० १।३।१।११ में ऋषि हिरण्यसूप अपने में ही पीड़िया के पञ्चानु हाने वाले जायु का वणन करते हैं।<sup>२</sup> आख्यान की वैदिक पृष्ठभूमि में भी वेदार्थ में कोई महायत्ता नहीं मिलती है। हाँ, यह सम्भव है कि पौराणिक आख्यान का भाव खाला जा सके।<sup>३</sup>

१५६—प० चन्द्रमणि पालीरत्न ने पाली भाषा की महायत्ता से वेदार्थ करने का सुझाव दिया है। परन्तु उन के समस्त उदाहरणों में कोई ऐसा नहीं जो वेदार्थ पर कोई नवीन प्रकाश डालता हो। वस्तुतः यह भाषाविज्ञान के अन्तर्गत ही है। अतः इन के निष्कर्ष पोषक प्रमाण के रूप में परम सहायक हो सकते हैं।<sup>४</sup>

७३ वसिष्ठ धर्मसूत्र २७।६ ।

७८ देवा मुधीरकुमार गुप्त—ऋग्वेद में इतिहास नहीं, ऋग्वेद का धर्म में मरलिन ।

७९ हमारी मघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उस का सांस्कृतिक संदेश में कुछ पौराणिक आख्यान का व्याख्यान किया गया है।

८० देवा चन्द्रमणि, वेदार्थ करने की विधि ।

१५७. कुछ विद्वानों का विचार है कि वेदमंत्रों का प्रधान लक्ष्य यज्ञ में विनियोग है। अतः मूलतः उन का याज्ञिक व्याख्यान अभिप्रेत है। निरुक्त में भी ऐसे दो नम्रदायाँ—पूर्व याज्ञिक और याज्ञिकों का निर्देश है। दोनों नम्रदायाँ में यह अन्तर स्पष्ट लक्षित होता है कि पूर्व याज्ञिकों के व्याख्यानों में कर्मकाण्ड का पुट पर्याप्त कम है। अतः यज्ञ 'हवन आदि' वेदमंत्रों का प्रमुख विषय या लक्ष्य नहीं। वास्तव में वेद में यज्ञ पद बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वह प्रत्येक कल्याणकारी ज्ञान, कर्म और भाव आदि का धोतक है।

१५८—ऋग्वेद के पुनरुक्त अंगों में वेदार्थ और ऋषियों की अभीष्ट वेदार्थशैली पर पुष्कल सामग्री मिलती है। इन अंगों में उपलब्ध पर्यायवाची पदों के समानार्थक होने का आधार निर्वचन है। वहाँ स्वतन्त्र रूप में भी कतिपय निर्वचन दिये गये हैं। ऋषि, देवता और छंदों के नाम साधारण पद हैं, व्यक्तिवाचक मंगाएँ नहीं हैं। वहाँ ममस्त देवों में एकता है। सर्वत्र एक सत् की ही भावना पाई जाती है। शास्त्राओं में यह शैली अधुष्ण रूप में पाई जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में इन शैली का विस्तार और क्रियात्मक प्रयोग दिया गया है। उपनिषदों, पदपाठ, वेदांगों, अनुक्रमणियों, छः दर्शनों और स्मृतियों में भी यही शैली परिलक्षित होती है।

१५९—परम्परा की अविच्छिन्नता भी एक विचित्र पद समूह है। आज भी रहस्यवादी कविताओं के भी एक से अधिक अर्थ निकलते हैं। किस भावना को ले कर कवि ने रचना की है, यह बात ममस्त पाठकों को ज्ञात नहीं होती है। इन का यह अर्थ नहीं कि अर्थ की परम्परा विच्छिन्न हो गई है। विभिन्न विद्वान् अपनी-अपनी भावनाओं से अनुप्राणित हो कर अर्थ करते हैं और उन अर्थों का विस्तार और प्रसार उन की दिव्य परम्परा से होता रहता है। कवि स्वयं व्याख्या नहीं करते हैं। यदि करते हैं तो श्रोताओं की ग्रहण और विस्तार शक्ति के अनुरूप काव्यार्थ का विकास और ह्याम होता रहता है। यही स्थिति प्राचीन साहित्य, विशेषतः ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में

उपलब्ध वेद व्याख्यानों की है। वहाँ विभिन्न आचार्यों के विभिन्न दृष्टियाँ से अर्थ मिलने हैं। आदि से ही वेद को परम कृत्रिम रचना बनाया गया। उम की परिभाषाओं को उम से सम्बन्धित निकटतम माहित्य से ही जाना जा सकता है। उदाहरण के लिए हिरण्यपाणि—ज्यातिर्मय, नासत्यो—नासिवाप्रभवी—प्राण और अपान के भावाँ को ब्राह्मण ग्रन्थ ही स्पष्ट करते हैं।

१६०—अत वेदमत्रा में प्राप्त वेदार्थ शैली—जिम का शाब्द गहिताशा, ब्राह्मणा, आरण्यका, उपनिषदो, निस्वन, दर्शन, स्मृति, अनुक्रमणियों और वेदांगों में विस्तार किया गया है, तथा जा निर्वचन प्रधान है—ही अवलम्बनीय है। सोप मव सामग्री पोंपक प्रमाण के रूप में ही प्रयाज्य है। वैकट माधव ने एव नई शैली—ऐतिहासिक-पौराणिक का सूत्रपात किया है। अत इन के भाष्य का प्रयोग परम सावधानी की अपेक्षा रखता है।

## प्रस्तुत संग्रह के देवताओं का स्वरूप

### विष्णु का स्वरूप

१५१—वेद की व्याख्यान शैली के अनुरूप विष्णु आदि देवताओं का स्वरूप भी बदल जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने विष्णु को यज्ञ, मोम अन्न, वीर्य, प्रादेजमात्र गर्भ, दिन और रात के बीच का समय, देवों में श्रेष्ठ, सब देवों का द्वाररक्षक, आशाओं (- दिशाओं) का पति, यज्ञ के दुरिष्ट का रक्षक, श्रोत्र, पुरुष और यूप आदि समझा है। दयानन्द सरस्वती इसे परमात्मा, महात्मा, मेधावी, अग्नि, विद्युत्, शिल्पविद्याव्यापनशील पुरुष, सूर्य, वायु, धन, जय, व्यान, सेनेज, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ समझते हैं। सामान्यतः इसे  $\sqrt{\text{विष्णु}}$  व्याप्त होना से व्युत्पन्न किया जाता है।<sup>१</sup>

१५२—परन्तु आधुनिकों की दृष्टि एकदम भिन्न है। इस दृष्टि में ऋग्वेद में विष्णु का स्थान शीघ्र है। इन की स्तुति केवल पाँच मूर्तियों में की गई है। इस के पुरुषविध रूप और वर्णन भी अल्प हैं। यह तीन पद चलता है। वह विशालकाय युवा है, बच्चा नहीं है। इस का प्रमुख कर्म तीन पदक्रमण है। इसी कर्म के लिए उसे उग्रक्रम (विस्तृत पदों वाला) और उग्रमाय (दूरदेयगामी) कहा गया है। इन तीन चरणों से यह समस्त पार्थिव लोकों को पार कर लेता है—'पार्थिवानि विममे रजांसि'<sup>२</sup>। इस के दो पद मानवों को दिखाई देते हैं, तीसरा उच्चतम पद पक्षियों के उड़ान और मनुष्यों की पहुँच के परे है। इस का परम पद शूलोक में नैशवत् जमा हुआ है। यह परम प्रकाशमान है—'परममयभाति भूरि'। यह पद उस का



प्रिय नियाम है—तदस्य प्रियमभि पाय' । पुण्यान्माएँ और दवता यहाँ आनन्दमग्न रहत हैं—नगे यत्र दवपना मदन्ति । विष्णु के ये तीन पद सूर्य की तीना लाना—पृथिवी, अन्तरिक्ष और ध्रुवों में गति का वर्णन करते हैं ।

१६० अ—विष्णु चक्र के ममान अपने ९० घोडा (=दिना) को उन के चार नामा ( चार मनुआ) के साथ घुमाता है । इन प्रकार वह पद ३६० दिना का नियामक है । आदि में यह सूर्य की गति का ही पुरुषविध रूप रहा हागा । विष्णु इन पदा को जनहित के निमित्त चलता है । इन में मनुष्या की स्थिति बनी रहनी है और रहने के लिए पृथिवी रूप घर मिटना है ।

१६३—विष्णु के गौत्र रूपा में म प्रमग्न कर्म उम की इन्द्र से मैत्री है । वह बहूधा इन्द्र की वृत्रघ्न में महायना करता है । विष्णु सूक्ता में केवल इन्द्र ही निपात दवना है । एत सूक्त में दाना की मम्मिन्त्रित स्तुति की गई है । इन्द्र का महावक हाने के नात विष्णु की इन्द्र के साथी मरना के साथ एत सूक्ता में स्तुति की गई है ।

१६६—इम मग्रह में सञ्चलित सूक्त में टिपणिया के अनुकार विष्णु मृष्टि के पहले भी विद्यमान एक मल है । वह मृष्टि रचना के लिए प्रकृति के परमाणुआ का स्थूल और रजागुण प्रधान बनाता है—'य पार्थिवानि विमम रजामि' । इन गतिशील दन हुए परमाणुआ का वह जीवात्मा के सम्पर्क में लाता है—'या अम्बभापदुत्तर मघस्वम्' । वह प्रकृति के मत्त्व, रजत् और नमम् गुणा म सब कुछ का व्याप्त कर देता है—'विचित्रमागस्त्रे-धारुगाय । तथा 'यस्याम्पु त्रिषु विचित्रमणेष्विप्रक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।' वह खाजने योग्य (मृग), सौम्य (न भीम), वाणीरूप (बुधर) वह हृदया में स्थित है (गिरिष्ठा) । उस की प्राप्ति गुरु और उपदेशवा से ज्ञान प्राप्त करके हा मरनी है—'ता वा वास्तून्युदमसि गमर्ध्वे जग्राह तदु-रुगायम्य परम पदमवभाति भूरि ॥'

## इन्द्र का स्वरूप

✓१६५—स्वामी दयानन्द मरस्यती ने इन्द्र को परमेश्वर, सूर्य, वायु, विशुदादिपरमेश्वर्ययुक्त विद्वान्, विद्वान् सभाध्यक्ष, जीव, राजा, सेनाध्यक्ष, ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला पुरुष, न्यायाधीश, शूरवीर, योधा, प्राण, दुष्ट शत्रुओं का नाशक, दुःखों का नाशक, अग्नि, स्तनमिल्नु, पृथिवी पर राज्य देने वाला, ऐश्वर्यप्राप्ति, चित्तुद्रचित्त शस्त्र आदि समस्त है। ब्राह्मण ग्रंथों में इसे तपन सूर्य, आदित्य, आकाश, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, क्षत्र, अग्नि, ब्रह्म, प्रजापति, देवलोम, वीर्य, मित्र, उद्गाता, और अश्व आदि कहा है।

१६६—इग की व्युत्पत्तियाँ अनेकविध हैं। सब में √इन्द्र धातु से व्युत्पत्ति ही अधिक आदरणीय है।<sup>११</sup>

१६७—आधुनिक दृष्टि से यह वीर देवता ऋग्वेद में सर्वप्रमुख है। इग के सूक्त सब से अधिक हैं। यह वैदिक आर्यों का राष्ट्रीय देवता है। यह नव देवताओं से अधिक पुरुषविध वर्णनों में युक्त किया गया है। धार्यानिग कल्पनाएँ भी इगो के सूक्तों में सर्वाधिक समृद्ध हैं। मूलतः यह घोर तूफानी वर्षा और गर्जन का देवता है। यह अन्धकार के राक्षस का हनन कर के जलों और प्रकाश की किरणों को मुक्त करता है। अपने गीण रूप में यह युद्ध का देवता है और आर्यों को अनार्यों में युद्ध में सहायता दे कर उन्हें विजय दिलाता है।

१६८—उम के शारीरिक अंगों का बहुधा वर्णन किया गया है। सोम पीकर वह अपने जबड़ों और दमशु को गति देता है। उम के पैर का भी बहुधा वर्णन किया गया है। उम का रंग हरा (हरि) है। उम के बाल

और डाढ़ी-मूछ भी हरे हैं। वह वज्रबाहु और वज्रहस्त है। यह वज्र विजयी ही है। वज्र ही इन्द्र का एकमात्र आशुध है। इस वज्र को स्वप्ता ने लोह (आपन) का बनाया था। यह गुनहरी, तीक्ष्ण और अनेका धारावा वादा है। कभी-कभी इन्द्र को धनुष और बाण से युक्त भी कहा गया है। वह अपुन भी रगता है।

१६९—उम का रथ मुवर्णमय है। उम में दो घाटे (हरि) जोने जात है। वह स्वप्ता पाया है। ये रथ और घाटे ऋभुआ ने बनाए थे।

१७०—गाम इन्द्र का अभिमत पय पुत्राय है। इस के बराबर थोर बाई देवता गाम नहीं पीता। इसी लिए यह सामया है। सोम उसे पुडा के लिए उन्माह और शक्ति दता है। वृत्र का वय बखने के लिए यह तीन बद्रू (- तालव) गाम पी जाता है। एक सूक्त (१०।११९) में गाम की मस्ती में इन्द्र अपनी शक्ति और महिमा की उद्घाषणा करता है।

१७१—बहुधा उम उदाप्र हुआ वहा गया है। सा सूक्ता में उम के जन्म का वर्णन किया गया है। उम का पिता धी मालूम हाता है। कुछ मन्त्रा में वह स्वप्ता प्रतीत हाता है। जग्नि और पूषन् इन्द्र के भाई हैं। उग की पत्नी इन्द्राणी है। मरुत् इन्द्र के प्रमुख महायक हैं। वह इसी लिए मग्न्वान् इन्द्र कह्यता है। युग्मा में अग्नि, विष्णु, वायु, सोम, वरुण, वृहस्पति, पूषा और विष्णु के साथ इन्द्र की स्तुति की गई है।

१७२—इन्द्र बृहदानार है। वह दम गुता पृथिवी से भी अधिक बडा है। देवता और मनुष्य उम की सामर्थ्य की भीमा को नहीं पहुँच पाते है। कोई देवता उम के गमान नहीं है। इसी कारण उसे शक्र, गधीवान्, शपोपति और शतक्रतु कहा गया है।

१७३—सोमपात में समर्थ हो कर मन्त्रा के साथ वह अनावृष्टि के प्रमुख जगुत्र वृत्र पर आक्रमण करता है। वृत्र का बहुधा यहि भी कहा

गया है। इस युद्ध के समय बुलोक और पृथिवीलोक कांप उठते हैं। वह वृत्र को वज्र से मार कर अप्मुञ्जित् कहलाता है। यह युद्ध पुनः पुनः होता है। इस के फलस्वरूप जल मुक्त हो जाते हैं। ये जल बहुधा पार्विय है। कभी-कभी आकाशस्थ और बुलोकस्थ भी बताए गए हैं। बादल ही पर्वत, अद्रि या गिरि हैं जहाँ वृत्र रहता है। जगों को भी कहा गया है और जल-युक्त बादलों को भी। बादलों को ही उत्तन, कवन्ध और फांश कहा गया है। ये आकाशीय असुरों के पुर हैं। ये पुर गतिहीन हैं, शारदी, लोहे या पत्थर के बने हुए और ९०, ९९ या १०० हैं। इन्द्र इन्हें नष्ट करता है। इन तमों के कारण वह पूर्भिद् और वृत्रहन् कहलाता है।

१७४—वृत्रवध से प्रकाशप्राप्ति का भी सम्बन्ध बताया गया है। वृत्र को मार कर जलों को मुक्त कर के इन्द्र सूर्य को आकाश में ऊँचा चमकाता है। अनेक बार वृत्र के युद्ध का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। केवल इन्द्र को प्रकाश लाने वाला ही कहा है। वह उपम् और सूर्य को उत्पन्न करता है और इन से अन्धकार का अनावृत्त कर देता है।

१७५—इन्द्र अनेकों महान् सृष्टिकर्मों का सप्पादक भी है। वह चञ्चल पर्वतों और पृथिवी को स्थिर करता है—‘यः पृथिवीं व्यवमानाम-दूहंद्, यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात् ।’ वह धृति के समान बुलोक और पृथिवीलोक को पृथक्-पृथक् धारण करता है। उस ने एक क्षण में असत् को सत् बना दिया। कई बार बुलोक और पृथिवीलोक के पृथक्करण और धारण को वृत्रवध का परिणाम भी बताया गया है।

१७६—योंथा इन्द्र की बहुधा स्तुति करते हैं—‘यं क्रन्दनीं संयती विह्वयेते । समानं चित्रथमात्स्थिवांसा नाना ह्वेने ।’ वह आर्यवर्ण की रक्षा करता है।—‘आर्यं वर्णमावत्’ और दास वर्ण को वर्णाभूत करता है—‘दासं वर्णमधरं गुहाकः’ । उस ने ५०.००० कृष्ण वर्णों का वध किया, दस्युओं को आर्यों के अधीन कर के उन्हें भूमि दी।

१७७—इन्द्र भस्त्राधारक, महायक और मित्र है—'य सुन्वन्तम-  
वनि य पचन्त य गमन्त य शशमानमूती । यह उन्हें घन देता है—'य  
सुन्वने पचने वात्र ददापि । इगी णिण वह मघवा है ।

१७८—यह उपगु के रथ का भजन है । वह सूर्य के घाडा को रोखने-  
वाला है । वह गाम का जीवता है । ध्येन उमी के लिए स्वयं ने मोम  
लाना है ।

१७९—ऋग्वेद में मुराम आदि के लिए पार्षिय गत्रआ मे युद्ध करने की  
वचार्ण भी इन्द्र म गम्वद को गई है ।

१८०—इन्द्र के विजय गुण प्रामर्शिक जगत् पर शासन और भौतिक  
उत्थप है । वह उमाही कर्मों में उग्र दुर्षय याथा मानव जाति को खुले  
मन से समृद्धि देने वाला है । साथ ही वह इन्द्रियामक और कुछ दृष्टिया से  
अर्नुक्ति भी है । यह अत्यधिक माने-पाने वाला है । अपने ही पिता त्वष्ट्र  
का वध करता है । वह वरण से भिन्न स्वभाव का है । वरण ऋग्वेद में  
गान्ति, ऋत और व्रता का व्यवस्थापन है ।

१८१—इन्द्र प्राग्भारतीय है क्या कि अवैस्ता में यह एक राक्षस है ।  
यहां भी वेरेवधन (=वृत्रहन) विजय का दधता है यद्यपि वह इन्द्र से  
सम्यन्धिग नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि भारत ईरानी काल में वैदिक  
इन्द्र के अनुरूप एक वृत्रहन्ता देवता था ।

१८२—इम सग्रह के सूक्त में इन्द्र विष्णु, और पुरुष के अनुरूप स्रष्टा  
और धर्ता के रूप में वर्णित किया गया है । वह सृष्टि के पहले स विद्यमान  
है । मनस्वी और अपनी मामर्थ्य से देवा को प्रकाश देने वाला है—'देव देवान्  
प्रनुता पर्यभूयन्' । वह सृष्टि के पहले के प्रकाश के अवरोधक अन्धकार  
को नष्ट कर के समस्त परमाणुका में गति लाता है और सृष्टि रचना करता  
है—'येनेना विन्वा च्यवना वृत्तानि यो दाग वर्णमधर गुहाव' । वह शुलोक,

पृथिवीलोक, जल आदि, चारों वर्णों और समस्त प्राणियों का शासक है। जो पापी और नास्तिक हैं उन्हें उन के पुण्यों के क्षय द्वारा धीरे-धीरे नष्ट करता है—'यः शश्वतां मह्येनो दधानानमन्यमानाच्छर्वा जघान'। वह ही वनस्पतियों को उगाता और बढ़ाता है—'यो रोहिणमस्फुरद्'।

### पुरुष का स्वरूप

१८३—यह पुरुष सूक्त का देवता है। यह सूक्त धार्मिक है और सृष्टिरचना विषयक छ. सूक्तों में से एक है। इस में देवता सृष्टि-यज्ञ करने है। इस यज्ञ की सामग्री पुरुष स्वयं है। यहाँ सृष्टि का यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है जिस में पुरुष ही बलि का पशु है। उन के शरीर में काटे गये अंग ब्रह्माण्ड के अंग बन जाते हैं।

१८४—इस सूक्त के भाष्या और विषय स्पष्ट उगित करने हैं कि यह सूक्त अर्वाचीन है, इस को तीनों वेदों का ज्ञान है। यह उन का नाम लेता है और ऋग्वेद में पहली बार चारों वर्णों का उल्लेख करता है। इस में धार्मिक दृष्टि भी प्राचीन भाषा से भिन्न है। यह विराड्-वादी है—'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्'।

१८५—इस संग्रह की टिप्पणियों के अनुसार 'पुरुष' बहुविध शक्तियों से युक्त है। वह धारक और प्रसन्न शक्तियों से संसार में व्याप्त रहता है। यह ब्रह्माण्ड उस का चतुर्थीय है। तीन चौथाई भाग अमर और मानव की पहुँच से बाहर है। पुरुष से विराड् उत्पन्न होता है, परन्तु दोनों में श्रेष्ठ पुरुष ही रहता है—'विराजो अधि पूरुषः'। पुरुष सृष्टि की साधक शक्तियों—जीव और प्रकृति के द्वारा अपने को साधन बना कर सृष्टि करता है। उसी से सब पशु आदि भौतिक पदार्थ और ऋग्वेदादि ज्ञानमय पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जब उस ने यह सृष्टि रची तो विभिन्न शक्तियों के कारण उस के नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य, शूद्र, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि,

वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, भूमि और दिग्ग हो गये । इस यज्ञ में जो भावनाएँ  
और शक्तियाँ था वे ही ममार की धारक और आनन्द का स्रोत है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-  
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यामन् ।  
ते ह नाक मन्त्रिभान् सचन्त  
यत्र पूर्वं साध्या सन्ति देवा ॥'

---

## ऋ० १०।९०—पुरुषसूक्तम्

ऋषिः—नारायणः । देवता—पुरुषः । छन्दः—१-१५ अनु-  
ष्टुप् ; १६ त्रिष्टुप् ।

सहितापाठः

पदपाठः

२२. सहस्रंशीर्षा पुरुषः ✓	}	सहस्रंशीर्षा । पुरुषः ।
सहस्राक्षः सहस्रपात् ।		सहस्रऽअक्षः । सहस्रंऽपात् ।
स भूमिं त्रिधत्तौ घृत्वा-		सः । भूमिम् । त्रिधत्तः । घृत्वा ।
त्यतिष्ठद्दशङ्गुलम् ॥१॥		अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् ॥१॥

यजुर्वेदे तृतीयपादस्त्वेवम्—

यजुर्वेदीयः पदपाठः—

स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा-००००	}	सहस्रंशीर्षेति सहस्रंशीर्षा ।
		पुरुषः । सहस्राक्षऽ इति सहस्र-
		ऽअक्षः । सहस्रपादिति सहस्र-
		ऽपात् । सः । भूमिम् । सर्वतः ।
		स्पृत्वा । अति । अतिष्ठत् ।
		दशङ्गुलमिति दशऽअङ्गुलम् ॥१॥

सायणभाष्यम्—“सहस्रशीर्षा” इति षोडशर्चं पद्यं सूक्तम् । नारायणो  
नामर्षिरन्त्या त्रिष्टुप् शिष्टा अनुष्टुभः । अथ्यक्तमहदादिरिलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः ।



“पुरुषान्न परं किञ्चित्” ( क. उ. ३।११ ) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता । तथा चानुक्रान्तं—“सहस्रशीर्षा पोळ्य नारायणः पौरुषमानुष्टुभं विष्टुधन्तं तु” इति । गतो विनियोगः ।

१. सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दस्योपलक्षण-वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तदेहान्तःपातित्वान् तदीयान्वेचेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च । सः पुरुषः भूमि-ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतः वृन्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितम् देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ पुरुषः ] पुरुष [ सहस्रशीर्षाः ] हजारों सिरों वाला [ सहस्राक्षः ] हजारों आंखों वाला [ सहस्रपाद् ] हजारों पैरों वाला ( ई ) । [ सः ] वह [ भूमिम् ] विद्यमान उत्पन्न सब कुछ को [ विश्वतः ] सब ओर से [ वृत्वा ] आच्छादित कर के [ दशाङ्गुलम् ] दस अंगुलियों की दूरी पर [ अत्यतिष्ठत् ] वर्तमान है ॥ १ ॥

दिप्यणिषां—१. सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपाद्—सा०—सहस्र में उपलक्षण है । अतः अखण्ड सिर आंखों और पैरों वाला । उत्पादित प्राणियों के सिर, पैर, आंख आंग्ले हैं । दस० का विचार है कि समस्त प्राणियों के ईश्वर में निवास करने के कारण ही ईश्वर को ये विशेषण प्राप्त हुए हैं ।

( ii ) यहां पर सिर, आंख और पैर का ब्रह्म की इन पदों से जोतित शक्तियां—१. चित्ति=ज्ञान, अनुभव २. दर्शन, निरीक्षण, शासन ३. गति, धारण, रक्षण, प्रापण अभिप्रेत हैं । ब्रह्म इन्हीं के द्वारा समस्त जगत् का संचालन आदि करता है । इसी लिए उपनिषदों में लिखा है कि—

“सर्वतः प्राणिपादं तत्सर्वतोऽधिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमानृत्य तिष्ठति ॥” श्लो० ३।१६॥

वेद में भी कहा है—

“विश्वतोऽधुमुक्त विश्वतोमुक्तो विश्वतो वाहुरुक्त विश्वतश्चात् ।

मं शश्वन्ना धमति सं पतनेर्पाशाभूमौ जनयन् देव एतः ॥”

श्रु० १०।८।१।३, य० १७।१९ ।

२. पुरूप — सा०—सर्व प्राणियों की समष्टि रूप ब्रह्माण्डदेह शिराट् । दम०—सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक जगदीश्वर ( यमा० ) । ‘पुष्टय उस को कहते हैं जि जो हम मय जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिस ने अपनी व्यापकता से हम जगत् को पूर्ण कर रक्खा है । पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को । उम में जो गर्वन व्याप्त और जो बीम के भीतर भी व्यापक और अन्तर्गामी है ।’ श्रुभाभू० पृ० १५१ ॥

( 11 ) डा० फतहमिह ने वै० ४४७ में वैदिक साहित्य से इम के ये निरंजन और अपे मर्यादित किए हैं—

१. पुरि गेते इति । पुर + √शी । प्राग अथवा शरीरस्य आत्मा, वायु, भौतिक जगत् में रहने वाला प्राण ।

२. √ष्ट भरना से—सत्र वस्तुओं में व्याप्त ब्रह्म ।

३. पूरं + √अम् ( होना से )—सत्र पदार्थों से पूरे शिथिल प्रजापति ।

( 111 ) ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरुष को वायु, प्राण, सव पापों का दाहक, गाम, ब्रह्मा, अमृत, प्रजापति, पशुओं का अधिपति, पशु, यज्ञ, आत्म, सुषण, मरत्सर आदि कहा है ।

३ भूमिम्—भवतीति भूमि । सा०—ब्रह्माण्डमोलक । मै०—पृथिवी । दम०—पृथिवी से प्रकृति पर्यन्त समस्त जगत् ।

४ विश्वतां घृत्वा—सत्र ओरसे टक कर व्याप्त करके । सत्र को व्याप्त करने के सावन प्रथम दो पादों के प्रस्तावित अर्थों में वर्णित किए गए हैं । यजुर्वेद के ‘मर्यतः शृत्वा’ का भी वही अर्थ है ।

५ दुशाद्रलम्—मै०—यह कहने का एक प्रकार है कि उस का आकार पृथिवी के आकार से भी बड़ा था । पीटर्मन—‘दस अगुलियों की लम्बाई’ ।

यह पद ऋग्वेद में अन्यत्र नहीं आया है। रीथ ने इस अर्थ की पुष्टि में मनु० ८।२७१ उद्धृत किया है जिसमें दशांगुल ( दस अंगुल लम्बे ) शंकु का वर्णन है। सा०—दश अंगुलों से नपा हुआ स्थान। यह उपलक्षण है। अतः ब्रह्माण्ड से बाहर भी। शौनक—१ दस इन्द्रियां ( २ ) दस अंगुल के माप का ( नामि से ) हृदय ( तफ का ) स्थान; ( ३ ) नासिका का अग्र भाग। दस—१. पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म भूतों रूपी अंगों वाला जगत्। २. पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, जीव ३. दश अंगुल के परिमाण वाला हृदयदेश। इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड और हृदय का उपलक्षण है, इन सब को।

( ii ) इन में से कुछ व्याख्यानों में 'भूमिम्' के भाव का ही विस्तार है। आगे मन्त्र ३ में भी ऐसा ही भाव है। अतः उन में या तो दशाङ्गुलम् को भूमिम् का लिंग व्यवहृत कर के विशेषण माना जाए अथवा उन को विचारणीय माना जाए।

( iii ) भारतीय विचार के अनुसार सृष्टि में शनैः शनैः हास होता रहता है और वह विनाशोन्मुख रहती है और अन्त में प्रलय हो जाती है। अतः इस विचारधारा में ब्रह्म या पुरुष इस ब्रह्माण्ड को व्याप्त तो करता है, परन्तु उस की शसनशक्ति भी साथ-साथ कार्य करती है। यही भाव इस पद का प्रतीत होता है—दशतीति दश ( ष० १।१५६ दस० ) शक्ति करने वाला। अंगति चेष्टतेऽनेन तदंगुलम् ( तु. क. उ. ४।२ ) चेष्टा, गति करने का साधन (= शक्ति )। दश च तत् अंगुलं चेति दशांगुलम्। शसन करने वाली चेष्टा का साधन (= शक्ति )। तत् वर्तते यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा। क्रिया-विशेषण। अतः शसनशील शक्ति के साथ ( अत्यतिष्ठत् ) सब कुछ को अति क्रान्त कर के वर्तमान है।

१. देखो महीधर का भाष्य—नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः।

महितापाठ ✓

पदपाठ

२३. पुरुष एवेदं सर्वं

पुरुषः । एव । इदम् । सर्वम् ।

यद् भूतं यच्च भव्यम् ।

यत् । भूतम् । यत् । च । भव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो

उत । अमृतत्वस्य । ईशानः ।

यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

यत् । अन्नेन । अतिरोहति ॥ २ ॥

यजुर्वेदे 'वेद'-स्थाने 'वेदः' 'भव्यम्'-स्थाने 'भान्व्यम्' वर्तते ।

सायणभाष्य—यन् इदं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव । यत् च भूतम् अतीतं जगत् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुंस्य एव । यद्यस्मिन् कल्पे वर्तमाना प्राणिदेवाः सर्वेऽपि निराहं पुरुषस्याययत् तथैवातीता-  
गामिनोरपि कल्पयोर्दृष्टं यमित्यभिप्रायः । उत अपि च अमृतत्वस्य देव-  
त्वस्य अयम् ईशानः स्वामी । यत् यस्मात् कारणात् अन्नेन प्राणिना  
भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीया कारणावस्थामतिव्रम्य  
परिदृश्यमाना जगदवस्था प्राप्नोति तस्मात् प्राणिना कर्मफलभोगाय जग-  
दवस्थास्वीकारान्नेन तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ इदम् ] यह [ सर्वम् ] सब कुछ—[ यत् ] जो  
[ भूतम् ] उत्पन्न हुआ हुआ है [ च ] और [ यत् ] जो [ भव्यम् ] उत्पन्न  
हागा [ उत ] और [ अमृतत्वस्य ] अमरता का [ ईशानः ] स्वामी ( और )  
[ यत् ] जो [ अन्नेन ] अन्न से [ अति रोहति ] बढ़ता है—[ पुरुषः ] पुरुष  
[ एव ] ही ( हे ) ॥ २ ॥

टिप्पणिया—१ पुरुष एव—इस अन्ने 'स्वर्गात्' निशादा अप्याहार निशा है ।

२ यद् भूतं यच्च भव्यम्—( यत् ) प्रकृत, जीव, परमाणुओं और पदार्थों  
आदि का मेल से उत्पन्न ( भूतम् ) अतः से वर्तमान फल पर्यन्त सत्ता में

१. प्राणिदेवाः ।

२. वस्तुत्वम् ।

३. यजुर्वेद के भान्व्यम् के और ऋग्वेद के भव्यम् के अर्थ में कोई अन्तर  
नहीं है । भान्व्यम् के रूप में स्वतन्त्र स्वरित है ।

आया हुआ और ( यत् ) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों के मेल से ( भव्यम् ) भविष्य में सत्ता में आने वाला ( इदम् ) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् ।

( ii ) मही० और दस० ( ऋभाभू० १५२ ) ने 'च' में 'वर्तमान जगत्' का वर्णन माना है ।

( iii ) सा० और मही० का भाव यह है—भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सदा ही सब प्राणी विराट् पुरुष के अवयव हैं । दस०—पुरुष ही सब कालों में सृष्टि का रचयिता है, अन्य कोई नहीं ।

३. उतामृतत्वस्येदानः—सा०—और देवत्व का भी स्वामी है क्योंकि वह प्राणियों के भोग्य ( फल ) के कारण कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् का रूप धारण करता है । उवट—मोक्ष का भी स्वामी है । मही० १. देवों का स्वामी है । २. मोक्ष का स्वामी है, अतः वह कर्मी नहीं मरता है । दस० १. अविनाशी मोक्षसुख वा कारण का अधिष्ठाता ( यभा० ) । २. सब का ईश्वर ( होने से ) मोक्षभाव का स्वामी (=) दाता है । इस मोक्ष को देने में किसी का भी सामर्थ्य नहीं है । मै०—अमरत्व अर्थात् देवताओं का स्वामी है । पुरुष देवों सहित समस्त जगत् के साथ-साथ फैला हुआ है ।

( ii ) पाद २, ३, ४, में पाद १ के 'इदं सर्वम्' का विस्तार है । अतः विचार्यमाण अंश ( पाद ३ ) भी सृष्टि के अंग का वर्णन करता है जिस को यदन्नेनातिरोहति से भिन्न घताना अभीष्ट है । पाद २ में कालविषयक वर्णन है । अतः यहाँ उत्तरार्थ में देशपरिच्छिन्न वर्णन है—( उत ) रसयुक्त ( अमृतत्वस्य ) धन्न आदि की अपेक्षा से मुक्त सूक्ष्म शरीर के धारक जन्ममृत्यु आदि के बन्धन से हीन मुक्त जीवों का स्वामी है । उत-पद 'उत्सः' ( उ० ३।६८ ) के समान ✓ उन्द् भिद्योना से व्युत्पन्न हो कर भागा हुआ, गीला, पानीयुक्त, अतः रसयुक्त । इस में आने मन्त्र ३ के त्रिपादस्यामृतं दिवि में विद्योपित अमरत्व का निर्देश भी माना जा सकता है ।

४. यदन्नेनातिरोहति—मन्त्र में इस की योजना और अर्थ अनेक प्रकार से किए गए हैं । उवट का कहना है कि पुरुष मोक्ष का स्वामी है '( यत् ) क्यों

कि ( वह ) (अग्नेन ) अमृतसे ( अतिरोहति ) अतिरोध करता है ।' मही० दो अर्थ देत हैं—१. पुरुष देवा का स्वामी है '( यत् ) क्यों कि ( वह ) ( अग्नेन ) प्राणियों के भोग्य पदक याग (अतिरोहति) अपनी फारणपरवा को छोड़ कर दृश्यमान जगत् क रूप को प्राप्त होता है ।' सा० ने इन व्याख्यान को अशुभ्य. अनायास है । २. '( यत् ) जो कुछ मा जीवजात ( अग्नेन ) अन्न से ( अति रोहति ) उत्पन्न होता है उस सत्त का स्वामी है ।' दम० ने यजुर्वेदभाष्य में पाद ३ को 'पुण्य' का विशेषण माना है । उन का अर्थ यह है—जो उत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होने वाला ( उत ) और '( यत् ) जो ( अग्नेन ) पृथिवी आदि न सम्बन्ध में ( अतिरोहति ) अत्यन्त बढ़ता है उस' ( इदम् ) इस प्रत्यक्ष परोक्ष रूप समस्त जगत् को ( अमृतत्वस्य ) अविनाशी मोक्षमुख वा कारण का ( ईशान ) अधिष्ठाता ( पुण्य. ) सत्य गुणरस रसभावों से परिपूर्ण परमात्मा ही रहता है । उन्होंने न ऋभाभू ( पृ० १०२-१५३ ) में भिन्न भाव लिया है— '( यत् ) क्यों कि ( अग्नेन ) पृथिवी आदि जगत् क साथ ( अतिरोहति ) व्यापक हा कर स्थित है और इस से अन्ग भी ।

(ii) मूर लिखते हैं कि मागधत पुराण के व्याख्यान में इस का भाव 'द्वयत हुए उन ने गानवी अन्न वा अतिरमग किया है' है । अ० १९।६।४ में इस का पाठ—'उतामृतत्वस्येक्षरो यदन्येनामयत् सह-वह अमरत्व का स्वामी है क्यों कि वह दूसरे से मिल गया है' है ।

(iii) मूर ने इस का अर्थ 'क्यों कि वह अन्न से पैन्त्रा है' किया है । प्राण० इत्ते अमृतत्वस्य से सम्बद्ध करत हैं—( अमरता ) 'जो हमारे यहाँ से पुष्ट की जाती है ।' पञ्चम इस का अर्थ चेतन जगत् (= और जा कुछ अन्न से पुष्ट होता है या बढ़ता है ) करत है और इदं सर्वं यद्भूत यच्च मय्यम् वा जड जगत् ( तु क. आग मन्त्र ४ ) । पाद ३ का ये अर्थ अतुवाद में पुरुष का ही विनाशक रहत है ।

(iv) मै० का विचार है कि मन्त्र १ क अत्यतिष्ठत, मन्त्र ५ के अत्यरित्त्व्यन में अतिरोहति की तुलना इगित करती है कि पुरुष कर्ता है और यद् (दियता) कर्म और यह कि पहला (= पुरुष ) पिटलों (= देवों ) को अन्न से, अर्थात्

यज्ञान्न द्वारा अतिक्रान्त करता है। 'जो ( देवता ) ( यज्ञ के ) अन्न से घटते हैं', तथा 'और जो कुछ अन्न से उत्पन्न होता है उस का'—इन दोनों व्याख्यानों में 'अति' का भाव पूरा-पूरा प्रकट नहीं होता है।

(५) जैसा ऊपर पाद ३ की टिप्पणी में लिखा गया है यहाँ पर भी देश-परिच्छिन्न चक्षु का उल्लेख है जो अमर—मुक्तों की अपेक्ष स्थूल शरीर धारण करती है। अतः इस का सीधा अर्थ 'जो कुछ भी अन्न = भोजन आदि पोषक पदार्थों से उत्पन्न, वृद्ध और विकसित होता है'— प्रतीत होता है।

संहितापाठः

पदपाठः

२४. एतावानस्य महिमा-	एतावान् । अस्य । महिमा ।
ऽतो ज्यायांश्च पुरुषः ।	अतः । ज्यायान् । च । पुरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि	पादः । अस्य । विश्वा । भूतानि ।
त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥	त्रिऽपात् । अस्य । अमृतम् । दिवि ॥३॥

सायणभाष्यम्—अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान् सर्वोऽपि अस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः । न तु तस्य वास्तवस्वरूपम् । वास्तवस्तु पुरुषः अतः महिम्नोऽपि ज्यायान् अति-शयेनाधिकः । एतद्योभयं स्पष्टीक्रियते । अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थोऽंशः । अस्य पुरुषस्य अवशिष्टं त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सन् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठत इति शेषः । यद्यपि "सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ( तं० आ० ८।१; तै० २।१ ) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयात्थमिति विवक्षितत्वात् पाद-त्वापन्यासः ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ अस्य ] इस (पुरुष) का [ महिमा ] विस्तार [ एतावान् ] इतना है । [ च ] और [ पुरुषः ] पुरुष [ अतः ] इस से भी अधिक [ ज्या-

यान् ] बड़ा है । [ विश्वा ] सम्पूर्ण [ भूतानि ] उत्पन्न पदार्थ आदि [ अस्य ]  
इस का [ पाद ] एक चौथाई ( भाग है), [ द्विवि ] द्बुल्लोक में [ अष्टमम् ]  
अमर [ अस्य ] इस का [ त्रिपात् ] तीन-चौथाई भाग है ॥ ३ ॥

१. टिप्पणिया—आधे भाग से विश्व की रचना—अवे० १०।७।८-९ में  
विशया की गई है कि रम्भ = ब्रह्म ने विश्वरूप जिन परम अयम और मध्यम,  
तथा भूत और भविष्यन् की रचना की उम में उसका नितना अंश प्रतिष्ठ हुआ ।  
अवे० १०।८।७ में कहा है कि ब्रह्म ने अपने एकनेमि महसाधर एवचक्र रूप  
के आधे भाग से सम्पूर्ण विश्व की रचना की । उम का शेष आधा भाग कहा है—  
अधेन विश्व भुवन ब्रह्मन यद्रमार्थ क तद् वभूय । इस भाव को यहा भिन्न  
रूप से वर्णित किया गया है ।

२. एतावन्नम्य—ऋग्वेद के प्राचीन भाग में यह सन्धि नहीं मिलती है ।  
वहा पर ऐमे स्थलों पर आन् को ओं हो जाता है । अतः प्रकृत सन्धि गूक  
की रचना के काल को इंगित करती है ।

३. पूरप—सहिता में दीर्घ हो गया है । पदपाठ में 'पुर्ष' होगा ।

४. अमृतम्—ना०—विनाशरहित पुरुष । उ०—१. ऋक्, यजु' और साम  
रूप वाला २. आदित्य रूप । इग०—नाशरहित महिमा ।

५. द्विवि—महा०—शैतनात्मक स्वप्नराश्रित्य रूप में ।

६. भाव यह है कि प्रजापतिमान जगन् एक अंश मात्र है । प्रजापति स्व-  
रूप इस से तीन गुना है । इग से ब्रह्म की अनन्तता समाप्त नहीं होती । यह  
वर्णन तो सर्वात्म मानव की बुद्धि को अवगत कराने की दृष्टि से किया  
गया है ।



संहितापाठः

पदपाठः

२५. त्रिपादूर्ध्व उद्वैत्पुरुषः | त्रिऽपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः ।  
 पादौ ऽस्येहाभवत्पुनः । पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति ।  
 ततो विष्वङ् व्यक्रामत् | ततः । विष्वङ् । वि । अक्रामत् ।  
 साशनानशने अभि ॥ ४ ॥ साशनानशने इति । अभि ॥ ४ ॥

यजुर्वेदे 'व्य'—इत्यस्य स्थाने 'व्यु' इति वर्तते ।

सायणभाष्यम्—योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयं ऊर्ध्व उद्वैत् अन्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुण-द्रोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान् । तस्य अस्य योऽयं पादः लेशः सोऽयम् इह मायायां पुनः अभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति । अत्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं—“विष्टन्वाहमिदं कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत्” ( म० गी० १०।४२ ) इति । ततः मायायासागत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान् । किं कृत्वा । साशनानशने अभिलक्ष्य । साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनं प्राणिजातम् अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम् । तदुभयं यथा स्यात् तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ पुरुषः ] पुरुष [ त्रिपात् ] तीन—बाँथाई [ ऊर्ध्वः ] ऊपर का [ उद्वैत् ] फैला हुआ है [ पुनः ] और [ अस्य ] इस का [ पादः ] एक—बाँथाई अंश [ इह ] वहाँ ( इन जगत् में ) [ अभवत् ] है । [ ततः ] उस से [ विष्वङ् ] मग कुछ का अन्तर्भाव करने वाला [ व्यक्रामत् ] प्रादुर्भूत हुआ ( और ) [ साशनानशने ] खाने वाले और न खाने वाले [ अभि ( अक्रामत् ) ] उत्पन्न हुए ॥

दिप्यणिषां—१. त्रिपात्—सा०—संसाररहित ब्रह्मस्वरूप पुरुष का समस्त पुरुष का तीन—बाँथाई भाग है ।

२. ऊरुर्न उदैत्—उरट—ऊपर प्रनाशमान है। मही०—इस अश्वान कायं मंगार से पृथक् इस मंगार के गुण दोषों से अश्रुता उत्कर्ष से विद्यमान है। दस०—पालर परमेधर 'मय से उत्तम मुक्तिस्वरूप मंगार से पृथक् उदय को प्राप्त होता है ( य० भाष्य )। मै०—ऊपर अमरो के लोक में।

३. पार्श्वोऽस्यदार्श्वत् पुन—उरट—एक भाग तीनों छोरों में बोलकर हो गया। मही०—जगत रूप ब्रह्म यहा माया में सृष्टि और संहार के द्वारा गार-गार आता है। ऋग०—इस पुरुष का एक भाग इस जगत् में गार-गार उत्पत्ति प्रत्यक्ष चक्र में होता है ( य० भाष्य )। पूर्वोक्त सत्कारूप एक अश्व से पृथक् हो है। मै०—पुन = अर्थात् अपने मूल रूप से।

४. तिर्यङ्—उरट—भ्रान्तयोग। मही०—तिर्यु सर्वशास्त्रतोति तिर्यङ्। देव, तिर्यक् आदि अनेक रूपों वाला। ऋग०—( जट और चेतन के प्रति ) सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (= व्यापक ) ( य० भाष्य )। विश्व = सम्पूर्ण जड-चेतन जगत् ( ऋषभ० पृ० १५४ )।

५. साशानानुशने—उरट—साशन = दर्शन। अनशन = मोक्ष। मही०—गाने आदि व्यवहार वाले चेतन प्राणी और न गाने आदि व्यवहार से रहित जड पदार्थ। मै—यह समाप्त ऋषेद में इन्द्रमामो को अर्वाचीनतम अवस्था का चोतरु है।

संहितापाठ

पदपाठ

२६. तस्माद्विराड्जायत		तस्मात् । विर्राट् । अजायत ।
विराजो अधि पूर्यः ।		विर्राजः । अधि । पूर्यः ।
स जातो अत्यरिच्यत		सः । जातः । अति । अरिच्यत ।
पृथाद्भूमिमथो पुरः ॥ ३ ॥		पृथात् । भूमिम् । अथो इति । पुरः ॥ ३ ॥

यजुर्वेदे प्रथम पादस्त्वेषम—

'ततो विराड्जायत'

ततः । विर्राट् । अजायत ।

सायणभाष्यम्—विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते । तस्मात् आदिपुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः । विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट् । विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत । सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा यत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत् । एतन्नार्थवर्णिका उत्तरतापनीये विरपट्टमामनन्ति—“स वा एष भूतानांन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहस्तास्तं मायवेद्यं” ( नृता० २ । १ । ९ ) इति । स जातः विराट् पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत् । विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत् । पश्चात् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः । अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज । पृथ्न्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि । ५।

हिन्दी अनुवाद—[ तस्मात् ] उस से [ विराट् ] विराट् [ अजायत ] उत्पन्न हुआ । [ विराजः ] विराट् से [ अधि ] श्रेष्ठ [ पुरुषः ] पुरुष ( ई ) । [ अथो ] और [ पुरः ] पहले [ जातः ] उत्पन्न हुआ [ सः ] वह [ पश्चात् ] पीछे [ भूमिम् ] उत्पन्न पदार्थों से [ अत्यरिच्यत ] सर्वोपरि हो गया ॥

टिप्पणियां—१. तस्मात्—तद् को उ० १ । १३२ में √तन् से निष्पन्न किया गया है । अतः उस विस्तृत सर्वव्यापक ऊपर वर्णित पुरुष से । मै०—पुरुष के अव्याकृत चतुर्थांश से । दस०—पूर्ण आदि पुरस से । ( व० भाष्य ) कला रूप परमेश्वर के सामर्थ्य से ( ऋभाभू० पृ० १५६ ) ।

२. विराट्—मही०—विविधं राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट् । ब्रह्माण्डदेह । दस०—विविधः पदार्थं राजते प्रकाशतं स विराट्—विविध प्रकार के पदार्थों से । प्रकाशमान ब्रह्माण्ड रूप संसार ( व० भाष्य ) । इस भाव का विस्तार करते हुए ऋभाभू० पृ० १५५ पर लिखते हैं—जिस का ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिस को 'मूल प्रकृति'

१. यजुर्वेद में इसके स्थान पर (ततः) पाठ है । दोनों का अर्थ एक ही है ।

पहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिस के सूर्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग हैं, इत्यादि लक्षण वाला [सब शरीरों का समष्टि देह (—संस्कृत मूल से)] जो यह आकाश है सो 'विराट्' कहाता है ।

(II) द्यौः पतहमिह मे वैदिन र्शान पृ० २०६ पर इस स्थल के विराट् को परम पुरुष से उत्पन्न प्रकृतिपुरुष माना है जिस का हीम हो जाने पर नाना-रूपामय दिव्य उत्पन्न हुआ है । मै० ने आदि पुरुष और व्याकृत पुरुष के बीच की स्थिति को विराट् कहा है ।

(III) अने० १०।७-८ में इस विराट् का प्रसूत वर्णन किया गया है । ऋ० १०।७।२८ में इसे हिरण्यगर्भ कहा है—हिरण्यगर्भे परममनस्युर्गं जना विदु । यह तप से उत्पन्न होता है—य. श्रमात् तपसो जातो लोमान्धर्षन्ति-मानसो । यह उत्पन्न वस्तु अप्रयत्न मल्लि ही ये जो ब्रह्म के तप से उत्पन्न आदि सृष्टि कहे गए हैं । व्याकृत होने की स्थिति में वर्तमान ये अव्याकृत सल्लि ही महा विराट् नाम से कहे गये हैं । अने० १०।७।४१, और ८।२९-४० भी देता ।

(IV) विराट्जायत—मन्थि के कारण ट को 'ट्' हुआ । पहले भीर पीछे टो स्वर्गों के आने से इस ट् को 'ळ' हो गया है । तु. व —पदमध्यस्थदकारस्य ळकार म्दृचा जगु । पदमध्यस्थदकारस्य ळकार म्दृचा जगु ॥

३ विराटो अधि पुरुष —मै०—विराट् में पञ्चमो को उत्पन्नकर्ता का घोटक मानते हैं—विराट् से पुरुष उत्पन्न हुआ । उक्त—अधिपुरुष को एक मान कर 'प्रधान तेज क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा सृष्टिकृता' अर्थ करते हैं तथा 'म जात.' में इसी का निर्देश मानते हैं । महीधर—विराट् के शरीर पर उसे अधिस्वरण बना कर उस शरीर का एक अभिमानी (= रक्षित चेतन ?) पुरुष नामक पुमान् उत्पन्न हुआ । यह पुमान् अपनी माया से जीवरूप बना हुआ ब्रह्माण्डाभिमानी देवता-मा जीवरूप ब्रह्म ही था । दस० य०भाष्य में इस में विराट् के उत्पत्तिकारण आदि पुरुष की उक्तता मानते हुए यह अर्थ देते हैं—( विराट् ) विराट्

संसार के ( अधि ) ऊपर अधिष्ठाता ( पुरुषः ) परिपूर्ण परमात्मा होता है ।<sup>१</sup> परन्तु ऋभाभू० पृ० १५५-१५६ पर भिन्न विचार रखते हैं और पुरुष का अर्थ समस्त प्राणियों के शरीर मानते हैं—'उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है । जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओर्पाध्यों से वृद्धि को प्राप्त होता है ।'<sup>२</sup>

(ii) अवे० १०।७-८ तथा ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ आदि सूक्तों में विराज् हिरण्यगर्भ से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानी है । वेद में—'द्रा सुपर्णा तनुजा सखाया समानं वृक्षं परिपन्वजाते' आदि सुप्रसिद्ध मन्त्र में तथा 'त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एणाम् । विश्वमेको अभि चण्डे शचीभिर्भ्रा-जिरेकरय ददशो न समम्' <sup>३</sup> में ब्रह्म, जीव और प्रकृति को पृथक्-पृथक् माना गया है । अतः यहां विराजो अधि पुरुषः में जीव की उत्पत्ति की कल्पना अनावश्यक प्रतीत होती है । अधि 'अधिक, उत्कर्ष, स्वामित्व' का वाचक भी है । विराजः में पृथी विभक्ति है, पद्ममी नहीं । अतः यहां पर पूर्ण आदि पुरुष के विराज् से श्रेष्ठत्व का वर्णन मानना अनुचित न होगा ।

४. स ज्ञातो अर्यरिच्यत०—मै०—जब वह पैदा हुआ तो वह पृथिवी से परे आगे और पीछे पहुँच गया । उबट-वह क्षेत्रज्ञ सृष्टिकृत ब्रह्मा उत्पन्न होते ही प्रमुख हो गया । फिर इस के पहले पृथिवी और उस के बाद १४ प्रकार के भूतों के शरीर उत्पन्न हुए । महीं०—यह विराट् पुरुष देव मनुष्य आदि रूप वाला हो गया । फिर देवादि के जीवभाव के उपरान्त भूमि और उस के पश्चात् दारीरों की सृष्टि की । दस०—'( पुरः ) पहिले से ( जातः ) प्रसिद्ध हुआ ( अति, अरिच्यत ) जगत् से अतिरिक्त होता है ( पश्चात् ) पीछे ( भूमिम् ) पृथिवी को उत्पन्न करता है ।' ऋभाभू० में प्रधान भाव तो यही लिया है, परन्तु

१. ऋ० १ । १६४ । २०

२. ऋ. १ । १६४ । ४४—व्याख्या के लिए देखो बुद्धदेवविद्यालंकार—  
त्रैतवाद् का महावाक्य, घेचा० ६ । ४ ।

'पश्चात्' का अर्थ साकृत मूल में 'फिर उस पुरुष के नामार्थ से जोर ने भी शरीर धारण किया और वह परमात्मा उस जात से भी पृथक् है' है। हिन्दी अनुवाद में चार्ण्ड भाषण का भाव को ही लिया गया है।

५. भूमिम्—गमस्त उत्पन्न पदार्थ आदि। भविष्य में होने वाले पदार्थ आदि पदार्थों की ही बातें हैं। अतः इस पद से तीनों फालों के पदार्थों आदि का बोध होता है।

महितापाठ

पदपाठ

२७. यत्पुरुषेण हविषा

देवा यज्ञमतन्वत ।

यसन्तो अस्यासीदाज्यं

ग्रीष्म इध्मः शरद्विः ॥६॥

यत् । पुरुषेण । हविषा ।

देवाः । यज्ञम् । अतन्वत ।

यसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् ।

ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हविः ॥६॥

यजुर्वेदस्य मन्त्रश्चतुर्दश । तत्र तृतीयपाठ एवमस्ति—

यसन्तोऽस्यासीदाज्यं

यसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् ।

मायणभाष्यम्—यत् यथा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूपप्रेतु सत्सु देवा उक्तं सृष्टिदिदमर्थं गच्छन्त्यस्यानुत्पन्नत्वन हविरन्तरासममान् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्टेन मन्त्रेण पुरुषेण पुरुषारयेन हविषा मानसं यज्ञम् अतन्वत अन्य तिष्ठन् तदानीम अस्य यज्ञस्य यसन्त यसन्तर्तुरेव आज्यम् आसीन् अभून् । तमेवाज्यत्वेन सकल्पितवन्त इत्यर्थः । एव ग्रीष्म इध्म आसीन् । तमेवेध्मत्वेन सकल्पितवन्त इत्यर्थः । तथा शरद्वि आसीन् । तमेव पुरोडाशादिहविष्टेन सकल्पितवन्त इत्यर्थः । पूष पुरुषस्य हवि सामान्यरूपत्वेन सत्त्वं । अनन्तर वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन मन्त्रा इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ यत् ] जब [ देवा ] देवताओं ने [ पुरुषेण ] पुरुष रूप [ हविषा ] हवि से [ यज्ञम् ] यज्ञ का [ अतन्वत ] निस्तार किया [ अस्य ]

उस यज्ञ (के लिए) [ वसन्तः ] वसन्त ऋतु [ आव्यम् ] तपा हुआ था [ आसीत् ] थी, [ ग्रीष्मः ] गर्मी [ इष्मः ] समिधाएँ (और) [ शरद् ] शरद् ऋतु [ हविः ] आहुतियाँ ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. भाष्यकारों के विभिन्न भाव-भाष्यकारों ने इस मन्त्र में देवताओं द्वारा पुरुष को हविस् बना कर ब्राह्म द्रव्यों के अनुपलब्ध होने के कारण उत्तर सृष्टि की सिद्धि के लिए मानस यज्ञ का विस्तार माना है। मही० लिखते हैं कि पहले पुरुष का सामान्य हविः के रूप में संकल्प किया गया, फिर आव्य इष्म और हविः—इन विशेष अंगों की पूर्ति के लिए वसन्त आदि ऋतुओं का संकल्प किया गया। उवट ने इस में योगियों द्वारा भ्रमृतभूत दीपित आत्मा से आत्मयज्ञ के विस्तार का भाव भी ग्रहण किया है। इस यज्ञ में वसन्त, ग्रीष्म और शरद् के अर्थ क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण किए हैं। दस० ने भी घृत आदि सामग्री के अभाव में '(हविषा) ग्रहण करने योग्य (पुरुषेण) पूर्ण परमात्मा के साथ (देवाः) विद्वान् लोगों का मानस यज्ञ' माना है जिस में '(वसन्तः) पूर्वाह्नकाल (ग्रीष्मः) मध्याह्न काल और (शरद्) आधी रात' को भी आदि माना है। भाव यह है कि इस यज्ञ में ये 'काल ही साधन रूप से कल्पना करने चाहियें।' ऋभाभू० पृ० १६१-१६२ पर भिन्न भाव लिखा गया है—(देवाः) देव अर्थात् जो विज्ञानवान् लोग होते हैं उन को (पुरुषेण) ईश्वर ने अपने-अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के (हविषा) दिए पदार्थों का ग्रहण कर के (यद् यज्ञम्) पूर्वोक्त यज्ञ का (अतन्वत) विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। देवा विद्वानः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृह्णातेन दत्तं चाग्निहोवाद्यश्वमेधान्तं शिल्प-विद्यामयं च यद्यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च।' मन्त्र के उत्तरार्द्ध में ब्रह्माण्डयज्ञ से जगदुत्पत्ति के लिए वसन्त आदि को काल-वयव माना है। आप ने इष्मः का अर्थ प्रदीप्त करने वाली या अग्नि किया है। मै० के विचार में यहाँ देवता व्याकृत पुरुष को हवि बना कर आदि पुरुष के लिए आदर्श पुरुष (मिथ) यज्ञ करते हुए वर्णित किए गए हैं।

२ सम्भाषित अर्थ—इम मन्त्र से यह लभित होता है कि भूमि आदि लोको की रचना के पश्चात् प्राणियों की उत्पत्ति और स्थिति को मन्त्र ज्ञान के लिए ऋतुओं की उत्पत्ति हुई। ऋतुओं से ही उत्पत्ति, वृद्धि और भय होने हैं। मन्त्र में उत्पत्ति होती है, शब्द में वृद्धि, रम का विकास आदि और ग्रीष्म में पक्ष पर तन्त्रवी हा सगना क्रियाएँ लभित होती हैं। आग्य को प्राण ( शं० ३।८।१५।२३ ), हरि = को यज्ञ की आत्मा ( शं० १।६।३।३९ ) आर हृष्य को अग्नि का प्रदीपन ( शं० १।३।५।१ ) कहा है। अतः यहा पर ऋतुओं के द्वारा उत्पत्ति, विकास और पाक (=हाम) —इन तीन शक्तियों का दर्शन किया गया है।

( 11 ) पूर्वार्द्ध में पुष्प विराज का श्लोक है, आदि पूर्ण परमात्मा का नहीं यह विराज ही अगत् का उत्पत्ति का सामग्री (= हरि ) है।

३. देवा —ऊपर शं० २।१२।१ में देवो देवान् पर दिव्यो देवो । ब्रह्माण्ड में प्रकाश आदि गुणों से युक्त समस्त पदार्थ भाव और स्थितिया 'देव' हैं। अतः सृष्टि का रचना में लगी हुई मन्त्र शक्तिया भी देवता हैं। ये ही विराज रूप सामग्री से सृष्टिरचना रूरी यज्ञ का निम्तार करती हैं।

( 11 ) अ० १०।७।२४ में ब्रह्मेणाश्रो को 'देव' कहा है—'यत्र देवा ब्रह्म ज्येष्ठमुपामत ।' इस आधार पर यहा 'देवाः' का अर्थ वेदशास्त्रा विद्वान् मो किया जा सकता है। इस में 'जब विद्वानों ने विराज् पुरुष रूप सामग्री से सम्पूर्ण सृष्टियत्र पर विचार किया तब उन्होंने ने उस में वनन्त आदि क योग को जाना' ऐसा भाव लेना होगा।

४. यज्ञम्—मै०—होम, बलि। सामान्यत इम पद का यही अर्थ समझा जाता है। परन्तु वैदिक और मरकृत वाक्य में इम का अर्थ बहुत विस्तृत है। यह पद देवपूजा मग्निकरण आर दान अर्थ वाञ्छी यज्ञ से बनता है। अतः इम के अर्थों में ये तीनों भाव स्पष्टि या समष्टि रूप में पाए जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों क यज्ञ के अर्थों—प्राण, अव्यय, नमः, भग, बृहन् निर्वाक्षत्, अर्थमा, सुम्न, श्रेष्ठतम कर्म, विद्, ब्रह्म, त्रयी रिया, प्रजासति, विष्णु, अन्न, अग्नि, वाक्,



वायु, संवत्सर आदि में, गीता के यज्ञवर्णन में जपयज्ञ, प्राणापानयज्ञ आदि में यह स्थिति निदान्त स्पष्ट हो रही है। अतः सृजन भी यज्ञ है, सृजक भी यज्ञ है और सृजन की रामग्रां भी यज्ञ है। परन्तु यह स्थिति तब तक ही है जब तक वे कर्म, कर्त्ता और सामग्री आदि श्रेष्ठतम कर्म = परोपकार के साधक हैं अन्यथा नहीं। विद्वान् ऐसे ही अज्ञों से यज्ञ कर के शाश्वत नियमों और नुस्खा आदि की व्यवस्था करते हैं ( देखो आगे मन्त्र १६ )।

संहितापाठः

पदपाठः

२८. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्	तम् । यज्ञम् । बर्हिषि । प्र । प्रौक्षन् ।
पुरुषं	पुरुषम् । जातम् । अग्रतः ।
जातमग्रतः ।	जातम् । अग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त	तेन । देवाः । अयजन्त ।
साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥	साध्याः । ऋषयः । च । ये ॥ ७ ॥

यजुर्वेदे मन्त्रो ऽ यं नवमः ।

सायणभाष्यम्—यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूषे यद् बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः । कीदृशमित्यत्राह । अग्रतः सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम् । एतच्च प्राग्वोक्तं “तस्माद् विराज्जावत विराजो अधि पुरुषः” इति । तेन पुरुपरूपेण पशुना देवा अजयन्त मानसयागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः । के ते देवा इत्यत्राह । साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः तद्नकूलाः ऋषयः मन्त्र-द्रष्टारः च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ अग्रतः ] सब से पहले [ जातम् ] उत्पन्न हुए [ तम् ] उस [ यज्ञम् ] यज्ञ (= पूजाधी) [ पुरुषम् ] ( विराज्—) पुरुष को [ बर्हिषि ] बर्हि ( से आच्छादित यज्ञवेदी ) पर [ प्रौक्षन् ] जल से छिड़का । [ तेन ] ( उस यज्ञमय पुरुष से ) [ देवाः ] देवता विद्वान् । [ साध्याः ] साध्य ( च ) और [ ये ] जो [ ऋषयः ] ऋषि वे ( उन्होंने ने ) [ अयजन्त ] यज्ञ किया ॥ ७ ॥

टिप्पणियाँ—१ तम्—उपट ने यहा पर योगिषो के आत्मरत का ही दर्शन माना है । भाष्यकारो ने 'तम्' के भाव का व्याख्यान नहीं किया है । मै० ने जातमप्रत का भाव विराञ् से उत्पन्न व्याहृत पुरुष = आत्मा पुरुष ( मन्त्र ५ ) लिखा है । उपट ने 'उत्पन्न दिव्य ज्ञान' भाव दिया है । और दस० ने पूर्ण परमात्मा ।

( 11 ) परन्तु यहाँ पर सृष्टिरचना चारू हो चुकी है । विराञ् पुरुष को हवि. बनाया जा चुका है । स्वक शक्तिया उत्पन्न हो चुकी है । अत यहा विराञ् पुरुष का ही दर्शन चल रहा है ।

२ शुजम्—विराञ् पुरुष जीवों के कल्याण के लिए सृष्टि रचता है, अत वह यज्ञ है । पिठले मन्त्र में 'यश्म' पर टिप्पणी मी देंगे ।

३ दूर्हिषिं—उपट—तृतीयान्त मान कर प्रागायाम से दीपित अर्थ लेते हैं । मही०—मानस यज्ञ । दस०—मानस ज्ञान यज्ञ ( य०भाष्य ), हृदयान्तरिक्ष ( ऋभाभू० पृ० १५८ ) । मै०—शाम ।

( 11 ) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थों में प्रजा, पशु, ओषधिया, और भूमा भी दिए हैं । इस से अगले मन्त्र में प्राणियों की उत्पत्ति का दर्शन है । अतः 'पशुओ की सृष्टि रूप महान् यज्ञ' अर्थ करना समीचीन होगा ।

४ भ्रीक्षन्—प्र + √ उक्ष् + लट् प्रथमपु० बहुवचन । मै०—उडका । मही०—तन्त्रियों से सम्बृत्त किया । दस०—रुचिंत हैं अर्थात् धारण करते हैं ।

( 11 ) यहा पर 'लगाया, नियोजित किया' अर्थ अभिप्रेत है ।

५ पुर्यं ज्ञातमं प्रथ —ऊपर तम् पर टिप्पणी देंगे । लोकों, कालविभाग आदि की रचना से पूर्ण उत्पन्न विराञ् पुरुष ।

६ देवा —पिठले मन्त्र में देवाः पर टिप्पणी देंगे ।

७ साध्या ऋषयश्च ये—मै० ने साध्या को एक पुरानी दिव्य योनि या जाति माना है और ऋषय को 'श्रद्धि, मन्त्ररचयिता कवि' । मही० ने साध्याः का अर्थ सृष्टिनाशकयोग्य प्रजापति आदि और दस० ने योगाभ्यासी ज्ञानी किया है ।

वे दोनों ऋषि को मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रार्थवित् मानते हैं। मै० का सुहाव है कि साध्याः को देवाः का विशेषण भी माना जा सकता है।

( ii ) श० १० । २ । २ । ३ में मन्त्र १६ के साध्याः देवाः को विशेष-विशेषण मान कर 'प्राग' अर्थ किया है। ऐ० १ । १६ में इन्हें 'छन्दांसि' कहा गया है। ऋषियों को श० ६ । १ । १ । १ में तप से उत्पन्न बनाया गया है—  
ते यत्पुरास्नात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तमसारिषंस्तस्मादृषयः । वह पद गत्वयेक√कप् धातु से बनता है। निर्व० । १ । १ । १४ अ में ऋषयः को पदनाम माना गया है। अतः इस भाग का अर्थ—( देवाः ) सृजक शक्तियाँ ( साध्याः ) प्राग ( च ) और ( ये ) यज्ञशाल ( ऋषयः ) तप और श्रम-द्वारा। इस की योजना—ये साध्याः ऋषयः च देवाः सन्ति ते—शो प्रागरूप यज्ञशाल तप और श्रम से युक्त सृजक शक्तियाँ—करने पर अर्थ सुसंगत हो जाता है।

संहितापाठः

पदपाठः

✓ २९. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः		तस्मात् । यज्ञात् । सर्वहुतः ।
संभृतं पृषदाज्यम् ।		सम्भृतम् । पृषत्पृषदाज्यम् ।
पशून् तार्श्वक्रे वायव्यान्		पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ।
आरुण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥		आरुण्यान् । ग्राम्याः । च । ये ॥ ८ ॥

यजुर्वेदस्य मन्त्रः पष्ठः । तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेवम्—

पशून्स्तार्श्वक्रे	वायव्यान्		पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ।
आरुण्या	ग्राम्याश्च ये ॥		आरुण्याः । ग्राम्याः । च । ये ॥

सायणभाष्यम्—सर्वहुतः । सर्वात्मकः पुरुषः यस्मिन् यज्ञे हृत्यते सोऽयं सर्वहुत् । तादृशान् तस्मात् पूर्वोक्तात् मानसात् यज्ञान् पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं संभृतं संपादितम् । दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं

१. यद् पद√कप् धातु से निष्पन्न है। देखो उ० १।१३२।

सर्पे मंपादितमित्यर्थः । तथा वायव्यान् वायुदेवताकोट्योरप्रसिद्धान्  
आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान् । आरण्या हरिणादयः । तथा ये  
च भ्राम्या गवाश्वादि यः वानपि चक्रे । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्वत्वं  
यजुर्ग्राहणे समाम्नायते—“वायवः स्थेत्वाह वायुना अन्तरिक्षम्याप्यथा । अन्त-  
रिक्षदेवत्याः एतु वै पशवः । वायव एवैतान् परिददाति” ( तै० ३।२।१।३ )  
इति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ तस्मात् ] उस [ सर्वहुत ] अच्छी प्रकार होम किए  
गए [ यज्ञात् ] ( हवि बनाए हुए विराज् पुरुष रूप ) यज्ञ से [ पृषदाज्यम् ]  
पशु [ समृत्तम् ] उत्पन्न हुए । [ तान् ] उन [ पशून् ] पशुओं को [ प्रायग्यान् ]  
वायु में निवारण करने वाला [ आरण्यान् ] जगत् में रहने वाला [ च ] और  
[ ये ] जो [ भ्राम्याः ] गौव ( आदि ) में रहने वाले ( हैं उन को वैसा )  
[ चक्रे ] बनाया ॥

टिप्पणिषा—१, यजुर्वेद के पाठ में अर्थ में कोई अन्तर नहीं होगा ।

२ यज्ञात्—देखो ऊपर मन्त्र ६ में यज्ञम् पर टिप्पणी । यहा पर मन्त्र ७  
में वर्णित 'पशुरचना रूप यज्ञ' का भाव लेना अधिक सगत रहेगा । दस०—  
ने इस में पूजनीय पुरुष परमात्मा=आदि पुरुष का वर्णन माना है ( य०  
भाष्य ) । वह विचारणीय है ।

३ सर्वहुतं—मही०—सर्वे हृयते यमिन् स सर्वहुत । तस्मात् । सब कुट  
की आर्जित को प्राप्त करने वाला पुरुषमेधयज्ञ । दस०—तन से ग्रहण निये  
जाने वाला ( पूजनीय परमात्मा ) ।

(II) यज्ञ की सिद्धि तन ही होती है जब वह अच्छी प्रकार सम्पन्न हो ।  
अग्नि म पशुओं को डालने का एक प्रयोजन उन्हें सूक्ष्मतम बना कर वायु द्वारा  
सर्वत्र फैला देना है । यह तब ही सम्भव है जब अग्नि सूक्ष्म प्रवर्धित हो ।  
यह भाव यहा भी अभिप्रेत है । अत इस का अर्थ—'सूक्ष्म शक्तियों के योग  
से विराज् रूप सामग्री से किए जा रहे प्राणिरचना रूप यज्ञ को अग्नि सूक्ष्म  
प्रवर्धित थी । उस समय उस विराज् सामग्री के सूक्ष्म तत्त्वों से' अभिप्रेत है ।

४. संभृतम्—सम् + √हृ + क्त । वेद में √हृ और √ग्रह् के ह् को भ् हो जाता है । अच्छी प्रकार सम्पन्न, सम्यक् सिद्ध, सम्यक् उत्पन्न । यहाँ क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

५. पृषदाज्यम्—मही०—दधि से युक्त आव्य अर्थात् दध्यादि भोग्य पदार्थों का समूह । मै०—वी । दस० भी मही० का ही भाव लेते हैं ।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ अन्न, प्राण, पयः और पशु मिलते हैं । यहाँ प्राणिरचना यज्ञ हो रहा है । उस से पहले प्राणी उत्पन्न होंगे, तब दधि आदि से उपलक्षित भोग्य पदार्थ उत्पन्न हो सकेंगे । यद्यपि यहाँ कार्य-कारण के पार्यापत्य का व्यत्यास रूप अतिशयोक्ति अलंकार माना जा सकता है, परन्तु मन्त्र की रचना इस के विरुद्ध है । पाद ३ में 'तान्' 'पृषदाज्यम्' का निर्देश करता है और उस का अर्थ 'पशून्' देता है । इन पशुओं के तीन विभाग किए गए वायव्य, आरभ्य और ग्राम्य ।

६. तान्—मै०—तत् के स्थान पर पशून् के प्रभाव से 'तान्' का प्रयोग हुआ है ।

७. घ्रायुर्व्यान्—यह उन विरल पदों में से है जहाँ उच्चारण काल में भी स्वतन्त्र स्वरित की सत्ता बनी रहती है । इस के आन् को आगे आने वाले 'आ' के कारण ओं नहीं हुआ क्योंकि यह पाद के अन्त में है । इस से ऐसा आभास मिलता है कि पहले मन्त्रों का प्रत्येक पाद अन्य पादों से स्वतन्त्र समझा जाता था ( मै० ) ।

संहितापाठः

पदपाठः

३०. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत  
ऋचः सामानि जज्ञिरे ।  
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्  
यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वहुतः ।  
ऋचः । सामानि । जज्ञिरे ।  
छन्दांसि । जज्ञिरे । तस्मात् ।  
यजुः । तस्मात् । अजायत ॥ ९ ॥

मन्त्रोऽयं यजुःसंहितायां सप्तमः । तत्र 'छन्दांसि'—इत्यत्र 'छन्दां छं सि'—  
इति पाठः ।

मायणभाष्यम्—सर्वहुत तस्मान् पूर्वोक्तात् यज्ञान् ऋच सामानि च जज्ञिरे उपज्ञा । तस्मान् यज्ञान् छन्दामि गाययादीनि जज्ञिरे । तस्मान् यज्ञान् यजु अपि अजायत ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ तस्मात् ] उस [ सर्वहुत ] अच्छा प्रश्न निश्चय [ यज्ञान् ] (। यज्ञान् पुरुष रूप सामग्री वाले ) सृष्टिपत्र से [ ऋच ] ऋचाएँ ( और ) [ सामानि ] सामान [ जज्ञिरे ] उपजत हुए । [ तस्मात् ] उस से ( ही ) [ छन्दामि ] उन् और [ तस्मात् ] उस से ( ही ) [ यजु ] यजु [ अजायत ] उत्पन्न हुए ॥ ९ ॥

विषयव्याख्या—१ यज्ञान् सर्वहुत—सं०—सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण पुरुष ( सप्तहुत ) मन व पूजनाय, सब व उपास्य सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से । ये इमे ऋच आदि का विरापण भी मानत हैं क्यों कि चारों व मन मनुष्यों द्वारा ग्रहण किए जान योग्य हैं । उन् व विचार में (१) प्रचलित ( पुरुषयज्ञ ) से देव ऋत्साम यजु और उन्को को उपजत करते हैं । २ प्रश्न से आभयत व प्राप्त हो जान पर स्वयमन ज्ञान स ( ऋच आदि ) अस्तित्व हो जाते हैं ।

२ ऋच, सामानि, छन्दामि, यजु—सं० न ऋच् आदि का अर्थ ऋच, सामान, अथर्ववेद और यजुर्वेद लगाया है । उन का विचार है । क ऋच सामान और यजु में ही समस्त उन्का का अन्तभाव हो जाता है, अत छन्दामि का प्रयोग निरर्थक हाउ स यह अथर्ववेद का शीतक है । सन् पाण्डुरंग कोप मन्त्र का अर्थ ऋच्, यजु और साम से भिन्न, सम्मिलित मूलत, एक वाचु गन का वाक्य । स्या है । इस आधार पर पीठर्सन भी सं० व विषय पर पहुँचते हैं । सं० समझत हैं कि इस में नेत्रतान वेदा का ही सीवा और माभान् वगन है, अथर्ववेद बहुत पीछे तक चतुर्थ वेद के रूप में स्वीकार नहीं किया गया ।

(11) ऋ० १०।१४।१६ म निष्पुं, गायत्री और उन्दामि को यम में निहित बताया गया है । ऋ० १०।१४।१० में निष्प एर सुपर्ण को अथर्वम छन्दो को युक्त करने हुए बहुधा कल्पित करते हैं । मन्त्र ६ में छन्दो को धारण

करते हुए विद्वान् ऋक् और सामन् से यज्ञ का सम्पादन करते हैं, मन्त्र ९ में प्रश्न है कि छन्दों के योग को कौन जानता है। ऋ० १०।१३०।३ में मन्त्रों को छन्द कहा है, मन्त्र ७ में इन के दो विभाग किए हैं—स्तोम और छन्द । अतः छन्द समस्त मन्त्रों का चोतक पद है । वहाँ पर ऋक्, साम और यजुः से बचे हुए मन्त्रसमूह का अभिप्राय है, और वह अथर्ववेद ही है ।

३. मन्त्र की समस्या—परन्तु अभी मानवसृष्टि का वर्णन नहीं किया गया है । इस से पहले मन्त्र में पशु शब्द से मानव का भी ग्रहण तो किया जा सकता है, परन्तु अगले मन्त्र में पशुओं का पुनः विस्तार किया गया है । मानवों का वर्णन केवल मन्त्र १२ में आया माना जा सकता है, फिर ऋग्वेद आदि की उत्पत्ति कैसे हुई । क्या इस में नित्य वाणी के प्रकाश का भाव ले कर वाणी के अंग होने के कारण ही ऋग्वेद आदि का वर्णन किया गया है, अथवा अन्य किसी दृष्टि से यह विचारणीय है । उधर ब्राह्मणग्रन्थों में ऋक् आदि के कुछ अर्थ मिलते हैं, क्या उन में से भी कोई अर्थ यहाँ अभिप्रेत है !

संहितापाठः

पदपाठः

३१. तस्मादश्वा अजायन्त	तस्मात् । अश्वाः । अजायन्त ।
ये के चोभयादतः ।	ये । के । च । उभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्	गावः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् ।
तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥	तस्मात् । जाताः । अजावयः ॥१०॥

यजुःसंहितायां मन्त्रो ऽयमप्रथमः ।

सायणभाष्यम्—तस्मात् पूर्वोक्ताद्यज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः । तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरु र् + उभयोः दन्त्युक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त । तथा तस्मात् यज्ञात् गावः च जज्ञिरे । किं च तस्मात् यज्ञान् अजावयः च जाताः ॥१०॥

हिन्दी अनुवाद—[ च ] और [ ये ] जो [ के ] कोई ( भी ) [ उभयादतः ] ( ऊपर नीचे — ) दोनों ओर दान्तों वाले ( हैं वं ) [ अश्वाः ] घोड़े

[ तस्मात् ] उम्भी ( यत् ) से [ भजायन्त ] उत्पन्न हुए । [ ह ] निधय से [ गार ] गौएं [ तस्मात् ] उसी ( यत् ) से [ जजिरे ] उत्पन्न हुईं [ भजाय ] नररी और भेट [ जाता ] उत्पन्न हुईं ॥ १० ॥

टिप्पणिया—१. भाष्यकारों का अर्थ—भाष्यकारों ने पहले दो पादों को एक साथ ले कर घोटों और दोनों ओर दान्तों वाले गधे आदि की उत्पत्ति का वर्णन माना है । परन्तु गार' के ऊपर और नीचे तथा दोनों ओर दृष्टाए होती हैं, तथा घनगियों के ऊपर और नीचे दान्त होते हैं, अतः ये सब ही 'उभयादत' हैं । ऐसी स्थिति में द्विअ० की योजना उचित जान पड़ती है । भाष्यकारों का अर्थ यह है—

उम से घोड़े उत्पन्न हुए और ये जो घोड़े भी दोनों ओर दान्तों वाले हैं । उस से गार उत्पन्न हुईं । उम से नररी और भेटें उत्पन्न हुईं ।

२ अज्ञावर्य—द्वन्द्व समासों को पदपाठ में अग्रहीत नहीं किया जाता है ।

सहितापाठ.

पदपाठ

३२. यत्पुरुषं व्यदधुः  
कृतिघा व्यकल्पयन् ।  
मुखं किमस्य कौ वाह  
का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥

यत् । पुरुषम् । वि । अदधुः ।  
कृतिघा । वि । अकल्पयन् ।  
मुखम् । किम् । अस्य । कौ । वाह  
इति । कौ । ऊरू इति । पादा ।  
उच्येते इति ॥ ११ ॥

यजु.संहितायामयं दशमो मन्त्र । तत्र तृतीयचतुर्थपादौ त्वेव स्त.—

मुखं किमस्यासीत्कि वाह  
किमूरू पादा उच्येते ॥

मुखम् । किम् । अस्य । आसीत् ।  
किम् । वाह इति ।  
किम् । ऊरू इति । पादा । उच्येते इति ॥



सायणभाष्यम्—प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वस्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते । प्रजापतेः प्राणरूपा देवाः यत् यदा पुरुषं विराड् रूपं व्यदधुः संकल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः । अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत् । कौ वाहू अभूताम् । का ऊरू । कौ च पादाबुच्येते । प्रथमं सामान्यल्पः प्रश्नः पश्चात् मुखं किमिच्छादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ यत् ] जब ( देवों ने ) [ पुरुषम् ] विराज् पुरुष को [ व्यदधुः ] ( सृष्टियज्ञ में ) आहुति दी ( तब उस को ) [ कतिधा ] कितने प्रकार से [ व्यकल्पयन् ] वर्णन किया ? [ अस्य ] उस का [ मुखम् ] मुख [ किम् ] क्या ( था ) [ वाहू ] दो भुजाएं [ कौ ] कौन-कौन सी ( थीं ) [ ऊरू ] जंघाएं ( और ) [ पादा ] पैर [ का ] कौन-कौन [ उच्येते ] कहे जाते हैं ?

टिप्पणियाँ—१. अगले मन्त्र की भूमिका—यह मन्त्र अगले मन्त्र के वर्णन की प्रश्नात्मक प्रारम्भ है ।

२. यत्—मही०—जब । दस०—क्यों कि ( कभाभू० ) ; उस ( पुरुष ) को ( व०भाष्य ) ।

३. पुरुषम्—सा०—विराज् पुरुष । दस०—पूर्ण पुरुष ।

४. वि अदधुः—मै०—जब देवों ने पुरुष को हवनीय पशु के रूप में काय । मही०—काल से उत्पन्न किया । दस०—( व०भाष्य )—विविध प्रकार से धारण करते हैं । ( कभाभू० )—विविध प्रकार से व्याख्यान करते हैं ।

(ii) आश्रित वाक्य होने पर भी पदपाठ ने 'वि' को अदधुः से पृथक् किया है । इस से ज्ञात होता है कि 'वि' को पदकार उपसर्ग नहीं मान रहे हैं ।

५. कतिधा—कितने प्रकार से । इस के उत्तर अगले मन्त्रों में पाए जाते हैं । मन्त्र १२-१४ में चार-चार प्रकारों का उल्लेख है और मन्त्र १५ में दो प्रकारों का ।

६ वि अरुपयन्—मै०—वाटा, उ०—विचार किया। मही०—( कितने प्रकार ) कल्पना थी। दम०—विशेष कर कहते हैं ( य० भा० )। उन के गामर्भगुणों की कल्पना करते हैं ( ऋभाभू० )।

(11) इस धातु का कल्पना करने, सोचने, विचारने, व्याख्यान करने के अर्थ में ऋ० १०।११।४।२ में भी प्रयोग हुआ है—

‘सुगर्ग विप्रा. वस्यो वचोभिरेव गन्तवहुधा कल्पयन्ति।’ ऋ० १।१६।४।६—  
‘एक मद् विप्रा बहुधा वदन्ति’ से तुलना करने पर उपरोक्त अर्थ सुपुष्ट हो जाता है। अतः—कितने रूपों में व्याख्यान किया—यह भाव हुआ।

७. सुगर्भम्—गा०—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में सामान्य प्रश्न किया गया है और इस भाग में उस प्रश्न का विस्तार किया है। गा० आदि में इस का अर्थ—  
पुरुष के मुख, बाहू, ऊरु और पैर क्या थे—लिया है। दम० ने य० भाष्य में  
“( सुगर्भ ) के समान श्रेष्ठ, ( बाहू ) भुज बल को धारण करने वाला, ( ऊरु )  
घोंटू के कार्य करने वाले और ( पाद ) पाद के समान नाच करने वाले” और  
ऋभाभू० पृ० १२८ में (i) मुख्य गुणों से, (ii) वल, धीर्य, श्रुता और युद्ध  
आदि विद्यागुणों से, (iii) व्यापार आदि मध्यम गुणों से और (iv) मूर्खपन  
आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति हुई—अर्थ किया है।

(12) इस मन्त्र के पूर्वार्ध में पूछा गया है कि विराट् का विद्वानों ने कितने प्रकार व्याख्यान किया। अतः उत्तरार्द्ध में मुख, बाहू, ऊरु और पाद की दृष्टि से विराट् के चार प्रकार से अर्थात् चार व्याख्यान अभिप्रेत हैं। ये चारों वश व्याख्यान और इन में प्राप्त नाम उसी प्रकार एक विराट् के श्रोतक हैं जिस प्रकार ‘एक मद् विप्रा बहुधा वदन्त्यस्मि यमं मातृभिश्चानमाहुः’ में अग्नि, यम और मातरिश्वा ‘एक सत्’ के श्रोतक हैं। विराट् क मुख आदि साक्षात् नहीं हैं। उन की शक्तियों को ही मुख आदि नाम दिया है। मुख = मुख के मध्य मुख-निरपेक्ष, ज्ञान प्रवचन और नेतृत्व आदि के गुण। बाहू—√वहू धारण करना से। धारक, शक्ति, बल, धीर्य, रक्षा, सहार आदि गुण। ऊरु—√ऊर्ण टरना से। अतः आच्छादन, पालन, विस्तार करना आदि गुण। पद् ( पाद )—

✓पद् जाना से । अतः गति, प्राप्ति, ज्ञान, श्रम और तप आदि । भाव यह है कि इन शक्तियों की दृष्टि से विराज् के क्या-क्या नाम हुए । यजुर्वेद के पाठ में 'वा' और 'फा' के स्थान पर 'किम्' पाठ से भी यही निष्कर्ष निकलता है । वहां अर्थ यह है—इस का मुख किस नाम का था, बाहू, ऊरू और पाद किस नाम के थे ।

८. की—डा० म० लिखते हैं कि व्यञ्जनों से पूर्व द्विवचन के 'औ' के स्थान पर ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों में 'आ' का प्रयोग पाया जाता है ।

संहितापाठः

पदपाठः

३३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्	ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् । आसीत् ।
बाहू राजन्यः कृतः ।	बाहू इति । राजन्यः । कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः	ऊरू इति । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः ।
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥	पद्भ्याम् । शूद्रः । अजायत् ॥१२॥

यजुःसंहितायामयं मन्त्र एकादशः । तत्र ब्राह्मणे, राजन्यः हस्तुभ्यत्रापि  
० णो, ० न्युः एवं पाठः । 'पद्भ्यामित्यस्य स्थाने 'पद्भ्यां' पाठो वर्तते ।

सायणभाष्यम्—इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति । अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखबाहुत्पन्न इत्यर्थः । योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः सः बाहू कृतः बाहुत्वेन निष्पादितः । बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः । तत् तदानीम् अस्य प्रजापतेः यत् यौ ऊरू तद्रूपः वैश्यः संपन्नः ऊरूभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत । इयं च मुखदिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्ब्रह्मसंहितावां सप्तमकाण्डे "स मुखतन्निवृत्तं निरमिर्मात" ( तमं ७ । १ । १ । ४ ) इत्यादीं विस्पष्टमाग्नाता । अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतवैव बोधनीये ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ ब्राह्मणः ] ब्राह्मणानी [ अस्य ] उस ( विराज्-पुरुष ) का [ मुखम् ] मुख [ आसीत् ] था । [ राजन्यः ] क्षात्रिक [ बाहू ] दोनों

भुजाएँ [ कृत ] बनाया गया । [ यत् ] जो [ वैश्यः ] ( सामान्य ) प्रजाजन ( य ) [ तत् ] य [ अस्य ] इस की [ ऊरू ] दोनों जगह ( उत्पित किए गए ) । [ पद्भ्याम् ] पैरों से ( यह ) [ शूद्र ] शूद्र ( = तपस्वी ) [ भजायत ] हो गया ।

टिप्पणिया—१ वर्णों की उत्पत्ति—इस मन्त्र के आधार पर सत्र भाष्य-कारों ने ब्रह्म के मुख में ब्राह्मणों की, मुखाओं से क्षत्रियों की, जघनांश से वैश्यों की और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी है, और समाज में उन का स्थान भी उनरोत्तर अग्र माना है । मध्यकालीन और उस विचार के अनुयायी पण्डित इन वर्णों को जन्मगत मानते हैं और दम० गुणरत्नमयार के अनुसार वर्णमश मान कर एक दूसरे वर्ग में परिवर्तन का विद्वान्त प्रतिपादित करते हैं ।

(11) जैसा पहले मन्त्र (११) की टिप्पणियों में लिखा गया है यहाँ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र विराजू के ही विभिन्न दृष्टियों से अनेक नाम हैं । भाव यह है कि गुरुरत् ज्ञान और प्रवचन की दृष्टि से विराजू का नाम ब्राह्मण है, बल, वीर्य आदि की दृष्टि से क्षत्रिय या राजन्व, विस्तार करने और मर्दन व्यापक होने की दृष्टि से वैश्य और गति, शान और प्राप्ति की दृष्टि से शूद्र नाम है । एतन्ना से लोक में इन गुणों के आधार पर विश्व. ( = प्रजा ) के भी पृथक्-पृथक् नाम कल्पित कर लिए गए । ऊपर मन्त्र ऋ० २ । १२ । ६ ( अमरंख्या १२ ) में भी टिप्पणियाँ देखें ।

(111) प्रचलित शैली के अर्थों के अनुसार भी चार वर्णों के प्रसिद्ध नाम ऋग्वेद में केवल इस मन्त्र में आए हैं । बही नहीं, चारों संहिताओं में इस क्रम से चारों वर्णों के नाम इसी मन्त्र में मिलते हैं और किसी में नहीं । डा० अम्बेडकर इस मन्त्र को विशेष रूप से प्रशंसित मानते हैं ।

२. कृत—मै० ने इसे कृता का स्थान पर राजन्व से प्रभावित प्रयोग माना है, परन्तु यह विचार ठीक नहीं । कृत और राजन्व समानाधिकरण हैं ।

३. यद्दृश्यं—मै० ने इस का अर्थ—उस की दो जगह जो वैश्य था हो गई—किया है । ऊपर के व्याख्यान की दृष्टि में यह अर्थयोजना उलटी है ।

४. पृथ्व्याम्—में जनन की प्रकृति की शीतक पञ्चमी मानी गई है । पिछले मन्त्र की दृष्टि में 'अजायत' का भाव 'उच्यते' है । अतः अहां पञ्चमी नहीं मानी जा सकती । जटाभिस्तापमः के समान इरथंभूतलक्षण में तृतीया है—गति-शीलता, श्रम और तप के कारण विगड् शृङ्ग कहलाता है ।

(ii) गति दो प्रकार की होती है—१. श्रेय की ओर और २. प्रेय की ओर । अतः पृथ्व्याम् में द्विवचन का प्रयोग किया गया है ।

(iii) शक्ति भी दो प्रकार की होती है—१. पोषक और संहारक । संगार और राष्ट्र के धारण में दोनों प्रकार की शक्तियां काम आती हैं । अतः 'बाहू' में द्विवचन का प्रयोग हुआ है ।

(iv) विस्तार भी अपना और दूसरों का होने से दो प्रकार का है । अतः ऊरु में भी द्विवचन का प्रयोग किया गया है ।

संहितापाठः

पदपाठः

३४. चन्द्रमा मनसो जात-	चन्द्रमाः । मनसः । जातः ।
श्क्षोः सूर्यो अजायत ।	चक्षोः । सूर्यः । अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च	मुखात् । इन्द्रः । च । अग्निः । च ।
प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥	प्राणात् । वायुः । अजायत ॥ १३ ॥

अयं मन्त्रो यजुःसंहितायां द्वादशः । तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेवम्—  
 श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च | श्रोत्रात् । वायुः । च । प्राणः । च ।  
 मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥ | मुखात् । अग्निः । अजायत ॥ १२ ॥

सायणभाष्यम्—यथा दध्याज्वादिद्रव्याणि गवाद्यः पशवः शृगादि वेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एव चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्ना इत्याह । प्रजापतः मनसः सकाशात् चन्द्रमाः जातः । चक्षोः च चक्षुषः सूर्यः अपि अजायत । अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ । अस्य प्राणात् वायुरजायत ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—( उदाहरण ) [ मनस ] मन से [ चन्द्रमा ] चन्द्रमा [ ज्ञान ] ज्ञान । [ ब्रह्म ] ब्रह्म से [ सूर्य ] सूर्य [ अज्ञायत ] अज्ञायत हुआ । [ मुग्धात् ] मुग्धात् [ इन्द्र ] इन्द्र [ च ] च और [ अग्नि ] अग्नि [ च ] च और [ प्राणात् ] प्राणात् [ वायु ] वायु [ अज्ञायत ] अज्ञायत हुआ ॥ १३ ॥

टिप्पणियाँ—१ चन्द्रमा—चन्द्रति हृष्यति दीपयति वा स चन्द्रः ( उ० २।१३ टभा० ) । चन्द्र मिमीतःसी चन्द्रमा ( उ० ४।२२८ ) । आनन्दप्रद, प्रजापति । चन्द्रमा को चन्द्रमा भी इन्हीं गुणों का वाग कहते हैं । इस की एक अन्य व्युत्पत्ति भा सम्भव है—चन्द्रति चन्द्रयति वा चन्द्र । चन्दे आनन्दे प्रशान्ते वा समनःसौ चन्द्रमा । आनन्द और प्रकाश में रमण करने वाला, अत आनन्दमय, प्रकाशस्वरूप । निध० ५।१३ में इसे पदनामों में पदा गया है । शास्त्रियों ने इसे पदवाच में अशुद्धीत नहीं किया है । सम्भवतः यह इस की दूरी व्युत्पत्ति मानन ही जिस में पूर्वपद में विचार होने के कारण यह पद अशुद्धीत नहीं हो सकता । तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसे चन्द्र + मे से और नि० १।१५ में चाय + √ द्रम् आदि से व्युत्पन्न किया गया है । इस के अर्थों में साम, कृत्, वन्ध, मरिता, मनस, रेतम्, अत्र, प्राण, प्रजापति, ब्रह्मा, धाता, विधाना, रात्र, उदान, मनुष्य लोक, दाक्, भर्ग, गय कुछ आदि मिलते हैं ।

२ मर्तस—चन्द्रमा और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है । चन्द्रमा की किरणों का विशेष प्रकार से पटने पर मन में अनेकविध विकारों की उत्पत्ति होता है । शुद्ध पथ में दृश्य पथ का अन्तर्गत मानसिक गति अधिष्ठ ३ तीव्र होता है तु० क० तै० ३।१०।८।५—चन्द्रमा में मनसि अत्र । तथा जे० उत्रा० १।२।८।५ तत्रतन्मनश्चन्द्रमास । अतः यहाँ पर पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति कहा गया है । मनसु पद √ मन् जानना, मनन करना से बनता है । जानने का साधन, अतः ज्ञानसाधक, अनुभवशक्ति आदि । ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे सविता, इन्द्र, ऋत, समुद्र, देव, वृषा, वायु, प्राणों का अधिपति, वसु, अध्वर्यु आदि कहा गया है । वृहत्, पर ब्रह्म, होता, प्रजापति, मरुतु, पितर, अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि ।

३. चक्षोः—डा० मै० लिखते हैं कि चक्षु का पञ्चायन्त यह रूप केवल इसी मन्त्र में आया है। सामान्यतः यह पद चक्षुषू है। सूर्य के कारण ही आलोक प्राप्त कर के मनुष्य देखने में समर्थ होता है। सूर्य स्वयं सद्य जगत् को अपने प्रकाश से देखता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ सत्य, निवित्, रुक्, वृहस्पति, जमदग्नि ऋषि, मैत्रावरुण, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, देव, आदित्य, अर्क, सूर्य, यज्ञ, त्रेष्टुभ, उष्णिक आदि दिए गए हैं।

४. मुखीत्—पिछले मन्त्र में मुख पर टिप्पणी देखे। श्र० १४।४।३।७ में मुख को 'प्रतीक' कहा है।

५. इन्द्रः—पीछे ऋ० २।१२।१ में इन्द्रः पर टिप्पणी देखें। पाठ० सू० सं० ३१ में इन्द्रः पर भी टिप्पणी देखें।

६. अग्निः—डा० फतह सिंह ने वैश० ७ में इसे मूलतः अ-√अन्त् से व्युत्पन्न माना है। वैदिक वर्णनों में इस के अग्रणीत्व, प्रकाश और गति-शीलता गुण ही विशेष लक्षित होते हैं। मन्त्र में भी अग्रणीत्व, प्रकाश और मानसिक गति सुविदित हैं। वे भाष० ४।१३; तथा परिशिष्ट २।१ भी देखें। पाठ० सू० सं० ३१ में अग्नि पद पर टिप्पणी देखें।

७. प्राणात्—यह पद प्र + √अन् वात् लेना से बनता है। श्वासक्रिया और उस में अन्दर आने और बाहर जाने वाली वायु ही प्राण है। प्राण शब्द से स्वयं प्राण का और प्राण, अपान, ब्रान आदि द्रवों प्राणवायुओं का शोतक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राणों को प्र, आदित्य, अर्क, सविता, सोम, चन्द्रमा, अग्नि, अमृत, वातवेदसू, वायु, वात, मातरिश्वा, वनस्पति, वरुण, रुद्र, वसु, मित्र, साध्य देव, विश्वे देवाः, ऋषि, वसिष्ठ ऋषि, ऋक्, वसुः, रश्मि, होता, सत्य, संवत्सर, मधु, ज्योति, हिरण्य, क, प्रजापति, तनूनरात्, पिता, अर्णव, अन्न, सामवेद, आपः आदि कहा गया है। देखो वैकां०।

८. वायुः—√वा जाना, बहना से। गतिशील, ज्ञानवान्, प्राप्त वस्तु आदि वायु शब्दशोत्य होते हैं। पिछले साहित्य में यह पद वोगरुटि हो कर

'हवा' का द्योतक बन गया है। अभिज्ञानशास्त्रान्तर्गत अक्ष ७ में वायु के मार्गों का उल्लेख मिलता है।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में वायु के अर्थों में हवा, मन को पृथक् पृथक् व्यक्त करने वाली, देव, ब्रह्म, बृहस्पति, पवित्र, प्रशान्ति, इन्द्र, तेज, पूषा, तार्क्ष्य, मनिता, विश्वरूपा, पशुमति, उग्र, पुरोहित, वाक्, देवों की आत्मा, यज्ञ, अक्षर्यु, शान्ति आदि दिए हैं।

९ जेगा ऊपर मन्त्र ११ की टिप्पणियों में लिखा है वहा से आगुत पुरुष के नामों वा व्याख्यानों का प्रकरण चल रहा है। वही विषय प्रकृत मन्त्र में तथा अगले मन्त्र में चल रहा है। इस प्रकरण का उपसंहार अगले मन्त्र (म० १४) के पाठ ४ में—तथा लोकाँ अकल्पयन्—इस प्रकार लोकोँ = स्वरूपों का धारणान किया—में किया है।

(iii) ऊपर टिप्पणियों में विभिन्न पदों के ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थों के अध्ययन और तुलनात्मक विश्लेषण से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र पदों के कतिपय अर्थ समान हैं। यह तब ही सम्भव है जब वे एक ही मन्त्र के विभिन्न पदों के द्योतक हों। इस दृष्टि से भी वहा पुरुष के स्वरूपों का वर्णन ही अभिप्रेत है। इस की पुष्टि चन्द्रमा और मन के, सूर्य और चतु के, सुग तथा इन्द्र और अग्नि तथा प्राग और वायु के घनिष्ठ सम्बन्ध ने भी होती है।

(iii) परन्तु मनसः, चक्षो, सुगान् और प्रागात् में पदमा विभक्ति का प्रयोग विचारणीय है। पिछले मन्त्र १२ में पद्मसाम् में इत्यभूत्प्राग में तृतीया लेने से समस्या हल हो गई है। परन्तु प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में वहा हेतु में पश्चमी माननी समीचीन रहेगा। मनसशक्ति, दर्शनशक्ति, सहनशीलता और धारण करने की शक्ति का कारण उन के नाम क्रमग. चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र और अग्नि तथा वायु पडे। ✓/जन् धातु का प्रयोग उत्पत्ति द्योतक ही नहा है, प्रसिद्धि का द्योतक भी है।

१०. ध्रोत्रान्—यजुर्वेद में प्राग और वायु को ध्रोत्र से उत्पन्न कहा गया है। अतः श्रवणशक्ति का कारण वह पुरुष वायु और प्राग कहलाया।



संहितापाठः

पदपाठः

३५. नाभ्यां आसीदन्तरिक्षं  
शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।  
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् ।  
तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥

नाभ्याः । आसीत् । अन्तरिक्षम् ।  
शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत ।  
पद्भ्याम् । भूमिः । दिशः ।  
श्रोत्रात् । तथा । लोकान् ।  
अकल्पयन् ॥ १४ ॥

बहुःसंहितायां त्रयोदशोऽयं मन्त्रः । तत्र 'अन्तरिक्षम्' इति 'लोकाँ', इति च स्थाने 'अन्तरिक्षं' इति, 'लोकाँ' इति च पाठौ । पदपाठस्तु ऋग्वेदवत् ।

सायणभाष्यम्—यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेः मनःप्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथा अन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापतेः नाभ्यादिभ्यो देवाः अकल्पयन् उत्पादितवन्तः । एतदेव दर्शयति । नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेः अन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्णः शिरसः द्यौः समवर्तत उत्पन्ना । अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिः उत्पन्ना । अस्य श्रोत्रात् दिशः उत्पन्नाः ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ नाभ्याः ] ( उत की ) नाभि से [ अन्तरिक्षम् ] आकाश [ आसीत् ] हुआ [ शीर्ष्णः ] शिर से [ द्यौः ] बुलोक [ समवर्तत ] घना । [ पद्भ्याम् ] पैरों से [ भूमिः ] पृथिवी [ श्रोत्रात् ] कानों से [ दिशः ] दिशाओं [ तथा ] और [ लोकान् ] ( क्षेत्र सब ) लोकों को [ अकल्पयन् ] कल्पित किया ॥ १४ ॥

टिप्पणियाँ—१. नाभ्याः—यह पद ✓नह् बांधना से बनता है । जो गव कुल को बांधे हुए है, व्यात किए हुए है । ब्राह्मणग्रन्थों की दृष्टि में नाभि में प्राण, अन्न और रेतन् रियत है । नाभि पद्भ्यां का मध्य भाग होती है, बाँध बंधरहित होती है । अन्तरिक्ष—आकाश सब को व्यात किए हुए है । इसे गव्य लोक भी कहते हैं । वायु और वृष्टिजल की स्थिति भी इसी में रहती है ।

२. अन्तरिक्षम्—डा० फ़तहसिंह ने दो व्युत्पत्तियाँ ( १. अन्तरा + ✓क्षि से २. अन्तर् + यक्ष्म से ) ब्राह्मणों से और तीन ( —१. अन्तरा + धान्तम्

२ अन्वय + √ रि १. अन्तर + धयम् ) निष्क से सवलित की हैं । आकाश के अर्थ में व हमें अन्तर + √ ईश् से व्युत्पन्न करना उचित समझते हैं । ताण्ड्यमहाब्राह्मण में एन अन्य व्युत्पत्ति अन्तर + ए का संस्कृत भी मिलता है ( देखो वैको० ५६ ) । ऊपर टिप्पणी १ में वर्णित अन्तरिक्ष के रूप की दृष्टि में अन्तर + √ शि व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त मानी जा सकती है । इसी से यह पुरुष का उस के मर कुठ को अपने अन्दर धारण करने और सब कुठ के अन्दर व्याप्त होने का कारण नाम बन जाता है ।

३ शीर्ष —इसे √ शि से व्युत्पन्न किया गया है । मर का धारक, सब का शरणभूत, अत उन्नत, परम कमनाय । तु. क. अमीरी माया का निरि । हम का सामान्य अर्थ शिरम् हाता है । इसे प्राणों की योनि, प्राण, अग्नि, वायवी छन्द, विधातु, विष्टु आदि कहा गया है ( देखो वैको० पृ० ५४४ ) ।

४ शौ —यह क्रीडा, विविर्गोषा, कान्ति, गति, मोद, मद्, म्रग, व्यग्रहार, युति, श्रुति अथो म प्रयुक्त √ टिष् धातु से व्युत्पन्न किया गया है । ता० २० । १४ । २ म इसे √ युत् ने व्युत्पन्न किया गया है । ब्राह्मणग्रन्थों ने इस प्रजापति द्वारा पैलाया हुआ, हरिणः (= सुवर्णमयी ), प्राण, बृहत्, अपर-पत्ति छन्द, विध्वजर्मा, वरुण, वैश्वानर, वात् आदि कहा है ।

५ पद्मगम् —ऊपर मन्त्र १२ में पद्मवाम् पर टिप्पणी देखें । वहा भी हेतु म पद्ममी माना जा सकती है ।

६ भूमि —भवतीति भूमिः । सब कुठ का उत्पत्तिस्थान होने से पृथिवी भूमि कहलाता है । मर को जन्म और मृत्यु आदि प्राप्त कराने वाला होने के कारण यह पुरुष भूमि कहलाया ।

७ दिश —√ टिष् से बनता है । प्रशान्त, निदशक । ब्राह्मणग्रन्थों में द्यग्श्लोक, नाक, अग्नि, विश्वदेवा, ऋतुर्ण, भ्रोन, धरगशक्ति, छन्दम्, परिधिया, प्राण, समान, वैरुण गाम आदि का 'दिश' कहा गया है । अतः प्रकरण में हम का ऋतुचक्रण रूप कोई समस्या उत्पन्न नहीं करता है । वैदिक पदों का योजना परम कृत्रिम है । व कवि का काव्य के पदों के समान नहीं है । उन की योजना अनेक दृष्टियों को ध्यान में रख कर की गई है ।

८. तथा लोको अकल्पयन्—✓ कल्प का अर्थ ऊपर मन्त्र ११ में व्याख्यान करना, प्रताना, कल्पना करना निर्धारित किया जा चुका है। लोक पद✓ लोक् देखना, प्रकाशित होना से बनता है। अतः प्रकाशित, प्रकाशमय, प्रकाशप्रद। अतः शपक = स्वरूप = नाम। इसी आधार पर इस का अर्थ 'पञ्च' भी किया जा सकता है। पुरुष के विभिन्न नामों, पञ्चोत्तररूपों का व्याख्यान ऊपर वर्णित रूप में किया।

९. ऊपर मन्त्र ११-१४ में सुझाए गए अर्थों के साथ-साथ इन मन्त्रों से पशु आदि की सृष्टि के समान जगत् के पदार्थों की शक्तियों और कर्मों की सृष्टि का बोध भी आलंकारिक शैली में होता है। वर्णन के क्रम में अव्यवस्था होने से यहां सृष्टिरचना का प्रकरण संग्रहकर्ता का मूलतः अभिप्रेत प्रतीत नहीं होता।

संहितापाठः

पदपाठः

३६, सुप्तास्यासन् परिधयस्

त्रिः सप्त समिधः कृताः ।

देवा यद्यज्ञं तन्वाना

अवधन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

सप्त । अस्य । आसन् । परिऽ-

धयः । त्रिः । सप्त । सम्ऽ इधः ।

कृताः । देवाः । यत् । यज्ञम् ।

तन्वाना । अवधन् । पुरुषम् ।

पशुम् ॥ १५ ॥

सायणभाष्यम्—अस्य सांकल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दोभिः परिधयः आसन् । ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधय उत्तरवेदिकाख्य आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः । अत एवाग्रायतं—“न तस्य पुग्तात् परि दधात्यादित्यो ज्येथोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति” (तसं० २।६।६।३) इति । तत एत आदित्यसंहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्त छन्दोरूपाः । तथा समिधः त्रिः सप्त त्रिगुणीकृतसप्तलंख्याकाः एकविंशतिः कृताः । “द्वादश मानाः पञ्चतैवख्य इमे लोका असाधादित्य एकविंशः” (तसं० ५।१।१०.३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तैश्चस्त्वेन भाविताः । यत् यः

पुम्पो रैरोनोऽस्ति त पुम्प देवा प्रनापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वाना  
मानम यज्ञ तन्वाना कुर्याणा पशुम् अवधन्न् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन  
भाषितवन्त । एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वव "यपुस्येण हविषा" इत्युक्तम् ॥ १५ ॥

इन्द्रो अनुवाद—[ यत् ] जग [ देवा ] देवो ने [ यज्ञम् ] ( सृष्टि- )  
यज्ञ का [ तन्वाना ] विस्तार करते हुए [ पुरपम् ] ( विराट् ) पुरुष को  
[ पशुम् ] ( हवि रूप ) प्राण [ अवधन् ] मनाया ( तन ) [ अस्य ] इन यज्ञ  
की [ परिधय ] सीमाएँ [ सप्त ] सात [ भासन् ] थीं, ( और ) [ समिध ]  
समिधाण [ त्रि सप्त ] इकाण [ कृता ] बनाई गई ॥ १५ ॥

दिव्यशिवः—१ सप्त परिधयं—परिधि—परि + √ धा से । धारक,  
अत माना । ब्राह्मणग्रन्थों में दिशाओं और लोकों को परिधि कहा है । मा०  
ने १) गायत्री आदि सात छन्दों और २ आहवनीय की तीन परिधियों, तीन  
उत्तर वनिकाओं और आदित्य को परिधि बताया है । ऋषभाभू० में दम० ने  
ब्रह्माण्ड ४ एक ४ ऊपर एक ४ कम से रिपत १ समुद्र २ अक्षरेण सहित  
वायु ३ मेघमण्डलस्य वायु ४ वृष्टिजल ५ वृष्टिजल क ऊपर वायु ६ अथत  
गुम धनयव और ७ सप्त धाम सूत्रा मा—इन सात भागों को परिधि  
माना है । मै० न वराहिक चारों ओर रक्षी जाने वाली तीन हरी समिधाओं  
को परिधि बताया है । सृष्टियज्ञ ४ वर्णन में दम० का अर्थ अधिक समीचीन है  
सात छन्दों का भाग ब्राह्मण स सृष्टि की उत्पत्ति में अधिक संगत होता है ।  
वेद ४ कतिपय मन्त्रों में सृष्टिरचना स छन्दों का सम्बन्ध बताया गया है ।  
( ऋषा० ४ । १६५ २७३, १७६ १८० देखें । )

२ त्रि सप्त समिध—इकीस समिधाएँ । मा०—१२ मास, ५ ऋतुएँ,  
३ लक्ष और आदि य । दम०—इकीस पदार्थों ( १ प्रकृति, महत्, बुद्धि,  
अन्त करण और ज व का समुदाय, १० इन्द्रिय,—१ तमानाएँ, और ५ भूत )  
रूप सामग्री । यमा० में यह पासावन इस प्रकार दिया है—१ प्रकृति, १ महत्  
१ अहकार, ५ गुण भूत, ५ स्थूल भूत, ५ शानेन्द्रिय, और ३ गुण—सत्त्व, रजस्  
और तमस् । ब्राह्मणग्रन्थों में प्राणों, वसन्त, गर्म और अश्विणों को समित् कहा  
गया है । ते० २ । १ । ३ । ८ क अनुगार यह पद सम् + √ दा ( = यच्छ )

से बनता है। श० ९।२।३।४४ में इसे सम् + √ इन्ध् से व्युत्पन्न किया गया है।

(ii) ऋ० १।१६४।२५ में गायत्र की तीन समिधाएँ बताई हैं। ऋ० ३।२।९ में परिब्रमन् यह अग्नि की तीन समिधाओं का वर्णन है। इन में से एक मृत्युलोक में स्थापित की गई है और दो ऊपर अन्तरिक्ष में। ऋ० १०।५१।२ में अग्नि की समिधाओं को देववानी कहा है। अवे० ५।२६।१ में यजुप् ही समिधाएँ हैं, ५।२९।१४ में अग्नि की समिधाएँ पिशाचव्रमनी हैं, और १९।६४।४ में अग्नि समिधाओं से समित् बन कर अमर आयु देता है। अवे० ८।९।१८ में समिधाओं की संख्या सात बताई है।

(iii) त्रिः सप्त का प्रयोग भी एक समस्या है। ऋग्वेद में यह संख्या अग्नि के गुण पदों ( १।७।२।६ ), विष्णुलिंगको ( १।१९।१।१२ ), सात मोर-नियों ( १।१९।१।१४ ), अश्व्या के नामों ( ७।८।७।४ ), सोमपा की उम्हाओं ( ८।४६।२६ ), सखा के पद में सुखों ( ? ) आदि ( ८।६९।७ ), गिरिओं की सानुओं ( ८।९६।२ ), पूर्व्य व्योम में सत्य आशिर की दोहक घेनुओं ( ९।७०।१; ८६।२१ ), नदियों ( १०।६४।८ ) की संख्या की द्योतक है और अवे० १२।२।२९ में ऋषियों की संख्या की।

(iv) यहाँ पर सृष्टिवश का वर्णन है। त्रिः सप्त और समिधः के ऊपर दिए गए वैदिक और ब्राह्मणों के वर्णनों की दृष्टि में इन का भाव 'सृष्टिरचना को सम्पन्न करने वाले २१ पदार्थ या शक्तियाँ या कारण' लेना उचित होगा। इस दृष्टि से दस० का व्याख्यान हमारी सहायता करता है।

३. द्वेषाः—ऊपर मन्त्र ७ में देवाः पर टिप्पणी देखें।

४. यज्ञम्—ऊपर मन्त्र ६, ७ में यज्ञम् पर टिप्पणी देखें। यह यज्ञ मानस भी माना गया है। अभिप्राय यह है कि विद्वान् लोभ परम पुरुष का चिन्तन करते हैं ( देखो ऋभा० पृ० १६३ )।

५. तन्व्यानाः—√ तन् + ज्ञानच् । विस्तार करते हुए।

६ पशुम्—सा० आदि ने इस का अर्थ बलि का पशु ही समझा है, यह भिन्न बात है कि वह पशु 'पुरुष' है जो अस्थिमांस को वेह वाला नहीं है । २म० ने इसे ✓ दश पातु से मान कर इस का अर्थ 'सर्वद्रव्य, सर्वपूजनीय और द्रव्य' ग्रहण किया है । इस अर्थ की पुष्टि ब्राह्मणों के यजुःश्रुत के अर्थों से होती है ब्रह्म, कण्डल गाय आदि को ही पशु नहीं कहा है प्रस्तुत अग्नि, सखिता, वैश्रदेव शम्भ, देवी विष्णु, सोम, श्री, यश, शक्ति, वृषा, प्रजापति की कल्याणी वा, अन्न, वायु, गन्ध, धान, इष्टा, प्राण, आत्मा, यजमान, वज्र, मान्द, उक्थ, ऊत, द्यर, यरु आदि को भी पशु कहा है ।

महिनापाठ ✓

पदपाठ

३७. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवासु  
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।  
ते ह नाकं महिमानः सचन्त  
यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः  
॥ १६ ॥

यज्ञेने । यज्ञम् । अयजन्तु ।  
देवाः । तानि । धर्माणि ।  
प्रथमानि । आसुन् । ते । ह ।  
नाकेम् । महिमानः । सचन्त ।  
यत्र । पूर्वं । साध्याः । सन्ति । देवाः ।

॥ १६ ॥

सायणभाष्यम्—पूर्व प्रयत्नेनोक्तमर्थं व्युत्पन्नं दर्शयति । देवा प्रजापति प्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सवरूपेन यज्ञं यथोक्तयज्ञरूपेण प्रजापतिम् अतएव पूजितवन्त । तस्मान् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्भूषिणारणा धारकाणि प्रथमानि सुरयानि जानन् । एतावता सृष्टप्रतिपादकगुरुमागारं सप्रहीत । अमोषासनतत्कल्पानुनाम्बमागारं सप्रयते । यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाथे पूर्वं साध्या पुरातना विराड्भुवाम्नि साध्या द्या सन्ति तिष्ठन्ति तन् नाकं विराट्प्राप्तिरूप स्वर्गं ते महिमानं तदुपासना महात्मान सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ १६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ देवा ] देवी न [ यज्ञेन ] ( पुरुषरूप ) यज्ञमय ( हवि ) में [ यज्ञम् ] ( सृष्टि—) यज्ञ का [ अयजन्त ] सम्पादन किया ।

[ तानि ] वे [ धर्माणि ] नियम [ प्रथमानि ] प्रमुख [ भासन् ] हो गए । [ ह ] निश्चय से [ ते ] वे [ महिमानः ] ( प्रमुख धर्म रूप ) कीर्तियां [ नाकम् ] ( उम ) सुखमय ( मोक्षस्थान ) में [ सचन्त ] विद्यमान हैं [ यत्र ] जहाँ [ पूर्वे ] पुराने [ साध्याः ] सृष्टि के साधक [ देवाः ] देव [ सन्ति ] विद्यमान हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणियाँ—१. देवाः—सृष्टि की उत्पादक शक्तियों—पुरुष के मन में कामनारूपी यज्ञमय बीज, अप्रकृत सलिल आदि । सा०—प्रजापति के प्राण-रूप देव ।

२. यज्ञेन—सा०—मानस यज्ञ । इत्त०—ज्ञान यज्ञ ( यमा० ) ; स्तुति प्रार्थना उपासना आदि पूजन से ( ऋभाभू० ) । सूक्त के वर्णन से यह पद 'पुरुष' का निर्देश करता प्रतीत होता है । परन्तु यह पुरुष विराज् ही वा अस्वा-कृत परम पुनप । विराज् तो वह सृष्टि ही है । पहले परम पुनप को ही यज्ञ की हवि = सामग्री बनाया गया है । उन्हीं से सब उत्पत्ति बतला गई है । यह उत्पत्ति 'विराज्जायत' का व्याख्यान कर्ही जा सकती है । अतः अनुवाद में इस का अर्थ 'पुरुष रूप यज्ञमय हविस्' किया गया है । पाठ० सूक्त० १४ में यज्ञपद पर टिप्पणी भी देखें ।

३. यज्ञम्—मं०—विस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में विष्णु को यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है वैसे ही यहाँ पुरुष को भी यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है । सा०—यज्ञस्वरूप प्रजापति । इत्त०—यज्ञनीय पूजनीय परमेश्वर । इन दोनों में अयजन्त को देवपूजा के अर्थ में लिया है । यद्यपि ये अर्थ अनुचित नहीं, तो भी प्रकरण की दृष्टि में यहाँ हिन्दी अनुवाद का अर्थ—सृष्टियज्ञ अधिक उपयुक्त रहेगा । ✓ यज्ञ् धातु का अर्थ संगतिकरण भी होता है अतः अयजन्त = किया ।

४. तानि—इस में पूर्व पाद—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' में वर्णित धर्मों = नियमों की ओर ही निर्देश माना जा सकता है । सा० ने 'प्रसिद्ध जगद्रूप विकारों के धारक धर्म' लिख कर इस भाव का प्रकाशन किया है । पाद १ में

ये धर्म केवल 'देवाः' पद से ही निर्दिष्ट माने जा सकते हैं। दस० ने तानि में अयजन्त के भाव का निर्देश माना है।

५. धर्माणि—सा०—धारक । दस०—धारणात्मक ( यथा० ); करने योग्य ( ऋभाभू० १६४ ) । यह पद √ घृ से बनता है । अतः धारक नियम, शक्तिया आदि ।

६ प्रथमानि—√ प्रथ् मे । अतः विस्तृत, प्रमुख । दस०—१. अनादि-भूत मुख्य । २. सत्र क्रमों का आदि में करने योग्य ( ऋभाभू० ) । पहला अर्थ अधिक सतत है ।

७. नाकम्—सा०—विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग । दस०—२. दुःखविहीन मुक्तिपुत्र २. सर्वदुःखरहित परमेश्वर ।

८. मुद्दिमानं—सा०—प्रजापति के उपासक महात्मा जन । दस०—महत्तर से युक्त । विद्वान्, पूज्य । मै०—सम्भवतः यह में निहित शक्तियों ।

( 11 ) यह पद √ मद् से बनता है । अतः पूजनीय, महान् । इस का विशेषण पद 'ति' पूर्वपाठस्य तानि का ही निर्देशक ही सकता है । अतः हिन्दी अनुवाद में ऊपर वर्णित 'प्रमुख धर्म रूप कीर्तियों' अर्थ ग्रहण किया गया है ।

९. सूचन्त—√ सूच् से लट् प्रथम पु० बहुवचन का अट् से हीन रूप । प्राप्त होता है, मित्नी है, नियमान है ।

१०. चर्त्र—सा०—विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग । दस०—मीश । यह पूर्वपाठस्य 'नामन्' की ओर संकेत करता है ।

११. पूर्वं साध्या देवा—सा०—पुरातन विराट् की उपासना के साधक देवता । दस०—साधनों में युक्त ( याग- ) साधन कर लेने वाल प्राचीन देदीप्यमान विद्वान् । मै०—प्राचीन साध्य, देवता । ऊपर मन्त्र ७ में साध्या, पर टिप्पणी भी देखें । यह पद √ साध् से बनता है । अतः साधक । इसे 'देवाः' से घृयक लेने के लिए मन्त्र में कोई समुच्चय बोधक पद नहीं है । अतः इसे 'देवाः' का विशेषण बनाया गया है ।



संहितापाठः

पदपाठः

३८.

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च  
विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रै ।  
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति  
तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानुमग्रै ॥

य० ३१।१७ ॥

अद्भ्यः इत्युत्सम्भ्यः । सम्भृतः इति  
सम्भृतः । पृथिव्यै । रसात् । च ।  
विश्वकर्मणः इति विश्व-  
कर्मणः । सम् । अवर्त्तत । अग्रै ।  
तस्य । त्वष्टा । विदधदिति वि-  
दधत् । रूपम् । एति । तत् ।  
मर्त्यस्य । देवत्वमिति देवत्वम् ।  
आजानुमित्याऽजानम् । अग्रै ॥

य० ३१।१७ ॥

सहीधरभाष्यम्—“अद्भ्यः सम्भृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थाय”  
(१।३।६।२।२०) इति पट् कण्ठिका उत्तरनारायणम् । उपान्त्यं द्वे अनुष्टुभौ शेषा-  
न्विष्टुभआदित्यदेवत्याः । पूर्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्रातः स्मृते ॥ ३

अद्भ्यो जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च । पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपञ्चको-  
पलक्षकम् । भूतपञ्चकाद् यो रसः सम्भृतः पुष्टः । तथा विश्वं कर्म यस्य  
विश्वकर्मणः कालस्य रसात् प्रीतेर्यो रसोऽग्रे प्रथमं समवर्त्तत समभवत् ।  
भूतपञ्चकस्य कालस्य च सर्वं प्रति कारणत्वात् पुरुषमेधयाजिनो लिङ्ग-  
शरीरे पञ्च भूतानि तुष्टानि कालश्च । ततस्तुष्टेभ्यः कश्चिद्रसविशेषफलस्य  
उत्तमजन्मप्रद उत्पन्न इत्यर्थः । तस्य रसस्य रूपं विदधद् धारयंस्त्वष्टा-  
दित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति । अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य  
पुरुषमेधयाजिन आजानदेवत्वं मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण । द्विविधा देवाः  
कर्मदेवा आजानदेवाश्च । कर्मणोऽकृष्टेन देवत्वं प्रातः कर्मदेवाः । सृष्ट्यादा-  
वुत्पन्ना आजानदेवाः । ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः—“ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स  
एक आजानदेवानामानन्दः” (वृ० ४।३।३३) इति श्रुतेः सूर्यादय  
आजानदेवाः ॥ १७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ च ] और [ पृथिवी ] सुविद्युत सृष्टि ( रचना ) के लिए [ अद्भ्य ] ( आदिकारण ) जलों से [ सम्भृत ] निकाले हुए [ विष-कर्मण ] सम्भव ( रचना रूप ) वर्ष में ममर्थ [ रसात् ] सार से [ अग्ने ] सृष्टिरचना के समय [ समवर्तेत ] ( यह सृष्टि ) उत्पन्न हुई । [ स्वष्टा ] सुखरूप [ तस्य ] उस ( दर्शमान जगत् ) को [ रूपन् ] रूप [ विदधत् ] देते हुए [ एति ] ( मर्वर ) पहुँचा हुआ है । [ अग्ने ] आरम्भ से [ तद् ] यह ही [ मार्त्यस्थ ] मार्गागल प्राणियों में [ आजानवत् ] मरु और से ( ममस्त वन्द्य वमों आदि वा ) उत्पादक [ देवत्वम् ] दिव्य गुण ( है ) ॥ १७ ॥

टिप्पणियाँ—१ अद्भ्य सम्भृत पृथिवी—भाष्यकारों का इस मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार है—उम—पृथिवी को उत्पत्ति के लिए जलों से रस निकाल कर पृथिवी बनाई । इन्हीं ने इसे उपलक्षण मान कर जल आदि को सृष्टि का व्याख्यान किया है । विश्वरमा परमेश्वर है जिस के सामर्थ्य में कारण रूप जगत् धाररूप जगत् से भी पहले विद्यमान रहता है । उसी कारणरूप जगत् के अंशों में सृष्टिरचयिता इस जगत् को रचता है । सृष्टि के आदि में वह मनुष्यों को अग्ने वमों से मुक्त प्राप्त करने के लिए वद की आश देता है (—देवत्वमाजानवमे) ( जमानु० ) ।

(ii) उम—जलों और पृथिवी के रस से उत्पन्न विश्वरमा से पूर्ण उपयोग रूप में विद्यमान प्रजापति अग्ने एसाय रूप मार्त्यलोके में प्राप्त प्रभुत्व है । मही—उम और पृथिवी आदि पांच भूतों और काल के मरु को धारण करता हुआ सूर्य प्रतिदिन उदय होता है । वह आजान देव = मुख्य देव है ।

(iii) उम और महीअग्ने ने पृथिवी को पश्चिमार्थ में चतुथा माना है । हिन्दी अनुवाद के अनुसार ऐसा मानना अनापेक्षक है । यहाँ पर तादर्थ्य चतुर्थों का प्रयोग है । पृथिवी-उम  $\sqrt{}$  प्रथम से बनता है । अद्भ्य को उम भाष्यकारों ने पांच भूतों का चोत्तर माना है । यदि इन जलों की आदिकारण 'मल्लि' मान लें तो इसे उपलक्षण मानने की आवश्यकता न रहेगी । सम्भृत वा रसात् से सम्भव सीधा और रसानादिक है । अतः इसे पश्चिमन्त लिखा गया है । इसे प्रथमान्त मान कर भाष्यकारों की योजना सिद्ध है ।

२. विश्वकर्मणः—स्युत्यति और मूल अर्थ में तो सब भाष्यकारों का एक मत है, परन्तु व्याख्यान में भेद है। वे सब इसे स्वतन्त्र विशेष्य पद मानते हैं। परन्तु प्रकरण और मन्त्र की रचना में यह रसात् का विशेष्य और पञ्चम्यन्त मालूम पड़ता है।

३. स्वर्षा—भाष्यकारों ने इस का अर्थ सूर्य किया है। परन्तु यहां पुनरुक्त रूप सामग्री से सृष्टि की रचना का वर्णन किया गया है। अतः सूर्य अर्थ अप्रासंगिक है।

४. तद्—दु० क०—एकं सत् ( ऋ० १।१६४।४६ ) और तदेकम् ( ऋ० १०।१२९।२ )।

५. आजानम्—मही०—आजान श्रेणी के अर्थात् प्रमुख श्रेष्ठ देवता। दस०—समन्ताजनानां मनुष्यागामिदं कर्त्तव्यं कर्म—आ + जन से। हिन्दी अनुवाद में इसे आ + √जन् ( आ समन्तात् जनयति कारयति कर्त्तव्यं ) से लिया गया है।

६. तस्त्वं—√तन् से तद् शब्द का षष्ठ्यन्त रूप। सामान्यतः यह निर्देशक सर्वनाम के रूप में आता है। यहां यह 'पृथिव्यै' पद से संकेतित सृष्टि-रचना का चोत्क है। इसे मर्त्यस्य के साथ भी जोड़ा जा सकता है।

संहितापाठः

पदपाठः

३६. वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-  
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।  
तमेव विदित्वातिं मृत्युमेति  
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

च० ३१।१८ ॥

वेद । अहम् । एतम् ।  
पुरुषम् । महान्तम् ।  
आदित्यवर्णमित्यादित्यऽवर्णम् ।  
तमसः । परस्तात् । तम् । एव ।  
विदित्वा । अतिं । मृत्युम् । एति ।  
न । अन्यः । पन्थाः । विद्यते ।  
अयनाय ॥ च० ३१।१८ ॥

महीधरभाष्यम्—एत महान्तं मर्षोत्कृष्टं पुष्पं सूर्यमण्डलस्थमहं  
वेद जानामीति ऋषेर्बचनम् । पीड्यम् ? आदित्यवर्णमारादित्यस्यैव वर्णो  
यस्य तम् । उपमान्तराभवान् स्तोत्रम् । तथा तमस परस्ताद् दूरतरम् ।  
तमोरहितमित्यर्थः । तम शब्देनाविद्योन्वयते । तमेवादित्य विदित्वा  
ज्ञात्वा मृत्युमन्त्रे यनिक्वामनि परं ब्रह्म गच्छति । अयनायाश्रयायान्य. पन्था  
मार्गो न विद्यते । सूर्यमण्डलान्त पुरुषमात्मरूपं ज्ञात्वा मुक्ति ॥ १८ ॥

द्विती अनुवाद—[ अहम् ] में [ एतम् ] इम ( ऊपर वर्णित ) [ महा  
न्तम् ] महान [ आदित्यवर्णम् ] सूर्य ने ममान तेज वाले [ तमस. ] अन्धकार  
के [ परस्तात् ] परे [ पुराणम् ] पुराण को [ वेद ] जानता हूँ । [ तम् ] उसे  
[ एव ] ही [ विदित्वा ] जान कर [ मृत्युम् ] मृत्यु से [ अति एति ] पार कर  
जाते हैं । [ अयनाय ] माझ के लिए [ अन्य ] दूसरा कोई [ पन्था ] मार्ग  
[ न विद्यते ] नहीं है ।

टिपणिया—एते पुराणम्—मही०—मूर्धमण्डलस्थ पुरुष । उरः, दम०—  
परमेश्वर । यह अर्थ ही प्रकरणाचित है क्यों कि एतम् में पूर्व मन्त्रों में वर्णित  
पुरुष की ओर निर्देश है ।

२. आदित्यवर्णम्—वर्ण—√ व से व्युत्पन्न होने के कारण 'तेज' का पर्याय  
माना जा सकता है । रम मा पदार्थों का स्वरूप = तेज हा है । शत पदार्थों  
में आदित्य का मन ही सर्वाधिक होता है । यह पद अग्नि ( न + √ दो  
अव्ययान्ते न ) का तद्धितप्रत्ययान्त रूप है । अर तेज की अतिारंभ, अ-  
अप्यन्ता और सतय का भी श्रोतक है । दस० ने इस का अर्थ 'सर्वत्राश  
विशान्तरूप' दिया है ।

३. तमस—यह अन्धकार, अज्ञान, सायाग्निरन्धन और दुःख आदि  
का है ।

४. अयनाय—मही०—आधय, शरण के लिए । दस०—१ व्यावहारिक  
और पारमार्थिक सुख के लिए ( ऋभाभू० ) । २-व्यापक स्थान मा  
के लिए ।

संहितापाठः

पदपाठः

४०. प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्त-  
रजायमानो बहुधा वि जायते ।  
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरा-  
स्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

प्रजापतिरिति प्रजापतिः ।  
चरति । गर्भे । अन्तः ।  
अजायमानः । बहुधा । वि ।  
जायते । तस्य । योनिम् । परि ।  
पश्यन्ति । धीराः । तस्मिन् ।  
ह । तस्थुः । भुवनानि । विश्वा ॥

च० ३१।१९ ॥

च० ३१।१९ ॥

महीधरभाष्यम्—यः सर्वात्मा प्रजापतिरन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति । यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते सायथा प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते । धीरा ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेर्योनिं स्थानं स्वरूपं परिपश्यन्ति । “अहं ब्रह्मास्मि” इति जानन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थुः स्थितानि । सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ प्रजापतिः ] पुरुष ही [ गर्भे अन्तः ] उत्पन्न वस्तुओं के अन्दर [ चरति ] विचरण करता है । [ अजायमानः ] उत्पन्न न होने पर ( भी ) [ बहुधा ] अनेक प्रकार से विविध रूपों में [ जायते ] उत्पन्न होता है । [ धीराः ] धैर्यशाली जन [ तस्य ] उस के [ योनिम् ] ( जगत् के उत्पादक ) स्वरूप को [ परिपश्यन्ति ] देखते हैं । [ ह ] अवश्यमेव [ विश्वा ] सम्पूर्ण [ भुवनानि ] पदार्थ [ तस्मिन् ] उस में [ तस्थुः ] स्थित हैं ॥

टिप्पणियाँ—१. गर्भे अन्तः—मही० धीर दत्त० ( यमा० ) ने इस का अर्थ ‘गर्भस्थ जीवों के अन्दर’ लिखा है । पिछले समस्त वर्णन में पुरुष को सर्वव्यापक धीर समस्त उत्पन्न पदार्थों को सामग्री बताया गया है । वही सर्वव्यापकता यहाँ अभिप्रेत प्रतीत होती है । श्रुभामू० पृ० १६७ भी देखें ।

२ बहुधा विनायने—मही०—वार्य रूप में उत्पन्न होता है । दल०—उम परमेभर की सामर्थ्य से अनेक प्रकार से विशेष रूप में उत्पन्न होता है । इन्हीं न दूसे जगत् से सम्बद्ध किया है ।

सहितापाठ

पदपाठ

४१. यो देवेभ्यः ऽ आतपति  
यो देवानां पुरोहितः ।  
पुरो यो देवेभ्यो ज्ञातो  
नमो रुचाय ब्राह्मणे ॥

यः । देवेभ्यः । आतपतीत्या-  
ऽतपति । यः । देवानाम् ।  
पुरोहितः ऽ इति पुरः ऽ हितः ।  
पुरः । यः । देवेभ्यः । ज्ञातः ।  
नमः । रुचाय । ब्राह्मणे ॥

य० ३१ । २० ॥

य० ३१ । २० ॥

महीधरभाष्यम्—य प्रजापतिरादित्यरूपो देवेभ्योऽर्थात् आतपति गीतते । यश्च देवानां पुरोहित सर्वकार्येष्वपि नीत । यश्च देवेभ्य सका शान्त्पूर्वो जात प्रथममुत्पन्नस्तस्मा आदित्याय नम । कीदृशाय ? रोचते ऽसौ रुचस्तस्मै शीष्यमानाय । 'इगुण'—( पा० ३ । १ । १३९ ) दत्त व्यत्यय । तथा ब्राह्मणे ब्राह्मणोऽपत्य ब्राह्मि । इति टिलीप । मन्त्रायय भूताय वा ॥ १० ॥

हिन्दी अनुवाद—[ य ] जो [ देवेभ्य ] देवां के लिए [ आ तपति ] भ्रम और तप करता है, [ य ] जो [ देवानाम् ] देवों में [ पुरोहित ] अग्र गण्य है, [ य ] जो [ देवेभ्य ] देवां से [ पुरः ] पहले [ जात ] विद्यमान था, ( उक्त ) [ रुचाय ] तंत्रणी प्रकाशमान [ ब्राह्मणे ] ब्रह्म के स्वरूप के लिये [ नमः ] नमस्कार है ॥

टिप्पणियाँ—१ दुर्गम्य—मही०—देवताओं के लिए । २ स०—विद्वाना के लिए । यदि इस वा अर्थ 'समस्त प्रकाशमान पदार्थ' किया जाए तो मूल भाव के अधिक समीप रहेगा । समस्त पदार्थों में प्रजापति की ही ज्योति है । यमा० में दम० ने यही अर्थ लिया है ।

२. पुरोहितः—मही०—तत्र कामों में आगे किया हुआ । दस०—  
१. विद्वानों को मोक्ष में सर्वसुखों से युक्त करने वाला । २. पहले से ही हित के  
लिए ( पदार्थों के ) बीच में स्थित—सूर्य का विशेषण मानते हैं । अक्ट-इन्द्र  
रूप में देवों के आगे धर्तमान ।

३. नमो रुचाय् ब्राह्मणे—मही०—दीप्यमान ब्राह्मण के पुत्र या अवयव  
आदित्य के लिए प्रणाम । दस०—१. रुचिकर ब्राह्मण और ब्राह्मणवक्त्र के लिए प्रणाम  
( ऋभाम्० ) ; २. रुचि कराने वाले परमेश्वर की मन्तान के तुल्य सूर्य से अन्न  
( = नमः ) उत्पन्न होता है ।

(ii) मन्वस्य 'सः' से पिछले मन्त्र के प्रजापतिः का परामर्श होता है ।  
सूर्य का वर्णन अप्रासंगिक है । अतः हिन्दी अनुवाद । ब्राह्मणः स्वरूपमिति  
ब्राह्मिः, तस्मै ।

संहितापाठः

पदपाठः

४२. रुचं ब्राह्मं जनयन्तो	रुचम् । ब्राह्मम् जनयन्तः ।
देवाऽअग्ने तदनुवन् ।	देवाः । अग्ने । तत् । अनुवन् ।
यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यात्	यः।त्वा।एवम्। ब्राह्मणः। विद्यात्।
तस्य देवाऽअमन्वशे ॥	तस्य । देवाः । अमन् । वशे ।
य० ३१ । २१ ॥	य० ३१ । २१ ॥

सहीधरभाष्यम्—देवा दीप्यमानाः प्राणा रुचं शोभनं ब्राह्मं ब्राह्मणो-  
ऽपत्यमादित्यं जनयन्त उत्पादयन्तोऽग्ने प्रथमं तद् वचोऽनुवन् उचुः ।  
“ब्राह्मोऽजार्ता” ( पा० ६ । ४ । १७१ ) इति निपातः । तन्दिमन् आह । यो  
ब्राह्मणो, हे आदित्य, त्वा त्वामेवमुक्तविधिनोत्पन्नं विद्याजानीयात् तस्य  
ब्राह्मणस्य देवा वशे अमन् वदया भवन्ति । आदित्योपासिता जगत्पूज्यो  
भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ रुचम् ] प्रकाशमान रुचिकर [ ब्राह्मम् ] ब्राह्म, जीव  
आर प्रकृति के स्वरूप के ज्ञान को [ जनयन्तः ] प्राप्त करने वाले [ देवाः ]

देव पुरुष [ तन् ] उम ( ब्रह्म ज्ञेय प्रकृति क म्बरूप फे शान ) को [ अग्ने ] श्रेष्ठ [ देवा ] देवपुरुष [ अमृतम् ] न्यायमान करत आए हैं । [ य. ] को [ ब्राह्मण ] मनुष्य [ स्या ] समन करने वागर [ एवम् ] इस प्रकार प्राप्त शान को [ विद्याम् ] ज्ञान ले [ देवा ] देव पुरुष [ तस्य ] उम की [ वसो ] कामना में रहत हैं ॥

टिप्पणिया—१ ब्राह्मणम्—ब्रह्मण इत् ( स्वरूपम् ) । ब्रह्म √ बृह् से बनता है। ब्राह्मणग्रन्था में ब्रह्म न वाक्, मन्य, शक्त, मन, हृदय, चक्षु श्रोत्र, प्रणव, मनोवार्त, इह-नात, आनय, अग्नि, यज्ञ, प्राण विद्युत्, पण, पलाय, सव, अन्त-स्थि आदि अर्थ लिए हैं । अत यह पञ्जीय प्रकृति और पुरुष तानो का वाचक है । महो० ने इस का अर्थ आन्तर्य और दस० गेब्रह्मोपासक किया है ।

२ देवा—मही०—दीप्यमान प्राण । उमट—तेजस्यायागः । दस०—विद्वान् ।

३ तन्—यह ब्राह्मण न लिए आया है । दस०—ब्रह्म, ब्रह्म और प्रकृति का स्वरूप ।

४ अग्ने—पहले । उ० २ । २/ में इस की व्यावृत्ति-अगति मन्वृत्ति इति अग्रम् - √ अग् जाना से भी गई है । अग गतिशील, अग्रगामी, श्रेष्ठ । उ० २।१८ पर दस० भी देखें । दस० म '०अग्ने०' पाठ है । अन्यत्र '०अग्ने०' पाठ है ।

५ ब्राह्मण—ग० २।२।१।४० म कहा है—तरमादपि ( दीक्षित ) राजन्य वा वैश्य वा ब्राह्मण इत्यत्र ब्रह्मण ब्रह्मणा हि जायत यो यज्ञाज्जायत । इस क अनुसार ताना ऋण ब्राह्मण है । इस का पुष्टि शतपथब्राह्मण में उपनयनविधि के वर्णन में मनुष्य मात्र क लिए ब्राह्मण पद क प्रयोग से हाता है । ऐ० ७।१९ में ह्युद् प्रजा का ब्राह्मण कहा गया है । श० १३।४।१।३ में प्रत्येक हवन करने वाला ब्राह्मण होता है । दस० ने ऋभासू० में ( हिन्दी ) में ब्राह्मण का अर्थ 'मनुष्य' ही लिया है । विद्वंसमाया म प० मधुसूदन शर्मा भी यहा मानते हैं ।

६ स्वा—यह सुष्मद् का अन्वादेश रूप है । सुष्मद् √ सुप् सेवा करना से बनता है । अत संघर्ष ।

७ देवा अमृतं वसो—मही०—देवता वस में हो जाने हैं, वह पूजनीय हो जाता है । दस०—इन्द्रिया यग म हा जाती हैं । यमा० में 'देवा' का अर्थ विद्वान् लिया गया है ।



८. 'वशै'—को √ वश् कामना करना से । अतः कामनाओं के वशीभूत होना, अनुकूल होना । देखो संशकौको० ।

९. अस्त्—√ अस् + लङ् प्रथम पु० बहुवचन । अडागम का लोप है ।

१०. एवम्—भाष्यकारों ने इत का अर्थ 'इत प्रकार' किया है । यह √ इ जाना से बनता है । अतः गति, प्राप्ति और ज्ञान का चोतक हो कर 'इय प्रकार प्राप्त ज्ञान' अर्थ को प्रकाशित कर रहा है ।

संहितापाठः

पदपाठः

४३. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्याश्च  
होरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम्-  
शिवनो व्यात्तम् । इष्णन्निपाणामुं  
मंडपाण सर्वलोकं मंडपाण ॥

य० ३१।२२ ॥

श्रीः । च । ते । लक्ष्मीः । च ।  
पत्न्याँ । अहोरात्रेऽइत्यर्थः । रात्रे ।  
पार्श्वेऽइति पार्श्वे । नक्षत्राणि ।  
रूपम् । अश्विनोँ । व्यात्तमिति  
विऽआत्तम् । इष्णन् । इपाण् ।  
अमुम् । मे । इपाण् । सर्वलोक-  
मिति सर्वलोकम् । मे । इपाण् ॥

य० ३१।२२ ॥

सहीधरभाष्यम्—ऋषिरादित्वं श्रुत्वा प्रार्थयते । हे आदित्य, श्रीलक्ष्मीश्च  
ते तव पत्न्याँ जायास्थानीये, त्वद्दृश्ये इत्यर्थः । यया सर्वजनाश्रयणीयो  
भवति सा श्रीः । श्रीयतेऽनया श्रीः सम्पदित्यर्थः । यया लक्ष्यते नृदयंत  
जनैः सा लक्ष्मीः । सौन्दर्यमित्यर्थः । अहोरात्रे तव पार्श्वे पार्श्वस्था-  
नीये । नक्षत्राणि गगनरास्तारास्तव रूपम् । तवैव तेजसा भासमानत्वात्—  
"तजसां गोलकः सूर्यां नक्षत्राण्यमृगगोलकाः" इति ज्योतिःशास्त्रोक्तेः । "अश्विनोँ  
यात्रापृथिव्यौ । इमे हीदं नर्ममस्तुयाताम्" इति श्रुतेः । य इन्द्रशस्तं त्वां याचे  
इष्णन् कर्मफलमिच्छन् सन् । इपाणेच्छ । 'इपु इच्छायाम्' विकरणव्यत्ययः ।  
यद्वा 'इप आभीक्ष्ण्ये' क्रयादिः । अवेच्छार्थः । किमेपणीयं तत्राह । अमुं पर-

लोक मे ममेपाण मम परलोक. समीचीनोऽस्तित्यतीच्छा । अमोघेच्छ-  
त्वानिष्टं भवतीत्यर्थ । सर्वं मे ममेपाण सर्वलोकैकात्मकोऽहं भवेयमित्यीच्छे-  
त्यर्थ । मुक्तो भवेयमित्यर्थः । “गर्भं तस्मिन् ब्रह्म” (छान्दोग्योप० ३।१।४।१)  
इति रामश्रुत ॥

श्रामन्महीधरकृते चट्टदीप मनादरे ।

नरमेधाध्याय एष एरुनिशोऽयमीरितः ॥

हिन्दी अनुवाद—[ च ] और [ श्री ] गोभा [ च ] और [ लक्ष्मी ]  
गम्पन्नता [ ति ] तुम्हारी [ पत्नी ] शक्तिया ( हे ), [ अहोरात्रे ] दिन और रात  
[ पाश्चै ] पकड़ने वाली ( अर्थात्—नाशक शक्तिया ) ( हे ), [ नक्षत्राणि ]  
नक्षत्र [ रूपम् ] तत्र ( हे ), [ अधिर्ना ] अधिदेवता ( शुरुंग और पृथिवीलोक )  
[ व्यात्तम् ] विस्तार ( हे ) । [ इष्णन् ] ( कल्याण करने के ) इच्छुक [ इषाण ]  
( मेरा कल्याण ) चाहें । [ मे ] मेरे लिए [ अमुम् ] उम ( नाशहीन परोप-  
न्याय ) को [ इषाण ] दें । [ मे ] मुझे [ सर्वलोकम् ] ममस्त प्रसादा [ इषाण ]  
प्रदान करें ॥ २२ ॥

टिप्पणिया—१ पत्नी—अग्नि, वरुण आदि की जो पत्निया बतलाई गई हैं  
वे उन की शक्तिया हैं । लोक में भी अनुभव किया जाता है कि अनुकूल पत्नी  
सहायक, निराशरक शक्ति होती है और प्रतिकूल पत्नी हान, निराशा, अयनक्ति  
आदि लाने वाली शक्ति होती है । यह शब्द यज्ञयोग में पति शब्द से नष्ट  
लगा कर बनाया जाता है । अतः यहाँ ‘पशुमील परोपकाररत रक्षक शक्तिया’  
भाव होता है ।

२. पार्थे—यह पद √ पृष्टम् छूना से बनता है । इष्टने—पकड़ने वाली,  
कलावट डालने वाली, अतः नाशक शक्तिया ।

३. अधिर्ना—ब्राह्मणग्रन्थों में इस का अर्थ याज्ञिकशक्ति भी दिया गया है ।  
पाठ० में सुम० ६१ में अधिर्ना पर टिप्पणी देखें ।

४ व्यात्तम्—वि + आ + √ दा + क्त । विशेष रूप से चारों ओर से  
ग्रहण करने वाला, अर्थात् सब ओर फैला हुआ, खुला हुआ ।

श्रीयुत ला० रामस्वरूप गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र,  
 श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य, श्रीयुत डा०  
 फत्तहसिंह के शोधशिष्य आचार्य डा० सुधीरकुमार  
 गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री  
 प्रभाकर स्वर्णपदकी द्वारा सम्पादित,  
 संकलित और रचित वेदलावण्य  
 में विष्णु, इन्द्र और पुरुष  
 सूक्तों का शाब्दिक

हिन्दी अनुवाद और मुद्राशिनी दिप्पणियां समाप्त हुईं ।



## परिशिष्ट १

### संहितापाठ से पदपाठ

#### पदपाठ का स्वरूप

१. पदपाठ को वेदमन्त्रों का व्याख्यान कहा जा सकता है। इस के रचयिता शाक्य को एक दृष्टि है जिस के अनुसार वे पदच्छेद करते हैं, इति और अग्रह लगाने हैं। पदकार क अर्थों को जानना सम्भव नहीं है। उ अनुमान का प्रिय हो रहे जा सकते हैं। अतः विछेदे भाषकारों ने अनेक बार शाक्य के पदच्छेद को खीनार न कर के अपना पदच्छेद दिया है। अनेक बार 'इति' और 'अग्रह' के प्रयोग में नियमों की उपेक्षा की जाती है। ऐसे कतिपय स्थलों पर एक से अधिक पदच्छेद सम्भव हैं, यथा 'चन्द्रमाः'। शाक्य के अतिरिक्त राग और दयानन्द स्वामी उ भी पदपाठ मिलते हैं।

#### संहितापाठ से पदपाठ लिखना

२. संहिता पदों ने बनती है—पदप्रकृतिः संहिताः अतः पदों का ज्ञान परम आवश्यक है। इसी निमित्त पदपाठ किया जाता है। संहितापाठ में एक अर्थचर्च में सत्र पद एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। उन का एक दूसरे पर प्रभाव रहता है। उन में सन्धि के कारण स्वर और रूप में परिवर्तन हो जाता है। पदपाठ में इन सत्र पारस्परिक प्रभावों को दूर कर दिया जाता है। प्रत्येक पद को स्वतन्त्र रूप में दूसरे पदों से पृथक् पूर्ण विराम लगा कर अथवा पूर्ण विराम के बिना ही दिखाया जाता है।

१. वेमाप० ९। ४-७, २९। ४, ६-२५ और उन में निर्दिष्ट परिधि।

२. यही, ९। १२-१६।

३. मसं०-३४ में इस पद पर टिप्पणी देखें।

पारस्परिक प्रभाव से उत्पन्न स्वरों के परिवर्तन को दूर कर दिया जाता है, प्रत्ययों के आगे 'इति' लगा दी जाती है और समासों, प्रकृति-प्रत्यय और उपसर्गों और क्रियाओं आदि के कतिपय स्थलों पर अवग्रह ( ऽ ) लगा दिया जाता है ।

३. उदाहरण के लिए—

१. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि । ( ऋ० २ । १२ । ४ )

२. श्वनीव यो जिगीवाँ लक्षमादत् । ( ऋ० २ । १२ । ४ )

३. यं क्रन्दसी संयती विरुयेते । ( ऋ० २ । १२ । ८ )

इन तीन मन्त्रभागों को लें । इन का पदपाठ इस प्रकार है—

१. येन । इमा । विश्वा । च्यवना कृतानि ।

२. श्वनी ऽ ईव । यः । जिगीवान् । लक्षम् । आदत् ।

३. यम् । क्रन्दसी इति । संयती इति समुश्यती । विरुयेते इति विरुयेते ।

४. इन में ये परिवर्तन किए गए हैं—

(१) 'येनेमा' में सन्धिच्छेद किया गया है । सन्धि के कारण यहां दो अनुदात्त वर्ण मिल गये थे । उन में से एक 'ये' उदात्त पहले आने के कारण स्वरित हो गया । अन्य पदों को भी पूर्णविराम लगा कर पृथक् कर दिया है । संहिता में 'श्वा' अनुदात्त दो उदात्तों के बीच में आने से स्वरित नहीं हुआ है । पदपाठ में अगला 'च्य' उदात्त सामने नहीं रहता है । अतः 'वि' उदात्त के कारण पदपाठ में यह 'श्वा' स्वरित के रूप में लिखा गया है

(२) इस में पदों को पृथक् करते हुए श्वनी और इव के बीच में अवग्रह लगाया है । इस में तथा जिगीवाँ लक्षम् में सन्धि छिन्न कर दी गई है । श्वनी में सन्धि से उदात्त और अनुदात्त मिल कर एक उदात्त हो गया था । अब वे पृथक् हो गए—( ई + इ = ई ई ) श्वनीश्चैव । अतः 'इ' स्वरित हो गई है । संहिता में 'यो' उदात्त के कारण 'जि' अनुदात्त स्वरित हो गया था । पदपाठ में दोनों के पृथक् हो जाने से 'जि' अपने मूल अनुदात्त रूप में दिखाया गया है ।

(३) इस में पदों को पृथक् करने के साथ-साथ द्विवचन के ई आर ए के पश्चात् 'इति' लगाई है, तथा उस के पश्चात् पद को आवृत्त कर के अवग्रह

लगाया गया है। स्वर में ये परिवर्तन किए गए हैं—'सी' संहिता में स्वरित 'न्द' के पश्चात् आने से अचिद्धित था, पदपाठ में 'इति' का 'इ' उदात्त सामने आने से अपने चिह्न से चिद्धित कर दिया गया है। संहिता में 'मुम्' अनुदात्त 'न्द' स्वरित के पश्चात् आने से अचिद्धित था। पदपाठ में यह प्रभाव दूर हो जाने से वह अपने चिह्न से चिद्धित हो गया है।

### पदपाठ लिखने के नियम

५. (१) संहिता पाठ की सन्धिवा तोड़ते हुए प्रत्येक पद के आगे पूर्ण विराम लगा-लगा पर उन्हें स्वर के चिह्नों के बिना पृथक्-पृथक् लिख लो। साथ ही जहाँ-जहाँ संहिता में दीर्घ हुआ है, वहाँ-वहाँ उसे हरर कर दो—जैसे, यं स्मा = यम् । स्म ।

(२) इति और अवग्रह लगाने के आगे लिखे स्थलों पर इति और अवग्रह लगा दो।

(३) जिस पद में इति और अवग्रह दोनों को लगाने की आवश्यकता हो उस में पहले इति लगा दो, फिर उसे पुनः लिख पर अवग्रह लगा दो ( ऊपर उदाहरण सख्या ३ देखें )।

(४) कुछ और अन्य स्थलों में भी इति लगा कर पद को पुनः लिखा जाता है। जैसे अकुरियक ( १६० २।१२।४ ) ऐसे स्थलों पर भी पद को पुन लिख लो। इन सग्रह में ऐसा स्थल केवल यही है।

( ५ ) मत्र से पहले अपनी लगाई 'इति' पर स्वर का चिह्न लगाएँ जो 'इति' है।

( ६. ) अब प्रत्येक पद में स्वर लगाएँ। उस में ये बातें ध्यान में रखें—

( i ) पहले पद के उदात्त के कारण अगले पद में यदि स्वरित हुआ है तो स्वरित को अनुदात्त कर दो—यं जिग्गीवान् = य. । जिग्गीवान् ।

१. कई बार इस प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं की जाती है।

( ii ) पहले पद के स्वरित वर्ण के कारण यदि आगे के पद का अनुदात्त पद अचिह्नित हो तो उसे अनुदात्त चिह्न से चिह्नित कर दो—कन्दली संयुती = कन्दली इति । संयुती० । सुधस्थ<sup>१</sup> विचक्रमाणः = सुध ऽ स्वम् । वि ऽ चक्रमाणः ।

( iii ) पहले पद में उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त यदि अगले पद के उदात्त के कारण स्वरित न हो पर अनुदात्त ही हो तो पठ्याठ में उसे स्वरित कर दो—यत्र मायो भूरिश्रृंगाः = यत्र । गार्गः । भूरि ऽ श्रृंगाः ।

( iv ) दो उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों की सन्धि में स्वर का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

( अ ) उदात्त + उदात्त = उदात्त । सः + इति = सेति । वृत्वा + अति = वृत्वाति । मृहिसा + अतः = मृहिमातः ।

( आ ) अनुदात्त + उदात्त = उदात्त । पुरि + अर्भूपत् = पर्यर्भूपत् । अस्ति + इति = अस्तीति ।

( इ ) स्वरित + उदात्त = उदात्त । पुदानि + अक्षीयमाणा = पुदान्वक्षीयमाणा । गुहा + अकः = गुहाकः । अत्र + अह = अत्राह ।

( ई ) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित । वि + अकामत् = व्यकामत् । वि + अकल्पयन् = व्यकल्पयन् । श्राणाः + अस्य = श्राणांस्य ।

( उ ) उदात्त अ वा आ + अनुदात्त स्वर = उदात्त । श्रेधा + उरुगायः = श्रेधोरुगायः । उत + ईम् = उत्तम् ।

( ऊ ) अनुदात्त + अनुदात्त = अनुदात्त । वास्त्नि + उस्मसि = वास्त्नुस्मसि ॥ स्वरित पद मूलतः अनुदात्त ही होता है । अतः स्वरित + अनुदात्त = स्वरित होगा ।

अस्तीति + एतम् = अस्तीत्येनम् । किल + अस्ति = किलासि ।

॥ स्वरित के पश्चात् आने के कारण न्यु, इम और सि अनुदात्त अचिह्नित हैं ।

यदि इस प्रकार के स्वरित के पश्चात् षोडश उदात्त आया हो तो यह स्वरित न च्च कर अनुदात्त हो जायगा—

येन + इमा = येनेमा । यस्य + उरपु = यस्योरपु ।

(८) उदात्त को पहचानने की रीति—कवच में उदात्त अर्चद्धित रहता है । सामान्यत एक पद में एक ही उदात्त होता है । स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्त भी अर्चद्धित रहते हैं । अतः पहले स्वरितों को देख कर उन के पश्चात् आने वाले पदों को अनुदात्त मान लो । जो अर्चद्धित पद शेष उच व सर उदात्त होंगे । जिन स्वरित स्वरित के भाग १ या ३ का अक्ष हो उस से अगला अर्चद्धित अक्ष भा उदात्त होता है ।

(९) स्वरों के चिह्न लगात समय सर + सामान्य नियम—[ (१) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित । (२) उदात्त + अनुदात्त + उदात्त = ऐसे ही । (३) स्वरित + अनुदात्त = स्वरित + अर्चद्धित वर्ण ] का प्रयोग कर ।

(१०) 'इति' के पश्चात् आवृत्त पद में उस का मूल स्वर ही लगाए, अर्थात् 'इति' के स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्त को भी चिह्नित करें—संयुती इति संयुती ।

(११) 'इति' लगाने पर पद के अन्तिम वर्ण पर ह्रस्व 'इति' के 'इ' उदात्त का प्रभाव पड़ता है । उसे व्यक्त करें । (१) श्रद्धंसी इति । श्रद्धयेत् इति । यहा 'सी' अक्षर 'ते' का अनुदात्त के चिह्न से चिह्नित किया गया है । (२) अक्षरिष्यक । यहा पहले 'क' को स्वरित नहा किया गया है ।

(१२) जिन पदों में अक्षरह लगाया जाता है उन में मन्वि तोड़ दी जाती है । जैसे गिरिऽस्या ।

(१३) ज्ञाय सन्धि के कारण उत्पन्न मूर्धन्य पू और णु का क्रमण दन्त्य सू और न् में उद्वल दें । यथा मो पु वरण = मो इति । सु । वरण (अ० ७।८।१२) ॥

पदपाठ से इति लगाने के नियम

१. प्रसूक्त मञ्जुको के आगे इति—

(१) द्विरचन के ई, ऊ अक्षर ए के पश्चात् इति लगाई जानी है । जैसे श्रद्धंसी इति । उरु इति । उच्येते इति ।



( २ ) 'ड' निपात के आगे 'इति' लगाई जाती है । इसे सानुनासिक और दीर्घ भी कर दिया जाता है—ऊँ इति ।<sup>७</sup>

( ३ ) ओदन्त निपातों के आगे 'इति' का प्रयोग किया जाता है—अयो इति ।

( ४ ) जिन पदों के अन्त में सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त ई और ऊ आए हों उन के आगे भी 'इति' लगाई जाती है—सूरसी इति । शयानम् । ( ऋ० ७।१०३।२ ) ।

( ५ ) एकरान्त अस्मे, युष्मे आदि के आगे 'इति' लगाई जाती है—अस्मे इति । ( ऋ० १।९।७ ) । युष्मे इति । ( ऋ० ४।१०।८ ) ।

( ६ ) धोकागन्त सम्बोधनों के आगे 'इति' लगाई जाती है—इन्द्रो इति ( ऋ० १।४३।८ ) ।

७. अन्य पदों के आगे इति—

( ७ ) यदि पद के अन्त में 'र्' को विसर्ग बने हों आंग संहिता में उन के आगे किसी वर्ण के आने से सन्धि से 'र्' न हुआ हो तो पदपाठ में इन विसर्गों के आगे 'इति' लगा कर विसर्गों को 'र्' कर दिया जाता है ।—अन्तरिति ( ऋ० १।६२।९ ) । पुनुरिति ( मंस० २५ ) । परन्तु तु० क० अन्तरश्मि = अन्तः । अश्मि । । वहाँ पर संहिता में ही विसर्गों को 'र्' हो गया है । अतः पदपाठ में इति नहीं लगाई गई है ।

८. अवग्रह लगाने के नियम

१. यदि पूर्व पद में कोई विकार न हुआ हो तो दो पदों के समास वाले पद के पूर्व पद और उत्तर पद के बीच में अवग्रह लगाया जाता है । जैसे गिरि-ऽस्थाः । भूरिऽश्वजाः । सुधऽस्थम् । युक्तऽग्राणः । परन्तु तु०-क०-उभ्यादंतः ।

२. द्वन्द्व समासों को अवग्रहीत नहीं किया जाता है । जैसे, साश्वानामश्वने इति । अजाययः ।

३. 'इव' को उस से पहले आने वाले पद से अवग्रहीत किया जाता है ।—श्वप्नीऽइव । विजऽइव ।

० कुछ संस्करणों में ऊँ इति, ऊम् इति लिखा मिलता है । पा० १।१।१८—'ऊँ' देखें ।

४ उपसर्गों को गलतों और कृदन्त पदों से अलगहीत किया जाता है ।  
विःप्रमणेषु । प्रःसर्वतम् । प्रः ५ कुपितान् । अपः ५धा । म्मः ५शृक् । सुः ५ तिप्र ।  
मुः ५ द्विभि । आशोर्हन्तम् निःसृष्ट । विः ५श्राट् । सम्ः ५श्रुतम् । परिः ५ घर्ष ।  
सम्ः ५ इर्ष ।

५ प्रधान वाक्य में उपसर्गों को क्रियाओं से पृथक् करता जाता है—अति ।  
अतिष्ठत् ( मस० २२ ) । वि । अक्रामत् ( मस० २५ ) । अति । अरिच्यत्  
( मंस०—२६ ) ।

६ आश्रित ( या गीग ) वाक्यों में उपसर्गों को क्रियाओं से अलगहीत  
किया जाता है । —विः ५ मुने ( मस० १ ) । अधिः ५ धियन्ति ( मंस० २ )  
परिः ५ अभूषत् ( मस० ७ ) । उद्ः ५ आर्जत् ( मस० ९ ) । अतिः ५ रोहति  
( मस० २३ ) । परन्तु वि । अदधु ( मस० ३२ ) में अलगहीत नहीं है । इस  
पर सिप्पणी देखें ।

७ अवग्रह क स्थलों पर एक से अधिक उपसर्गों इकट्ठे आ जायें तो प्रथम  
या अन्तिम उपसर्ग को ही अलगहीत किया जाता है । सम्प्रः ५ अल्पम् ( ऋ०  
१ । ६० । १ ) । उप्रः ५ प्रयन्त ( ऋ० १ । ७४ । १ ) ।

८ यदि प्रकृति में कोई विनार न हुआ हो तो मु, भ्याम्, भिस्, भ्यम्, घम्, ल,  
तरप्, तम्प्, मत् और वत् आदि प्रत्ययों को अलगहीत किया जाता है ।—

उत्तरम् । त्रिः ५भि ( परन्तु तु० क० पदेभि । म्मन्ः ५म् । आतस्थि  
ज्वांसा । परन्तु तुविष्मन् । अमृतः ५वस्य । पत्ः ५भ्याम् ।

९ अनागत नामधातुओं क अ को दीर्घ हो जाने पर भी 'य' और 'यु'  
प्रत्ययों को अलगहीत किया जाता है—द्वेष्यम् ।

१० जहाँ उपसर्ग और प्रत्यय दोनों में अवग्रह प्राप्त है वहाँ सामान्यत  
प्रत्यय को ही अलगहीत किया जाता है । आतस्थिः ५ज्वांसा ।

११ अवग्रह लगाने क सामान्य नियम ऊपर दिए गए हैं । अनेक बार  
इन क अववाद भी मिलते हैं । यथा कुचर ( मस० २ ) । निर्वह ( मंस० २५ ) ।  
चन्द्रमा ( मंस० ३४ ) ।

१२ एन पन् म एक से अधिक अवग्रह नहीं लगाया जाता है । ( देखो  
ऊपर नियम ७, १० ) ।

## परिशिष्ट २

### वैदिक स्वर

( कोष्ठकों में इस संग्रह के मन्त्रों की क्रमसंख्या दी है । )

१. मूल वेदसंहिताओं, ब्राह्मणसंहिताओं और ब्राह्मणों में स्वरांकन की चार रीतियाँ प्रचलित हैं । यहाँ केवल ऋग्वेद में स्वरांकन की रीति पर सामान्य प्रकाश डाला जाता है । ॐ

२. ऋग्वेद में तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । उच्च ध्वनि से बोले जाने वाला स्वर उदात्त होता है—( उर्ध्वउदात्तः—पा० ) । नीची ध्वनि में बोले जाने वाला स्वर अनुदात्त कहलाता है—( नीचरनुदात्तः—पा० ) । जिस स्वर पर उदात्त और अनुदात्त का क्रम से उच्चारण केन्द्रित हो जाए वह स्वरित होता है । ( समाहारः स्वरितः—पा० ) । इस में उच्चारण ऊँचा चढ़ कर नीचे उतरता है । इस प्रकार उदात्त में आगम (= गात्रों को ऊपर की ओर खींचना), अनुदात्त में विश्राम ( गात्रों की शिथिलता) और स्वरित में आक्षेप ( गात्रों का तिर्यग् गमन) होता है । वैदिक स्वर संगीतात्मक हैं, लौकिक भागात्मक । तीनों ही स्वर अच्-युक्त व्यञ्जन या अच् पर ही रह सकते हैं । एक वर्ण पर एक ही स्वर रहता है ।

३. ऋग्वेद में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है । अनुदात्त के नीचे पड़ हुई रेखा (—) और स्वरित के ऊपर एक खड़ी रेखा ( | ) लगाई जाती है ।

### स्वर के उपयोगी नियम

४. सामान्यतः एक पद में एक ही उदात्त स्वर रहता है—(तु.क.—अनुदात्तं पदमेकवर्जम्—पा०) ।

---

ॐ अन्य स्वरांकन रीतियों के लिए देखो युधिष्ठिर मीमांसक—वैदिक स्वर मीमांसा और वैप्रास० ।

५ कुठ देवताद्वन्द्व समासों आदि में दोनों पदों में आने-अपने स्थान पर उदात्त स्वर बना रहता है । जैसे—मि॒त्रावरु॑णौ । इन्द्रा॑वृ॒हस्प॑ती । वृ॒हस्प॑तिः । ए॒त॒व॑ ।

६ उदात्त के तुरन्त पश्चात् आने वाले अनुदात्त स्वरित हो जाता है ।— ( उदात्ताऽनुदात्तस्य स्वरित । पा० ) जैसे—भूरि॑थ्या ( ६ ) । यु॒क्त॒प्रार॑णः ( १२ ) । यहाँ भू और क्त उदात्तों के पश्चात् रि और प्रा अनुदात्तों को स्वरित हो गया है ।

७ यदि उदात्त के पश्चात् आने के कारण स्वरित होने हुए अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् उदात्त या स्वरित आ जाए तो स्वरित न रह कर वह अक्षर अनुदात्त ही रहता है । अतः दो उदात्तों के मध्य में अथवा उदात्त या स्वरित में पृथ आये हुए अनुदात्त में फाट विनाश नहीं आता है । जैसे—य सु॒न्वन्तु॑ म॒व॒ति॒ य॒ च॒र्व॒न्तम् ( १० ) में 'सु' 'न्तु' और 'ति' (—स्वरित और उदात्त के बीच में स्थित ) की स्थिति है ।

८ स्वरित के तुरन्त पश्चात् आने वाले सर अनुदात्त अचिह्नित रहते हैं । परन्तु जब ऐसे अचिह्नित द्विती अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त या स्वरित आ जाए तो वह अनुदात्त अपने चिह्न से चिह्नित हो जाता है । ऐसे अचिह्नित अनुदात्तों को एक श्रुति या प्रचय कहते हैं । जैसे—यार्वा॑ वि॒द॒स्मं॑ पृथि॒वी म॑ 'वा' स्वरित के पश्चात् आने वाले चि, इ, स्म और पृ अनुदात्त अचिह्नित हैं । परन्तु 'धि' अनुदात्त के आगे 'वी' उदात्त आने से यह अक्षर चिह्न से चिह्नित हो गया है ।

### स्वतन्त्र स्वरित

९, कहा-कहा ऐसा भी देखने में आता है कि उदात्त के पहले आए बिना ही अनुदात्त स्वरित बन जाता है । इस प्रकार के स्वरित को स्वतन्त्र स्वरित कहा जाता है । जैसे—धी॒र्ये॑ नि ( १ ) । धी॒र्ये॑ण ( २ ) । रा॒ज॒न्व॑ ( ३३ ) ।

१० जिन स्थलों में यह स्वरित मिलता है उन में बहुधा पाठपूर्ति के लिए सन्धिच्छेद कर के अक्षर की संख्या बढ़ाई जाती है । इस सन्धिच्छेद में पहला

अक्षर उदात्त और दूसरा अक्षर अनुदात्त पाया जाता है। इस प्रकार इन स्थलों में मूलतः सामान्य स्वरित ही होता है, सन्धि के कारण ही स्वतन्त्र स्वरित का रूप लक्षित होता है। ऊपर के तीनों उदाहरणों को पादपूर्ति के लिए वीरि आग्नि, वीरि षण और राज्ञि अः पढ़ा जाता है।

११. कई बार संहितापाठ में सन्धि के कारण स्वतन्त्र स्वरित का रूप दिखाई पड़ता है। पदपाठ में सन्धिच्छेद हो कर पदों के अलग हो जाने से वह समाप्त हो जाता है। यथा ग्राहणो ऽस्व ( ३३ )। पदपाठ—ग्राहणः। अस्व।

१२. जब स्वतन्त्र स्वरित के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त आ जाए तो स्वतन्त्र स्वरित के ह्रस्व होने पर उस के आगे १ का अंक लिख कर उस के ऊपर स्वरित का और नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है, स्वतन्त्र स्वरित स्वयं अर्चिद्धत रहता है। जैसे—व्य १ स्मत्। वृष्य १ नभः। स्व १ जर्नन्ती।

१३. जब स्वतन्त्र स्वरित दीर्घ हो और उस के तुरन्त आगे उदात्त आ जाए तो इस के आगे ऊपर स्वरित के और नीचे अनुदात्त के चिह्नों से युक्त ३ का अंक लिखा जाता है और स्वतन्त्र स्वरित के अपने नीचे अनुदात्त का चिह्न होता है। जैसे—व्ये ३ दानाम्। वृष्ये ३ न। वृष्यो ३ अहं।

१४. कुछ पदों 'वच' आदि में नित्य स्वतन्त्र मिलता है।

१५. प्रातिशाख्य ने इस के कई रूप माने हैं और उन के जात्य, अभिनिहित, प्रश्लिष्ट और श्रेय नाम दिए हैं। इन सब भेदों का पर्याप्तान एक में ही हो जाता है।

**नित्य निघात (= अनुदात्त ) पद**

१६. इव, उ, चित्, स्म, स्विद् इ, घ, च, और वा निघात ( २ ) कुछ एकाच् व्यक्तिलाचक सर्वनाम, मे, ते आदि और ( ३ ) निर्देशक सर्वनाम एतु तथा इम्, सीम्, तथा ( ४ ) अनिश्चयात्मक सर्वनाम 'त्वं' और 'सम्' आदि सदैव अनुदात्त रहते हैं।

## उदात्त का अभाव

१७. कुछ अवस्थाओं में सम्बोधनों और क्रियापदों आदि में उदात्त स्वर का सर्वथा अभाव हो जाता है और वे पूर्णतया निघात (= अनुदात्त ) ही रहते हैं। ऐसे स्थलों का विवरण नीचे दिया जाता है।

१८. निर्देशक सर्वनाम इदम् के आदेश 'अ' के रूप जब किसी मन्त्र के लिए प्रयुक्त हुए हों और उन वा अर्थ गौण हो तब वे निघात हो जाते हैं। जैसे—अस्य जनिमानि ।

## सम्बोधन पदों का स्वर

१९. सम्बोधन पद, चाहे एक पद का हो, चाहे कई पदों का, यदि वाक्य के प्रारम्भ में आया हो तो उत का प्रथम वर्ण उदात्त होता है, शेष अनुदात्त। जैसे—एषन्ननु प्र ना इहि में पूर्णम् । वास्तोष्यते प्रति जानीशस्मान् में वास्तोष्यते । इन्द्रावरणा वृधताभिरप्रति में इन्द्रावरणा । उय आ भोहि भानुना में उयः पद ।

२० परन्तु यदि सम्बोधन वाक्य के मध्य में अन्य पदों के पश्चात् आया हो तो यह निघात (= उदात्त स्वर से हीन ) हो जाता है। यथा सर्जनामः इन्द्रं में जनासु । मरुद्भिरगन् आ गहि में 'अग्ने' ।

## क्रियापदों का स्वर

२१ यदि वाक्य के मध्य में आई हो तो प्रधान वाक्य की क्रिया निघात ( उदात्त स्वर से हीन ) होती है। जैसे—विष्णोर्नु क' वीर्याणि प्र वोचम् ( १ ) में वोचम् । प्र तद् विष्णुं स्तवते ( २ ) । प्र विष्णवे शपम् एतु ( ३ ) । अभि पाथो भश्याम् ( ५ ) । आदि ।

२२. प्रधान वाक्य की क्रिया यदि वाक्य के प्रारम्भ में आई हो तो यह उदात्त स्वर से युक्त होती है। यथा—वेष्टं मासो धृतवतो में 'वेष्ट' । अभूदेव सविता घन्धो नु न मे 'अभूत्' । अर्षोर्विपमुद् पूरुभाय में 'अर्षो' । अकृषन्त्यानि में 'अकृ' ।

२३. क्यों कि सम्बोधनपद वाक्य में नहीं गिना जाता है, अतः यदि प्रधान वाक्य की क्रिया ऐसे सम्बोधन के पश्चात् आई हो तो वह वाक्य के प्रारम्भ में आई हुई मानी जायगी और उदात्त स्वर से युक्त होगी। जैसे—आश्रुत्कर्णं श्रुधि हवाम् । 'हे सुनने वाले कानों वाले' हमारी पुकार तुमों' । वृहस्पते रक्षता-दस्यु योनिम् । 'हे बृहस्पति' इस के घर की रक्षा करो' । इन में श्रुधि और रक्षतात् उदात्त स्वर से युक्त हो गए हैं।

२४. एक वाक्य में एक ही क्रिया हो सकती है। अतः जब पहली क्रिया के समान एक ही कर्ता से सम्बद्ध एक से अधिक क्रियाएं एक वाक्य में आ जाएं तो प्रत्येक क्रिया नए वाक्य के आरम्भ में आई हुई मानी जाती है और इस कारण उन में उदात्त स्वर होता है। जैसे—अपार्मीषां वाचते वेति सूर्यम् में 'वेति' क्रिया। तुरगिरिज्याति क्षेति पुष्यति 'सफल वह जातता है, शान्तन करता है और पुष्ट होता है' में क्षेति और पुष्यति क्रियाएं।

२५. वत्, वा, इस के रूपों, च, हि, चेत्, नेत् निपातों से प्रारम्भ होने वाले आश्रित वाक्यों की क्रिया में उदात्त स्वर रहता है। जैसे—यो विममे (१)। यो अस्त्रभायत् (१)। यस्य.....अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (२)। यो वामस्तम्नान् (८)। यो गा उदाजदपथा (९)।

२६. जब दो प्रधान वाक्य प्रतिपक्षी हों तो प्रथम को आश्रित वाक्य के समान समझा जाता है और उस की क्रिया उदात्त स्वर से युक्त होती है। जैसे—अधः स्विक्षासीद्दुपरि स्विक्षासीद् 'क्या नीचे था अथवा ऊपर था'। इस में दोनों वाक्य प्रतिपक्षी हैं। अतः पहले वाक्य को गौण मान कर 'आसीद्' में 'सी' उदात्त है।

### उपसर्गों का स्वर

२७. प्रधान वाक्यों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् रक्खा जाता है और वह उदात्त-स्वर से युक्त होता है। जैसे—प्र तद् विष्णुः स्वचते (२) और अभि पार्थो अद्याम् (५) में प्र और अभि को पृथक् किया गया है।

२८ आश्रित वाक्यों में उपसर्ग को क्रिया के साथ ममस्त माना जाता है और यह निघात हो जाता है। इसा लिए पदपाठ में उसे अग्रहीत करते हैं जैसे—यो देवान् वसुना पुष्यंभूषत् ( ७ )। यो वा उदारजिह्वुधा बृहस्पि ( ९ )। यस्पोरपुं प्रियु विप्रमणेष्वपिक्षियन्ति भुषनानि विधा ( २ )।

### समासों का स्वर

२९ आश्रित ( पुनश्च ) पदों के समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—अट्टरहः। यथायथा। प्रम। इन का पदपाठ में अग्रहीत किया जाता है।

३० बहुव्रीहि समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—विषतो-सुम्बः। मूरिश्या ( ६ )। युक्तप्राण, सुतसोमस्य ( १२ )। न्तु से बहुव्रीहि समासों में उदात्त स्वर अन्तिम पद में होता है, विशेषतः जब पूर्वपद बहु, पुह, नन् ( अ या अन् ) और तु हो। जैसे—सुशिय ( १२ )। उरुवाधार्य ( १ )। उरुक्रमस्य ( ५ )। कुचर ( २ )।

३१. कर्मधारय में अन्तिम पद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—शुधमजा प्रान्तुंज्। महाभुज। परन्तु जब पूर्वपद नन् में ( अ या अन् ) हो तो उदात्त पूर्वपद में होता है। जैसे—अतग्निदग्धा। अतश्चरा।

३२ तत्पुरुषों में उत्तरपद में अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—गोत्र-निद्। भद्रं वादिन्। उहमेव। परन्तु पष्ठबन्त पूर्वपद वाले समासों में दोनों पदों में उदात्त स्वर रहता है। जैसे—बृहस्पतिः। भ्रूया नपात्। शुनु शेष।

३३ द्वन्द्व समासों में समान करने पर देने प्रातिपदिक का अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—अजावयः ( ३१ )। यहा अजावि प्रातिपदिक है। मासान्मानुशने ( २५ )।

३४. देवताद्वन्द्व समासों के दोनों पदों में उदात्त स्वर होता है। जैसे—इन्द्रायर्षणा। सूर्यामासा। धार्या...पृथिवी ( १३ )। इस पद में दोनों भागों को वृषक्-वृषक् प्रयुक्त किया गया है। इन के बीच में 'चिदरमे' पद भी आ गए हैं।



## परिशिष्ट ३

### वैदिक व्याकरण

#### वर्णमाला

१. ऋग्वेद में वे सभी स्वर और व्यञ्जन तथा उन की ध्वनियाँ मिलते हैं जो लौकिक संस्कृत में पाए जाते हैं। ऋग्व्यातिशायक के अनुसार तीन स्थलों—  
अधः स्विदासी ३ त्, उपरि स्विदासी ३ त् और भीरिव चिन्दती ३—में ही प्लुत का उच्चारण होता है।

२. इस के अतिरिक्त ऋग्वेद में दो और व्यञ्जन—ळ और ळ—का प्रचुर प्रयोग किया गया है। ये स्वतन्त्र वर्ण नहीं माने जा सकते क्योंकि एक ही पद में दो स्वरों के बीच में आने पर इ को ळ और दू को ळ ही माना जाता है।

‘पदमध्यस्थडकारस्य ळकारं चतृचा जगुः।

पदमध्यस्थठकारस्य ळकारं चतृचा जगुः ॥’

यथा तस्माद्द्विरालजायत में आ और अ के बीच में आने से उ को ळ और ळ में ळ और आ के बीच में आने से ‘दू’ को ‘ळ’ हो गया है।

३. सन्धि—ऋग्वेद में लौकिक सन्धि के लगभग सभी नियम प्रयोग में आते हैं। कुछ नियम नए भी हैं।

४. स्वरसन्धि—कई बार एक ही पद में या समास के विभिन्न पदों में, अथवा एक वाच्य के विभिन्न पदों में सन्धि का अभाव पाया जाता है। इन में पदान्त ‘ए’ और ‘ओ’ के पश्चात् ‘अ’ का पूर्व रूप बहुत कम होता है। ( लु. क. प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे—पा० ) । यथा—यो अस्केभायत् ( १ ) ।

५. इस संग्रह में पूर्वरूप वाली सन्धियों के मिलती हैं—योऽचिता ( १२ ) । परेऽवरे ( १४ ) । पादोऽस्य ( २४ ) । ब्राह्मणोऽस्य ( ३३ ) । ऐसी सन्धियों को अर्वाचीनता का शोचक माना जाता है। परन्तु घञमण्डलों में भी ये पर्याप्त मिलती हैं।

पाथो भश्याम् (५) । यो अन्तरिक्षम् (८) । नैपो अस्ति (११) । सो अयं (११) । विराजो अधि (२६) । † सूरिभ्यः । सु अधिभ्यम् । घृणस्य भ्रुने । अभि षीति ।

५. हतिकरण क जो स्थल पूर्व परिशिष्ट में दिखाए गए हैं वहां सन्धि नहीं होती है । 'अ' और उ—निपात की सन्धि से उत्पन्न 'ओ' की भी सन्धि नहीं की जाती है, जैसे अधो ( अथ + उ ), मा ( मा + उ ) आदि ।

६. व्यञ्जनसन्धि—पदान्त धान् को ओ हो जाता है । यथा—लोकैर् अकल्पयन् (३५) जिगीर्षो लुक्षम् (१०) । प्रकुपितो भरम्गात् (८) । परन्तु लेट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में 'आन्' में कोई परिवर्तन नहीं होता है, यथा आ गच्छान् उत्तरा युगानि । इसी प्रकार पदान्त ईन्, ऊर् और ऋन् को ईर् ऊर् और ऋर् हो जाता है, जैसे—रुस्मोर्षिव् । इस नियम का अपवाद मा मिलता है । यथा—पुताधानस्य (२४) । † दर्धानान् अर्भन्यमानान्दृवां (१६) ।

७. बाह्यसन्धि—चई चार अन्त सन्धि में लागू होने वाले नियम बाह्य सन्धि में भी लगाए जाते हैं । यथा—मो पु वरण । इस में 'सु' या 'पु' मो के चरण हुआ है ।

८. लोप होने पर सन्धि—चई चार पादपूर्ति के लिए लोप हो जाने पर भी सन्धि मिलती है । जैसे—य स्मा पृच्छन्ति कुट् सेति घोरम् (११) में सेति ( ग + इति ) में विसर्ग का लोप हो जाने पर भी सन्धि की गई है ।

### शब्दरूप

९. वैदिक भाषा लीचिज भाषा की अपेक्षा शब्दरूपों में अधिक समृद्ध है । यहा लीचिज भाषा में प्रयुक्त विभक्ति प्रत्ययों के अतिरिक्त और सो निभक्ति-प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकार से बन्धा लीचिज भाषा के एक रूप व

† इन दोनों उदाहरणों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । पादपूर्ति के लिए सन्धिच्छेद पर ये रूप होते हैं । ये उदाहरण डा० मैकडोनल ने दिये हैं ।

† मै०—दो पादों के बीच में 'आन्' की सन्धि नहीं होती है । पाणिनि भी ऐसा ही मानते हैं । तु० क० दीर्घादिदि समानपादं । आतोऽदि नित्यम् ।

स्थान पर दो या अधिक रूपों का प्रयोग पाया जाता है । इन अतिरिक्त रूपों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है ।

### एकवचन

१०. तृतीया विभक्ति—अकारान्त पदों में 'आ' का प्रयोग भी पाया जाता है । स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दों में भी 'आ' मिलता है । यथा—यज्ञ के यज्ञेन और यज्ञा । मनीषा के मनीष्या और मनीषा ।

११. पुन का 'अ' भी बहुधा दीर्घ पाया जाता है—पूना । ऋग्वेद में पुनेन रूप उपलब्ध नहीं होता है ।

१२. कभी-कभी इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के तृतीया एक वचन के रूप 'ई'—अन्त वाले भी होते हैं । यथा—शर्मा के शर्म्या और शर्मा ।

१३. मुहिमन् का एक रूप 'मुह्या' (७) भी होता है ।

१४. चतुर्थी—कभी-कभी इकारान्त स्त्रीलिंग पदों के रूप 'ई' अन्त वाले होते हैं—ऊति का ऊती (२०) † ।

१५. पञ्चमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों के रूप 'आ' अन्त वाले भी होते हैं—अपधा (९)—'वाड़े से' ।

१६. चक्षुष् का रूप 'चक्षोंः' (३४) भी एक बार आया है ।

१७. पट्टी—पुट्टिग इकारान्त और नपुंसक लिंग उकारान्त पदों के रूप 'अस्' से भी बनते हैं । यथा—मधु का मध्वः (५) और अरि का अर्यः (४) ।

१८. सप्तमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों के रूप 'आ' में भी मिलते हैं । यथा—गुहा से गुहा (१०) । इकारान्त पदों के सप्तमी एक वचन में 'आ' के साथ साथ 'आ' और 'इ' का भी प्रयोग पाया जाता है, यथा अग्नी—अग्ना ( अग्नि में ); वेदा ( वदि में ) ।

१९. 'अन्' अन्त वाले पदों की 'इ' का बहुधा लोप हो जाता है—पुरमे व्योमन् । शर्मन् और शर्मणि । ब्रह्मन् और ब्रह्मणि । इन पदों में उपधा

† इसे तृतीया का रूप भी माना गया है । सा० ने चतुर्थी का माना है ।

के 'अ' का लोप कर्मा नहीं होता है । अतः केवल अहनि, रात्रि ही मिलते हैं, अग्नि और रात्रि नहीं पाए जाते ।

२०. अन्य पदों में भी विभक्ति चिह्न का अन्वय देखा जाता है । यथा—  
विश्वह (२१)—'सप्त दिनों में' ।

२१. सम्बोधन—भत्, वत् और वस् प्रत्ययान्त पदों के सम्बोधन में 'अस्' आता है (तु० क० मनुस्मृति ४ सम्बुद्धां छन्दसि । पा० । )—भानुमत् से भानुम् ( प्रथमा में—भानुमान् ), हरिवत् से हरिवः ( प्रथमा में हरिवान् ), चक्रेवत् से चक्रेवः ( प्रथमा में चक्रेवान् ) ।

### द्विवचन

२२. 'आ' की अपेक्षा प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'आ' का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है ऋ—आतस्थिवासां (१४)—'बैठे हुए दो जन' । अधिना—'दो अधिन् देव' । द्वात्रां (१३)—'दो पुलोक' । राजाना—'दो राजा' । द्वारां—'दो द्वार' । नृणां 'दो नदिया' ।

२३. ईकारान्त ख्यलिय पदों के रूपों में 'इ' पाई जाती है—रोदसी—'दो लोक—पृथिव्या आर आकाश' (७) । अन्दसी सयुती (१४)—'दो चिह्नाती हृद् सेनाएँ' । देवी—'दो देविया' ।

२४. अमद् और युमद् के द्विवचन में पाँच विभक्तियों में रूप मिलते हैं ।

	१	२	३
अमद्—वाम्, आमम् ( श० )		आमाम् ( श० )	×
युमद्—युवम्		युवाम्	युवाभ्याम् युवभ्याम्
		५	६-७
अमद्—		आमभ्याम् ( वास. )	आवयो ( श० )
		आवद् ( तैम० )	

युष्मद्—

युवत्

युवोः,  
युवयोः ( तैसं० )

२५. इन के साथ ही २री, ४थी और ६ठी विभक्तियों में नौ और वाम् के प्रयोग भी मिलते हैं ।

### बहुवचन

२६. प्रथमा विभक्ति—अदन्त पुल्लिंग शब्दों के रूप बहुधा और स्त्रीलिंग शब्दों के कभी-कभी 'आसस्' में मिलते हैं ( तु० क०—आञ्जसेरसुकू-पा० ) । यथा—अयासः ( ६ ); अर्थासः, रथासः, जनासः ( १३ ), प्रियासः; सुवीरासः ( २१ ) । इन के साथ 'आसस्' के रूप भी मिलते हैं, यथा—ग्रामाः ( १३ ), युध्यमानाः ( १५ ) ।

२७. ईकारान्त स्त्रीलिंग पदों के अन्त में 'ईस्' होता है । यथा दुर्वीः—'देवियां' । ( तित्त्वः ) पृथिवीः—'तीन भूमियां' ।

२८. नपुंसक लिंग पदों के रूपों में आनि, ईनि और ऊनि की अपेक्षा आ, ई, ऊ ( कभी-कभी अ, इ, उ ) का प्रयोग अधिक मिलता है । तु० क० शेषच्छन्दसि बहुलम्—पा० ) । यथा—भुवनानि विश्वा ( २ ) । त्री पूर्णा पदानि ( ४ ) । अक्षयिमाणा ( ४ ) । ता वास्तूनि ( ६ ) इमा विश्वा च्यवना कृतानि ( १० ) ।

२९. तृतीया—अकारान्त पदों में 'ऐस्' के साथ-साथ 'एभिस्' का प्रयोग भी खूब मिलता है । यथा—पदेभिः ( ३ ) । देवेभिः और दुर्वैः ।

३०. शब्दरूपों की रचना—शब्द रूपों की रचना में प्रमुख अन्तर ईकारान्त और ऊकारान्त अनेकाच् शब्दों के रूपों में पाया जाता है । ऐसे पदों में अधिकांश स्त्रीलिंग और कुछ पुल्लिंग हैं । इन में से अधिकांश के रूप एकाच् शब्दों—वी और भू के समान चलते हैं । भेद इतना ही है कि इन पदों में पृथी के बहुवचन में 'नाम्' लगाया जाता है, और वी, भू में 'वाम्' । स्त्री प्रत्यय की 'ई' वाले शब्द अधिकतर नदी और वधू के लौकिक रूपों के समान बनते हैं । उदाहरण के लिए रुवी ( पु० ), नदी ( स्त्री० ) और तनु ( स्त्री० ) के रूप इस प्रकार होते हैं—

## ३१. रथी

	एक वचन रथी	द्विवचन रथ्या रथ्या रथ्या	बहुवचन रथ्या रथ्या
१			
	सम्बोधन		
२	रथ्यम्		
३	रथ्या		
४	रथ्ये		
५	रथ्य		रथीनाम्
६	रथ्य		

## ३२. नदी ( स्त्री० )

१	नदी	नद्या नद्या नद्या	नद्य
८			
२	नद्यम्		नद्य
३	नद्या		
४	नद्या		
५	नद्य		नदीनाम्
६	नद्य		
७			

## ३३. तन्वू ( स्त्री० )

१	तन्वू	तन्वा तन्वा तन्वा	तन्व
	सम्बोधन		
२	तन्व्यम्		तन्व
३	तन्वा		
४	तन्वे		
५	तन्व		तन्वांम्
६			
७	तन्वि		

३४. पाणिनि ने शब्दरूपों के अन्य विकारों को 'सुपां सुलुक् पूर्वसर्वा-  
णाच्छेद्याडाख्यायाजालः' में संगृहीत किया है। इस के अनुसार विभक्तियों का  
लोप, उन के स्थान पर पूर्व सर्वा, आ, ए, आत्, या हो जाते हैं। काव्यायन  
ने इन में इया, ई ( सूरसी-७ मी ) और अया का भी कथन किया है।

### धातुप्रक्रिया

३५. आगम—धातुओं के लड़् और लुङ् में अट् का आगम कुछ रूपों में  
निरन्तर अंर कुछ में छन्दःपूर्ति के लिए दीर्घ पाया जाता है। जैसे—आवर्—  
✓ ह् लुङ् प्रथम पु० एक व०—'उस ने टका हुआ है। औरै'क् ( या औरै'क् )  
✓ रिच् प्रथम पुरुष एक व० लुङ्—'उस ने रिक्त कर दिया है'।

३६. बहुधा अर्थ में भेद किए बिना ही इस अट् आगम का लोप कर दिया  
जाता है ( तु-क-बहुलं छन्दस्यमाद्युयोगेऽपि । पा० )। इस प्रकार के अट् से  
रहित रूप अंग्रेजी के इज्जिक्टिव के रूप में प्रयुक्त होते हैं ( यथा प्र वॉचम् )  
और आधुनिक अध्ययन में इसी नाम से पुकारे जाते हैं। 'मा' के योग में  
लौकिक संस्कृत में भी अट्हीन रूपों का प्रयोग मिलता है।

३७. उपसर्ग—सामान्यतः क्रिया से सम्बद्ध उपसर्ग उस से पहले आते  
हैं, परन्तु कई बार क्रिया के पीछे भी प्रयुक्त हुए हैं। उपसर्ग और क्रिया के इन  
दोनों ही क्रमों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् भी रक्खा जाता है और उन के  
बीच में अन्य पद भी आ जाते हैं। ( तु० क० उपसर्गाः क्रियायोगे । तं  
प्राग्धातोः । छन्दसि परे ऽपि । व्यवहृताश्च । पा० । ) जैसे प्र तद् विष्णुः स्ववन्ते  
( १ ) । प्र विष्णवे शूपम् एतु ( ३ ) । अर्वा भाति भूरि ( ६ ) । गमद् वाजें-  
मिरा स नः । परन्तु आश्रित वाक्यों में उपसर्ग सदैव क्रिया से पहले आते हैं  
और उस के साथ समस्त होते हैं। जैसे विम्मे ( १ ) । पर्यभूषत् ( ७ ) ।  
उदालस ( ९ ) ।

### तिङ् प्रत्यय

३८. लट्लकार में उत्तम पुरुष बहुवचन ( कर्तृवाच्य ) में 'मस्' की अपेक्षा  
'मसि' प्रत्यय का प्रयोग प्रचुर है। ( तु० क० इदन्तो मसि । पा० । )

जेते—उस्मि ( ९ )—इच्छा करते हैं (  $\sqrt{\text{वृ}} से )$  । इमिं और इम ।

३९. मध्यम पुरुष बहुवचन में 'थ' और 'त' के अतिरिक्त 'थन' और 'तन' भी बहुधा मिलते हैं । ( तु० क०—तत्तनतनथनाथ-पा० । ) जैसे—याथ और याथन ( तुम जाओ ) । यात और यातन ( तुम जाओ ) ।

४०. लोट लकार के मध्यम पुरुष एक वचन में 'तात्' के रूप बहुधा मिलते हैं । इन रूपों में अविष्य में लिख जाने के लिए निर्मा काम की अज्ञा अभिप्रेत होती है । जैसे—रथतात् । धृत्तात् । यर्था यर्था यह मध्यम पुरुष द्विवचन और बहुवचन तथा उत्तम पुरुष और प्रथम पुरुष के एक वचन के लिए भी प्रयुक्त हुआ है ।

४१. श्रु, शृणु, पू, कृ और शृ धातुओं से लोट मध्यम पुरुष एक वचन में 'धि' लगाया जाता है । ( तु. क. श्रु-शृणु-पू-कृ-शृभ्यदुन्दमि-पा० । ) जैसे—श्रुधि ( हवम् ) । शृणुधि ।

४२. कुट्ट धातुओं के लट् प्रथम पुरुष एक वचन के रूप उत्तम पुरुष क रूपों में पर्ययित हो जाते हैं । जैसे—गेते के स्थान पर शयें का प्रयोग ।

४३. द्वित्व—लिट् लकार में कुट्ट धातुओं के द्वित्व में अन्वय में स्वर जो दीर्घ हो जाता है । ( तु० क० तुजादांना दीर्घोऽन्वयस्य ) । जैसे—हाधार ( ४ ) (  $\sqrt{\text{धृ}} से )$  । तुतुजान् । ततात् ।

४४. गण—वेद में गणों के प्रयोग में बहुधा व्यत्यय पाया जाता है । एक गण के धातु का रूप दूसरे गण के रूपों के तुल्य पाया जाता है । जैसे—कृणोमि । करमि । भेदनि । हृवेते ( १४ ) ।

४५. लकार—वट में लुट्, लट् और लिट् के प्रयोग सर कालों में पाए जाते हैं । ( तु. क. उन्दसि लुट्लट्थितः । पा० ) । लिट् का प्रयोग भूतनामान्य में भी होता है ( तु. क. उन्दसि लिट्-पा० ) । जैसे—स दाधार पृथिवीं धामुते माम् में हाधार पठ । डा० मैकटोनल का विचार है कि लट् लकार सदा वर्ण नात्मक भूतनाल का शीतक है, परन्तु यह ठीक नहीं । ( दलो वेभाप० ४ । ५४ । १२ ) । लिट् का वर्तमान में प्रयोग—अमन्वयमानुच्छर्वा जुघान



( १६ ) । लृट् का—अत्यतिष्ठद् दशांगुलम् ( २२ ) । लृट् का—पुते त्वे भानवो दशंताराश्चित्रा वृषसो अमृतासु आर्गुः ।

४६. काल—द्वित्व की हुई धातु से पहले अट् का आगम कर के आर्ध-धातुक प्रत्यय लगा कर बने रूप भी प्रयुक्त हुए हैं । मै० ने इन्हें 'प्लुपरफेक्ट' नाम दिया है । उदाहरण के लिए—√चित् से—उत्तम पु० एक व०—अचिकेतम् । प्रथम पु० एक व०—अचिकेत् । प्रथम पु० बहु व०—अचिकितुः ।

४७. डा० मैकडोनल के मत में संहिताओं में लृट् का कोई निर्विवाद रूप नहीं मिलता है । तृच्-श्रन्तवाली संज्ञाओं से ही इस लकार के रूपों का ब्राह्मण-काल में प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा ।

४८. भाव ( मूड )—लौकिक भाषा में लोट्, विधिलिट्, आशीलिट् और लृट् का प्रयोग होता है । वेद में आशीलिट् का प्रयोग अल्प मात्रा में पाया जाता है । लृट् भविष्यत् काल का भूतकालिक रूप है और भविष्य का योतक है ।

४९. परन्तु यहाँ एक और नये भाव—लेट् का प्रचुर प्रयोग होता है । इस भाव का प्रयोग विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अर्घीष्ट, संप्रश्न, प्रार्थना, आशीः हेतुहेतुमद्भूत, इच्छा, कामप्रवेदन और संभावना—इन लोट् और विधिलिट् के अर्थों, उपसंवाद और आशंका में होता है । ( तु० क०—लिट्थं लेट् । उपसंवादाशंकयोश्च । पा० ) । विधिलिट् का मूल लक्ष्य इच्छा और संभावना का प्रकाशन है और लेट् का 'निश्चय, प्रतिज्ञा' । विभिन्न पुरुषों में इस का अर्थ भिन्न-भिन्न भी लक्षित होता है । यथा उत्तम पुरुष में वह 'प्रतिज्ञा, निश्चय' का योतक है

५०. वाक्यों में इस का प्रयोग सामान्वतः दो प्रकार का है—प्रधान वाक्य में वह प्रश्नावक पदों के साथ आता है, जैसे—युदा नः शुध्रपृद् गिरः । गौशशक्यों में वह निषेधात्मक वा सम्बन्ध-योतक पदों के साथ आता है । जैसे—यो नः पृतन्याद् ।

५१. लेट् में धातु के आगे अ वा आ लगाया जाता है ( लेटो ऽ वाटा-पा० ) । जैसे—भर्वाति में अनेक बार सिप् का प्रयोग भी देखने में आता है

(—गिब्रह्ल नेत्रि—या०) । यथा तारिषन् म । परस्मैपद धातुओं के 'ति' आदि प्रत्ययों की 'इ' का लोप भी धातुधा हो जाता है (—इतश्च लोप परस्मै पदेषु—या०) । जैसे—तारिषन् में ।

५२ छे म गारधातुश्च और आर्षधातुश्च—जो ही प्रत्ययों का प्रयोग पाया जाता है । √भू और √सु के छे ष रूप इस प्रकार हैं—

५३ √भू—

परस्मैपद

प्रथम पु०	भवाति, भवान्	भवात	भवान्
मध्यम पु०	भवासि, भवा	भवाथ	भवाथ
उत्तम पु०	भवानि	भवाथ	भवाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	भवात	भवते	भवन्त
म०पु०	भवसि	भवथे	भवथि
उ०पु०	भवामि	भवामहे	भवामहे ।

५४ √सु—

परस्मैपद

प्र०पु०	सुनवत्	सुनवत	सुनवन्
म०पु०	सुनव	सुनवथ	सुनवथ
उ०पु०	सुनवामि	सुनवाम	सुनवाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	सुनवते	सुनवत	सुनवन्तः
म०पु०	सुनवसि	सुनवथ	सुनवथि
उ०पु०	सुनवामि	सुनवामहे	सुनवामहे

लेट् के रूपों का वर्गीकरण

५५ आधुनिक वैदिक व्याकरणों ने लेट् के रूपों को विद्वेषण कर र बताया है कि इस के रूप धातु वर्गमानवालों के श्रोतक ही नहीं है, प्रयुत

उन का प्रयोग लिट् और लुङ् में भी होता है। उन के अनुसार लोट् और लिटि लुङ् के भी लुङ् और लिट् में प्रयोग होते हैं। इन के कतिपय उदाहरण ये हैं—

### लिट् लकारीय

लेट्	विधिलिट्	लोट्
✓ तुद् से—तुतोर्दत्	✓ वृत् से—वृवृत्त्यात्	मुच् से—मुमुग्धि
		✓ भू से—यभृत्
		✓ वृत् से—म० पु०
		आत्मनेपद एकव०—वृवृत्त्वात्

### लुङ् लकारीय

/ नी से—प्र० पु०	✓ विद् से—विदेत्	✓ अच् से—
क व०—	✓ अश् से—अद्यात्	म० पु० एक व० अविड्दि
पति, नेपत्	✓ भञ् से—भञ्जीष्ट	द्विव०—अचिष्टम्
/ शुष् से—शोधिषत्		बहु व०—अचिष्टन्
		प्र० पु० एक व०—अचिष्ट
/ विद् से—विदत्		✓ सद् से—प्र० पु०
/ कृ से—करत्ति, करत्		एक व०—सदत्
		द्वि व०—सदताम्
		बहु व०—सदन्तु
		✓ श्रु से—म० पु०
		श्रुधि श्रुतम् श्रुत्
		प्र० पु० श्रोतु
		श्रुताम् श्रुवन्तु

५६. इजंकिटव—यह परिभाषा आधुनिकों की है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अद् आगम से तीन लुङ् और लृङ् के रूपों को इजंकिटव कहते हैं। इस के प्रयोग लेट् के अन्तर्गत आ जाते हैं। उच्चम पुष्य में यह इच्छा को प्रकट

करता है। यथा—विष्णोर्नु कं वीर्यैणि प्रयोचम् ( १ )। मध्यम और प्रथम पुरुषों में यह प्रेरणा और उत्साह से व्यक्त करता है और बहुधा लोट् व माथ प्रयुक्त होता है। जैसे—सुगा न सुपर्जा कृणु। पृथङ्निह प्रभु विद मे 'विद' इजतिव है। इस भाव का प्रयोग कर्मन् म बहुलता न हुआ है।

५६. सातत्यशोतन कृन्त पद—लौकिक साहित्य में उपलब्ध सातत्यशोतन कृन्त पदों ( शतृ, शानच आदि ) के अतिरिक्त तुङ् लकार म भी यथा आर जम दोनों म सातत्य शोतक कृन्त रूप मिलते हैं। जैसे परमपद—√ कृ स—कृन्त। √ गृ म—गृन्त। √ रथा स—रथान्त। आ मनेपद—√ कृ स—कृण। √ बुध् स—बुधान।

५८ लिट् लकार म वस्तु और वानच् प्रत्ययान्त रूप भी मिलते हैं ( तु व लिट् वानच् पा। करमुध । पा० । )। यथा √ शन् से शान्तमान । √ धम् से विष्णुव्रजाय ( वानच् ) ( २० )। √ रथा स तृस्त्रियासां ( द्विवचन—वस्तु ) ( १४ )। √ वि से—विगीवान् ( १० ) ( वस्तु )।

५८ शृण्वेड म वस्तु प्रत्ययान्त पदों का प्रयोग नहीं किया गया है।

५९ कत्या—अर्थ के रूप—यत् में कत्या न साध-साध ली और त्वाय क रूप भी मिलते हैं। ( तु क इष्टीनमित्तिच । स्माव्यायथ । करो यक् । पा० )। स्वाय न प्रयोग अत्र है। जैसे—दिव सुपर्जा गृत्वाय । इष्टान देवान् । पितरा गोमरथ प्रापे । व और ल्य प्रत्ययान्त पदों का अन्तिम स्वर बहुधा दीर्घ मिलता है।

### तुमर्थ के रूप

६० तुमर्थ के रूप लौकिक संस्कृत में 'व लिए' के भाव के प्रकाशन के लिए उपलब्ध ही प्रथम—तुमुन् या प्रयोग होता है, परन्तु वेद में इस न लक्ष्य लगभग एत र्थेन प्रथमों का प्रयोग होता है। पाणिनि मानने इन का अघात्तन सत्रों म संवलित किया है—

१ तुमर्थे से—सेन्—अमे—ऽमेन्—कमे—कसेन्—अप्यै—अध्यै—  
अप्यै—अप्यैन्—अप्यै—अप्यैन्—तवै—तवेद्—तवेन ।

२ प्रथे रोहिष्ये अयपिष्यै ।

३. दृशे विख्ये च ।
४. शक्ति गमुल्कमुली ।
५. ईश्वरे तोमुन्कमुनी ।

६१. आधुनिक दृष्टि से इन का वर्गीकरण द्वितीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी के रूपों से साम्य के आधार पर किया जाता है । इन में से पिछले तीन वर्गों के रूप अल्प हैं । शेष में से अधिकांश चतुर्थ्यन्त हैं जो द्वितीयान्तों से लगभग १२ गुना अधिक हैं ।

६२. द्वितीयान्त तुमर्थ रूप धातु से अथवा कभी-कभी तु-प्रत्ययान्त नाम-धातुओं से बनते हैं । जैसे—सुमिर्घम्—‘प्रदीप्त करने के लिए’ । प्रुत्तिधाम्—‘रखने के लिए’ । प्रुत्तिर्म्—‘बढ़ाने के लिए’ । कर्तुम्—‘करने, बनाने के लिए’ । भेर्त्तुम्—‘फाड़ने के लिए’ । विभावं ( नाशकत् ) । अपलुपं ( नाशकत् ) ।

६३. चतुर्थ्यन्त तुमर्थरूप धातु से और अस्, मन्, वन्, तु, धि प्रत्ययान्त नामधातुओं से बनते हैं । तथा—गर्मध्यै (६)—‘जाने के लिए’ । अवसे (१५)—‘रक्षा के लिए’ । सुर्वे (१२)—‘बहने के लिए’ । दृशे—‘देखने के लिए’ । श्रद्धे—‘सच्चा विश्वास करने के लिए’ । जीवसे—‘जाने के लिए’ । विदाने—‘दावने, दातवे—‘देने के लिए’ । कर्त्तुं वृद्धे—‘करने के लिए’ ।

६४. पञ्चमी और षष्ठी के रूप एक समान होते हैं । ये रूप अस् और तोस् में मिलते हैं । जैसे—अधुपदः—‘गिरने के लिए’ । नेतोः—‘ले जाने के लिए’ । विचरितोः—‘विचरण के लिए’ ।

६५. सप्तमी विभक्ति में केवल ‘भनि’ प्रत्ययान्त रूप ही निक्षयात्मक विशुद्ध रूप हैं । जैसे—नेपणि—‘ले जाने के लिए’ । धूर्त्तरि—‘देने के लिए’ ।

६६. कृत्यप्रत्यय—कृत्य-अर्थ में तर्वे, फेन्, केन्य और त्वन् का प्रयोग होता है ( तु० फ० कृत्यार्थं तर्वेकेनकेन्यत्वनः—पा० ) । जैसे—द्विदृक्षेण्यः ।

ॐ इस में दो उदात्त स्वर हैं, क और वै ।

कर्मप्रवचनीय निपात—

६७. वेद के मूल कर्मप्रवचनीय निपात द्वितीया, पञ्चमी और सप्तमी के साथ और कुछ स्थलों पर तृतीया के साथ प्रयुक्त हुए हैं । ये इस प्रकार हैं—

६८. द्वितीया के साथ—अति—'परे' । अधि—'ऊपर से' । अनु—'पीछे' । अन्तर्—'में' । अभि, आ उप, प्रति—'की ओर' । परि—'चारों ओर' । पर—'नामने' ।

६९. पञ्चमी के साथ—अधि—'ऊपर से' । अन्तर्—'अन्दर से' । आ—'दूर से, 'तत्र' । परि—'( चारों ) ओर से' ।

७०. सप्तमी के साथ—अधि—'ऊपर' । अन्तर्—'अन्दर' । अभि, आ और उप—'समीप' ।

वैदिक भाषा और व्याकरण की कुछ अन्य विशेषताएँ

कारक—७१ उई वार एक विभक्ति के स्थान पर दूसरी विभक्ति का प्रयोग भी पाया जाता है । जैसे—चतुर्था क अर्थ में पद्ये, पद्ये के अर्थ में चतुर्था और सप्तमी के अर्थ में चतुर्था । यथा—धृस्म धत ( ११ ) में सप्तमी क स्थि अस्मि में चतुर्था का प्रयोग किया गया है ।

७२ वर्णविकार—उई पदों में वर्णों में विचार पाया जाता है । जैसे—सधस्वम् ( १ ) [ तु. क. सधमादसपयोऽन्दमि । ] गृणामि । सम्भृतम् ( २९ ) । [ तु. क—हृप्रहोर्भऽन्दमि । पा० । ]

७३. साहित्यिक दीर्घ—अनेक वार सहिता में खरो को दीर्घ कर दिया जाता है । पदपाठ में इन्हें ह्रस्व कर दिया जाता है । जैसे—स्मा ( ११ ) । परंप. ( २४ ) ।

७४. प्रत्ययों का प्रयोग—अहुत से प्रत्यय विहित शब्दों से अन्यत्र भी हो जाते हैं । जैसे—अध्याधुरातीवा मूर्ध्वति । इस में अध्याधु में क्वच् आउ प्रत्यय परेच्छा में हुए हैं ।

७५. व्यत्यय—पाणिनि ने वैदिक भाषा के लौकिक संस्कृत से भेदों को 'व्यत्ययो बहुलम्' कह कर वर्णित किया है। इस सूत्र का विस्तार इस कारिका में दिया गया है—

सुप्—तिङ्—उपप्रह—लिङ्—नराणां  
 काल—हल्—अच्—स्वर—कर्त्तृ—यङाच्च ।  
 व्यत्ययमिच्छति शाखकृद्देपां  
 सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥

भाव यह है कि वैदिक भाषा में अनेक स्थानों पर विभक्तियों, क्रिया के तिप् आदि प्रत्ययों, आत्मने—परस्मै पदों, पुल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग, उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुषों, लट् आदि लकारों, ध्वजनों, अ, वा आदि स्वरों, उदात्त आदि स्वरों, कारकों और गणों के प्रयोगों में लौकिक भाषा के नियमों की उपेक्षा पाई जाती है।



# वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

## वेदमन्त्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका

मन्त्र	क्रमसंख्या	संकेत
अद्भ्य सम्भृतं पृथिव्यै रसाद्य	३८	य० ३१।१७
पुत्राग्रानस्य महिमा	३४	ऋ० १०।९०।३, य० ३१।३
चन्द्रमा मनसो जात	३४	ऋ० १०।९०।१३, य० ३१।१२
ततो विराडजायत	२६	य० ३१।५
तदस्य प्रियमभि पाथो अश्वाम्	५	ऋ० १।१५४।५
त यज्ञ बर्हिषि प्रीक्षन्	२८	ऋ० १०।९०।७, य० ३१।९
तस्मादथा अजायन्त	३१	ऋ० १०।९०।१०, य० ३१।८
तस्माद्यज्ञान् सर्वभुत	३०	ऋ० १०।९०।९, य० ३१।७
तस्माद्यज्ञान् सर्वभुतः	२९	ऋ० १०।९०।८, य० ३१।६
तस्माद्द्विराळजायत	२६	ऋ० १०।९०।५
ता वां वात्सन्पुष्मसि गमध्वै	६	ऋ० १।१५४।६
त्रिषानूर्ध्वे उदैत्पुरप	२५	ऋ० १०।९०।४, य० ३१।४
द्याया चिदस्मि पृथिवी नमेते	१९	ऋ० २।१२।१३
नाभ्या आसीदन्तरिक्ष	३५	ऋ० १०।९०।१४, य० ३१।१३
पुहप एवेद सर्वं	२३	ऋ० १०।९०।२, य० ३१।२
प्रजापतिश्चरति गर्भेऽ अन्तर	४०	य० ३१।१९
प्र तद्विष्णु स्तरते वीर्षेण	२	ऋ० १।१५४।२
प्र रिष्णवे शूपमेतु मन्म	३	ऋ० १।१५४।३
शाङ्गणोऽस्य मुखमासीत्	३३	ऋ० १०।९०।१२, य० ३१।११
यज्ञेन यज्ञमवजन्त देवा	३७	ऋ० १०।९०।१६, य० ३१।१६
यत्पुत्रप वपदधु	३२	ऋ० १०।९०।११, य० ३१।१०



मन्त्र	क्रमसंख्या	संकेत
यत्पुरुषेण हविषा	२७	ऋ० १०।९०।६; य० ३१।१४
यं क्रन्दसी संयती विहृयेते	१४	ऋ० २।१२।८
यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् ११	११	ऋ० २।१२।५
यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो	१५	ऋ० २।१२।९
यस्य श्री पूर्णा मधुना पदानि	४	ऋ० १।१५।४।४
यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो	१३	ऋ० २।१२।७
येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि	१०	ऋ० २।१२।४
यो जात एव प्रथमो मनस्वान्	७	ऋ० २।१२।१
यो देवेभ्यो आतपति	४१	य० ३१।२०
यो रघ्नस्य चोदिता यः कुशस्य	१२	ऋ० २।१२।६
यो हत्वाहिमरिणात्सप्तसिन्धून्	९	ऋ० २।१२।३
यः पृथिवीं व्यथमानामदृहद्	८	ऋ० २।१२।२
यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तम्	१७	ऋ० २।१२।११
यः शशतो महेनो दधानान्	१६	ऋ० २।१२।१०
यः सप्तरश्मिर्दृपभस्तुविष्मान्	१८	ऋ० २।१२।१२
यः सुन्वते पचते दुध आ चिद्	२१	ऋ० २।१२।१५
यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तम्	२०	ऋ० २।१२।१४
रुचं ब्राह्मं जनयन्तो	४२	य० ३१।२१
विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम्	१	ऋ० १।१५।४।१
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्	३९	य० ३१।१८
श्रीश्च ते लक्षीश्च पत्न्याबहोरात्रे	४३	य० ३१।२२
सप्तास्यासन् परिधय	३६	ऋ० १०।९०।१५; य० ३१।१५
महत्सक्षीर्षा पुरुषः	२२	ऋ० १०।९०।१; य० ३१।१

# वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

तत्र

अकारादिवर्णां नुक्रमेण

टिप्पणीषु व्याख्यातानां पदानामनुक्रमणिका

अरु	१०१५	अमन्यमानान्	१६१५	आजानम्	३८१५
अशीयमागा	४१३	अमृतम्	२४१४	आतस्थिवागा	१४१७
अगते मन्त्र की		अयनाय	३९१४	आदत्	१०१८
भूमिना	३२११	अयास	६१७	आदर्दधि	२११३
आग्निः	३४१६	अरम्भात्	८१२ (III)	आवे भाग से विध की	
अग्ने	४२१४	अरिणात्	९१२	रचना	२४११
अच्युतच्युत	१५१४	अर्य.	१०१९	आहुः	१११५
अजायय	३११२	अर्यं पुष्टी.	१११६	इत्या	५११०
अहत्, अग्ना		अरति	२०१६	इद दीर्घं प्रयत्तं मधरथम्	३१४
अस्तभ्नात्	८१६	अश्मनोरन्तरग्नि		इन्द्र	७११४
अद्भयं सम्भृत		जज्ञान	९१८	इन्द्र.	३४१५
पृथिव्यै०	३८११	अभास	१३१२	इमा विधा	१०११
अघरं गुहाक	१०१४	अश्विनौ	४३१३	ईम्	१११४
अनुद्दाति	१६१८	अमन्	८२१९	उ	४१५
अन्तरिक्षम्	३५१२	अस्कभायत्	११८	उत त्व	२३१२
अपधा	९१६	अस्फुरत्	१८१७	उतामृतत्वस्येशानः	२३१३
अरा नेता	१३१३	अत्य	५१२	उत्तरम्	११९
अभि अदयाम्	५१५	अहिम्	९११;	उत्सः	५११५
अभ्यसेताम्	७११०		१७१५		

उदात्त	९५	गमध्वै	६५	ता	६११
उभयाः	१४६	गर्भे अन्तः	४०१	तान्	२९६
उत्क्रमस्य		गाः	९४	तानि	३७४
हि वन्धुरित्था	५९	गावः भूरिश्रद्धाः	६६	तुषिष्मान्	१८३
उरुगावः	११३	गिरिष्ठाः	२५	त्रिः सप्त समिधः	३६२
उरुगावाय	३२	गाँः	६६ (ii)	त्रिधातु	४६
उभसि	६४	घोरम्	११३	त्रिपात्	२५१
ऊर्ता	२०७	चधोः	३४३	त्रिभिः पदेभिः	३६
ऊरु	३२७ (ii)	चत्वारिंश्यां शरदि अन्व-		त्रिषु विक्रमणेषु	२६
ऊरु	३३४ (iV)	विन्दत्	१७३	त्री, पूर्णा,	४२
ऊर्ध्व उदैत्	२५२	चन्द्रमाः	३४१	त्रेधा	११२
ऊचः, तामानि,		चित्	१९२	त्वष्टा	३८३
ऊन्दांसि, यलुः	३०२	च्यवना कृतानि	१०२	त्वा	४२६
एकः	१५	जघान	१६६३	दधानान्	१६४
एतं पुरुषम्	३९१	जात एव	७२	दशानुलम्	२२५
एतावानस्य	२४२	मिगीवान्	१०७	दस्वोः	१६९
एनः	१६३	तत्	२२;	दाधार	४७
एवम्	४२१०		५१;	दानुम्	१७६
ओजायमानम्	१७४		३८४;	दासं वर्णम्	१०३
कतिधा	३२५		४२३;	दिवि	२४५
कारेः	१२५	तथा लोको अकल्पयन्		दिशः	३५७
कुन्धरः	२४		३५८	दुभः	२११
कृतः	३३२	तदस्य०	५१६	देवः देवान्	७५
कौ	३२८	तन्वानाः	३६५	देवयवः	५८
कतुना	७६	तम्	२८१	देवाः	२७३
कन्दसी आदि	१४१	तमसः	३९३		२८६
कन्दसी	१४२	तस्मात्	६६१		३६६.

	३७१	पर्वताः	१९१५	वाङ्म	४२११
	४२१२	पर्वतेषु	१७१७	मार	१३११
पवा अगन् वरो	४२१७	पशुम्	३६१६	भाष्यकारो	
देवस्य	४१११	पाय	५१४	का अर्थ ३१११	
दाम्	८१	पादोऽन्वेष्येहाभवत्		भाष्यकारो के	
दाम् आरोहन्तम्	१८१९	पुनः	२५१३	विभिन्न भाव	२७११
दाया . . श्रुधियो	१९११	पार्थिवानि	११५	भुवनानि विश्वा	४१८
दो.	३५१४	पाशे	४३१२	भूमि.	३५१६
धर्माणि	३७५	पुरुषः	२२१८	भूमिन्	२२१३
न कते	१५११	पुरुष एव	२३११	भूमिम्	२६१५
न विज्ञयन्ते		पुरुषम्	३२१३	मधुना	४११
जनामः	१५१२	पुरुषं जातमप्रतः	२८१५	मध्वः	५११४
जमेते	१९१३	पुरोहितः	४११२	मनसाः	३४१२
जमो इत्याय ब्राह्मणे	४११३	पुरुषः	२४३	मनस्वान्	७१४
नरः	५१६	पुरे माध्या देवा	३७१११	मन्त्र का भाव	२०११
नाङ्गम्	३७१७	पृथदात्मम्	२९१४	मन्त्र की समस्या	३०१३
नाथमानस्य	१२१८	प्र	२११	महि	१६१२
नाना इयते	१४१८	प्रथमः	७१३	महिमानः	३७१८
नाभ्या.	३५११	प्रथमानि	३७१६	महा	७११२
	१९१७	प्र बोधम्	११४	मुत्	३२१७ (ii)
नुनम्	११२	प्रागात्	३४१७	मुत्तम्	३२१७
गृन्थस्य महा	७११	प्रियम्	५१३	मुपान्	३४१४
पचन्तम्	२०१३	प्रीतिन्	२८१४	मृया न	
पत्न्या	४३११	बन्धुः	५१११	भासाः	२१३
पद् ( पाद )	३२१७ (ii)	बहिष्पि	२८१३	य	७११
पदे	५११२	गुध्या विजायते	४०१२	य इति	१२११
पद्मवाम	३२१४,		३२१७ (ii)	य मुन्वते	२११५
	३२१५	बाहू	३३१४ (iii)	यजुर्दे के पाठ मे	
पामे	५११३	ब्रह्म	२०१८	अर्थ में अन्तर न	
परऽनरे	१४१५	ब्रह्मण	१२१३	होना	२९११
पर्यमूयन्	७१७	ब्राह्मणः	४२१५	यसम्	२०१४;

	२२।८;	वि, अदधुः	३२।४	अत् घत्	११।८
	३६।४;	विचक्रमाणः	१।११	श्रीवात्	३४।१०
	३७।३;	विज इय	११।७	शीर्ष्णः	३५।३
यजात्	२९।२	विदधम्	२१।४	सचन्त	३७।९
यजात्सर्वहुतः	३०।१	विममे	१।६;	स जनास इन्द्रः	७।१३
यजेन	३७।२		८।३	स जातो अत्यरिच्यत्	२६।४
यत्	३२।२	विराजो अधि पुरुषः	२६।३	सद्यस्थम्	१।१०
यत्र	५।७; ३७।१०	विराट्	२६।२	सप्त परिधयः	३६।१
यदनेनाति रोहति	२३।४	विश्वकर्मणः	३८।२	सतरश्मिः	१८।१
यद् भूतं यय		विश्वतो ब्रुत्वा	२२।४	सप्तसिन्धून्	९।३; १८।५
भय्यम्	२३।२	विश्वस्य प्रतिमानम्	१५।३	संयती	१४।३
यद्गैश्यः	३३।३	विश्वा	२।७	सम्भाकित अर्यं	२७।२
युक्तप्राच्यः	१२।६	विष्णोः	१।१	संभृतम्	२९।४
यो अस्कभायत्	१।७	विष्वद्	२५।४	संमानं चिद्रथमातस्थिवांसा	१४।७
रभ्रस्यचोदिता	१२।२	वीर्याणि	१।३	सतवे	१८।४
राधः	२०।१०	वृषभः	१८।२	सर्वहुतः	२९।३
रोहसी	७।९	वृष्णे	३।३	सदस्यशीर्षा, सहस्राधः	
रोहिणम्	१८।६	व्यथमानाम्	८।२	सहस्रपात्	२२।१
वज्रबाहुः	१९।८	व्यात्तम्	४३।४	साध्वा ऋषयश्च ये	२८।७
वज्रहस्तः	१९।९	शंसन्तम्	२०।४	साशनानशने	२५।५
वरीयः	८।४	शम्बरम्	१७।१	मुत्सोमस्य	१२।८
वर्णो वी उत्पत्ति	३३।१	शर्भतं	१६।७	मुन्वन्तम्	२०।२
वलस्य	९।७	शर्या	१६।६	मुशिप्रः	१२।७
वशे	४२।८	शशमानम्	२०।५	सेति	११।२
वाजम्	२१।२	शवानम्	१७।७	सोमः	२०।९
वाम्	६।२	श्वशीव जिगीर्वो लक्ष्मादत्		सोमपाः	१९।६
वायुः	३४।८		१०।६	स्मा	११।१
वायव्यान्	२९।७	शश्वतः	१६।१	स्वधया	४।४
वास्तूनि	६।३	शुष्मात्	७।८; १९।४	हन्ता	१६।१०
वि	३२।४ (ii)	शुष्मम्	३।१	दयेते	१४।४
वि अकल्पयन्	३२।६	श्र्या	६।६ (iv)		

# वेदलावण्यम्

## सक्षेप विवरण

+ बोट वा चिह्न  
= बराबर है, समान है  
✓ धातु वा शोतक चिह्न  
अकोसु०—अमरकोष मुषादीन, भानु  
जिदक्षित, बम्बई १९२८  
अवे—अपरिवेद, अजमेर वैदिक यन्त्रा-  
लय, २००१ वि  
अर्थ—अवैस्ता भारा  
आइओका—प्रोसीटिङ्ग औफ दी  
आल इण्डिया ओरियण्टल  
कान्फेस  
आइओका० ( स )—समरीत्र औफ  
पपत्र सन्मिटिङ्गट्री आल  
इण्डिया ओरियण्टल  
कान्फेस  
आष्टे वा कोप—वी० एस० आष्टे  
स्टूडन्ट्स संस्कृत-  
इन्सिडिय दिक्शनरी,  
द्वितीय संस्करण

आश्व० गृ०—आश्वलायन गृह्यसूत्र  
उ०—पञ्चपातुगादि, समाप्य, दयानन्द  
सरस्वती उ० १९८९  
ऋ०—ऋग्वेद—सातयलेवर द्वारा  
मम्पादित मूल संहिता  
ऋभाभू०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिसा  
दयानन्द सरस्वती भार्य  
साहित्य मण्डल अजमेर  
१९९१ वि०  
ऐ०—ऐतरेय ब्राह्मण, मूल बम्बई  
एया०—ऐत्रिमौलानीत्र औफ यार्ल, हा०  
सिद्देश्वर वर्मा  
कठोप०—कठोपनिषद्  
का० य०—काण्व यजुर्वेद संहिता, प  
सातयलेवर द्वारा संपादित  
का० श्री०—कात्यायन भीत सूत्र  
कास०—काठकसंहिता, स्वाध्याय  
मण्डल, पाटली  
कौ०—कौशेताकि ब्राह्मण

गी०—भगवद् गीता  
 गो०—गोपथ ब्राह्मण  
 ग्रा० ग्रास०—ग्रासमैत्र  
 छा०—छान्दोग्योपनिषद्  
 जै० जै०—जैमिनीय उपनिषद्  
 ब्राह्मण  
 तां—ताण्ड्यमहाब्राह्मण  
 तु० क०—तुलना करो  
 तै०—तैत्तिरीय ब्राह्मण  
 तै० सं०—तैत्तिरीय संहिता, स्वाध्या-  
 यमण्डल, पाठ्यदी  
 द्पा०—दशपातुणादि श्रुति पं०  
 युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा  
 सम्पादित  
 दस०—स्वामी दयानन्द सरस्वती और  
 उम का ऋग्वेद भाष्य,  
 १ भाग, अजमेर  
 नपुं०—नपुंसक लिंग  
 नि०—निरुक्त, डा० लक्ष्मण, स्वरूप  
 द्वारा सम्पादित, मूल, १९२७  
 निघं—निघण्टु—दयानन्द सरस्वती  
 स्वामी द्वारा सम्पादित,  
 अजमेर, १९८९ वि०

नेत्रेशा०—नेत्र श्रौक वेदिक शाखाज्ञ  
 एस० के० गुप्त  
 पं० उ०; पपा०—पञ्चपातुणादिगृह,  
 स्वामी दयानन्द  
 सरस्वती द्वारा  
 सम्पादित  
 पा०—राणिनिमुनि रचित अष्टाध्यायी  
 और उम की कारिकावृत्ति,  
 बनारस  
 पा०—पारस्कराद्योपनयन सूत्रों का  
 प्रस्तुत संस्करण  
 पाटि०—पाटलिपुत्राणां  
 पा० भे०—पाठभेद  
 पीटर्न—हिम्ज़ श्रौक टी ऋग्वेद  
 प्रथम भाग  
 पु०—पुरुष; पुटिंग  
 पु०—पृष्ठ  
 प्र०—प्रथम पुरुष  
 वधसू०—वसिष्ठ धर्मसूत्र  
 वृ०—बृहदारण्यकोपनिषद्  
 भायो०—भारत-वाराणसीय काल्पनिक  
 भाष्य का कल्पित पद  
 सनु०—मनुस्मृति, चम्बई

मन्त्रसं०, मसं०—इस मन्त्रमाला में  
सप्तहीत कल्पवृक्षां  
और य० ३१ व  
मन्त्रों की चार और  
दो बड़े अतिबल  
प्रभित मन्त्रों ।  
प्रमाणों में इन  
संख्या ४ भागों  
विषयों की मन्त्रों  
हैं ।

मही०—महीष, यजुर्वेद भाग  
मु० उ०—मुण्डकोपनिषद्  
मेघ०—मेघदूत, सुधीर कुमार गुप्त  
द्वारा सम्पादित, तीसरा  
संस्करण ।

मै०—मैत्रेयसूत्र, ४० ४० और उनको  
वैदिक शब्द

मैमू०—मैत्रेय मूल

य०—यजुर्वेद संहिता, अजमेर, १९९९  
वि०

यभा०, य० भा०, य० भाष्य—  
यजुर्वेदभाष्य, स्वामी दयानन्द  
सरस्वती, ४ भाग, अजमेर

य०—यजुर्वेद

यि०—यिजुर्वेद

यिको०—सर मोनिषर मोनिषर-विलि  
यम्, सम्बुत-रुग्ण  
दिकशनरी, १८९९

ये० भा०—वेदभाष्य

येभाषा०—सुधीर कुमार गुप्त, यद-  
शास्त्रपद्धति की दशमस्क  
सरस्वती की दश

येभा०—वैदिक भाष्य

वेद०—वैदिक शब्दकोश, दो भाग,  
मैत्रेयसूत्र और यथ

वेप०—श्री वैदिक वेदिकोपनिषद्, ४०  
पत्रक वि०

वेको०—वैदिक कोष, ईश्वरराज ।

वेमाम०—वैदिक प्रामर कीर मुद्रा-  
मैत्रेयसूत्र, ४० ४० ।

वेरी०—मैत्रेयसूत्र, ४० ४०, वैदिक शब्द

वेमा०—वैदिक साहित्य, राम गोविन्द  
चिन्मयी, बनारस

श०—शतसप्त ब्राह्मण, दो भाग, बनारस

शुद्धीको०—दशम मन्त्रों

श्वे० उ०—श्वेताश्वतथोपनिषद्



सप्र०—उत्पार्थ प्रकाश, कलकत्ता,  
सं० १९८१

सं०—संस्कृत

संचं०—संस्कारचन्द्रिका, आत्माराम,  
वड़ीदा

संप०—दयानन्दभाष्यों में संस्कृत  
पदार्थ

संवि०—संस्कारविधि, स्वा० दयानन्द  
सरस्वती, अजमेर

संशकौको०—संस्कृतशब्दार्थ कौस्तुभ  
कोष, द्वारकाप्रसाद  
शर्मा चतुर्वेदी, इलाहा-  
बाद १९५७

सा०—सायणभाष्य ( ऋग्वेद ), पूना  
४ भाग ।

सा० ला०—साइवेन्ज़िय लाइटर  
सिकौ०—सिद्धान्त कौमुदी, बाल-  
मनोरमा, मद्रास

सीएसडी०—सुधीर कुमार गुप्ता, ए  
क्रिटिकल स्टडी ऑफ  
दी कम्मैण्टरी ऑन दी  
ऋग्वेद बाई स्वामी दयानन्द

सू०—इस संस्करण में सम्पादित  
पारस्फरीवोपनयन सूत्रों की  
क्रमिक संख्या और उन पर  
टिप्पणियाँ

खी०—खीलिय

हि०—हिन्दी अनुवाद

डॉ. आना भारती मंदिर पुस्तकालय का प्रथम पुस्तक  
 सुवीर कुमार गुप्त, एम० ए०, गार्गी, प्रभाकर, एम० डी० एच०,  
 मेघदूत की वैदिक कृष्ट भूमि और उमरा  
 सांस्कृतिक मन्देश



यह लेख विद्वान लेखक ने अखिल भारतीय प्राच्य महा सम्मेलन  
 में अन्तर्गत अपिप्रेषण में पढ़ा था। इस में लेखक ने अपने  
 मेघदूत के द्वितीय सम्बन्ध में व्याख्यात पौराणिक कथाओं के वैदिक  
 मूल का श्रुतमानुद्ध विस्तार कर उनसे प्राप्त मन्देश का व्यक्त  
 किया है। मथहो अनेक शास्त्रों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष  
 है कि कालिदास की व्यञ्जना का समग्रतः ने लिये योगिक वैदिक  
 याग्यान शैली का ज्ञान आवश्यक है।

व्याख्यात कथाएँ—रुन्तिन्वे, उलराम का मृतवध और  
 मारुत जनों का मदन, त्रिपुरविजय, कौञ्जमेहन, अज्ञानों की  
 याचनायथा, अज्ञान और अज्ञान, शिव और कुरर की मैत्री।

व्याख्यात शब्द—वस्तु मयान सामरूपम्, पयोः, अदराना,  
 अतिथि, द्वाणाम् मयिन, सुरपति, ताय पापान, जल,  
 अनिल भर्तु ।

परिशिष्ट—( लेखक आना भारती मन्देश और मन्त्रों का  
 हिन्दू अनुशासन । - विद्वान विवरण

प्रकाशक—

भारती मन्दिर, नई दिल्ली, गुरुजा (३० प्र०)

पुस्तक विक्रेता, विनायक और प्रापक

## लेखक की अन्य महत्वपूर्ण कृतियाँ—

१. गेषदूत—द्वितीय संस्करण। इस में विस्तृत भूमिका मूलपाठ, मल्लिनाथ की संस्कृत टीका, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियाँ, परिशिष्ट आदि हैं। लगभग सभी पौराणिक कथाओं के वैदिक मूल को दर्शाया गया है। अनुराम कृति। सुन्दर छपाई और कागज। मूल्य ५/८/-

२. संक्षिप्त दशकुमारचरित—पूर्वपीठिका के प्रथम तीन उच्छ्रवासों और उत्तर पीठिका का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित उत्तम, और वैज्ञानिक सम्पादन।

कागज. २० × ३०/१६ मजिल्द ३/४/- अजिल्द २/१२/-

३. विश्रुतचरित—मूलपाठ, संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियों और परिशिष्टों से विभूषित। मूल्य १/४/-

४. अर्थव्यञ्जकताचित्र—चित्र रूप में अर्थव्यञ्जना का स्पष्टीकरण -/४/-

5 Nature of Vedic shakhas and Authorship of the Phonetic Sutras edited by Dayananda Sarasvati. -/12/-

भारती मन्दिर, नई बस्ती, खुरजा (७० प्र०)

पुस्तक विक्रापक, प्रापक, प्रकाशक और विक्रेता

## शुक्रनासोपदेशः



डा० सुधीर कुमार गुप्त मेघदूत, सस्कृत साहित्य का सुशोभ इतिहास, दशकुमारचरित, वेदभाष्यपदानि को दयानन्द सरस्वती की देन, ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख, नेचर ओफ वैदिक शाखाज आदि उब फोटो के निदृत्ता पूर्ण आनाननात्मक ओर अनुसन्धानात्मक ग्रन्था के कारण विद्वानों, अध्यापकों ओर निगार्थियों की समाज में सुप्रसिद्ध ही हैं। आर ने आध्यात्मिक ओर सांस्कृतिक शैली अपनाई है जिस में आधुनिक दृष्टि ओर प्राचीन दृष्टियों का सुन्दर ओर प्रभावोत्पादक समन्वय पाया जाता है।

इन्हीं लब्धप्रतिष्ठ लेखक की बुद्धि ओर लेखनी से प्रादुर्भूत यह रचना वाणभट्ट की अमर कृति कादम्बरी में उपलब्ध व्यापहारिक ज्ञान के गम्भीर समुद्र शुक्रनासोपदेश का विस्तृत मूकिका, अभिनव अनिजानात्मक सस्कृत टीका, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद, भाव, सांस्कृतिक ओर दार्शनिक भावों की प्रकाशिका व्याख्यात्मक तथा व्याकरण्यादि को टिप्पणियों अलकार शास्त्र के प्रारम्भिक परिचय ओर शब्दानुक्रमखिका से युक्त एकमात्र प्रामाणिक तथा सराङ्गसुन्दर आनोचनात्मक संस्करण है। यह परीक्षार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तक, विद्वानों, आनोचकों ओर अध्यापकों के लिए मननीय ओर सप्रहणीय तथा जनसाधारण को ज्ञानवर्धक रचना है। इस संस्करण की एक विशेषता यह भी है कि यह पाठका में आगे विस्तृत अध्ययन ओर मनन की प्रवृत्ति

उत्पन्न करता है। इस में ऋग्भेद से ले कर आज तक रचे गये चाण्डमय के अनेकों ग्रन्थरत्नों का प्रयोग किया गया है।

आकार २० X ३०/१६ पृ० १२० मूल्य अजिल्द २) सजिल्द २।।)

## विषय-सूची

### आमुख

भूमिका—१-संस्कृत गद्यकाव्य के भेद-कथा और आख्यायिका (१-४); २-संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास का रूपरेखा (५-६); ३-वाण-जीवन (१०-११); ४-वाण का रचनाकाल (१२); ५-वाण की रचनाएं (१३); ६-हर्षचरित का परिचय (१४-२०); ७-हर्षचरित की संक्षिप्त कथा (२१); ८-कादम्बरी-शब्द का अर्थ (२२); ९-कादम्बरी की कथा (२३-२२); १०-वाण के गुण (३३-४३); ११-वाण के दोष (४४-४८); १२-वाण की व्यावहारिक बुद्धि और पाण्डित्य (४९-५६); १३-वाण और दण्डी की तुलना (५७-६१); १४-संस्कृत कवियों की तिथियों के निर्णय में वाण का महत्त्व (६२-६४)।

कादम्बर्यां शुकनासोपदेशः

१-२२

परिशिष्ट १—टिप्पणियां, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद और भाग।

परिशिष्ट २—अलंकार शास्त्र का प्रारम्भिक परिचय।

काव्य (२); शब्दशक्ति (३); अभिधा (४); लक्षणा (४); व्यञ्जना (४); रस (५); नायक (६); नायिका (७); गुण (८); रीति (९); कविसमयख्याति (१०); अलंकार (११)—१-अनुप्रास २-यमक ३-श्लेष ४-उपमा ५-उत्प्रेक्षा ६-रूपक ७-विरोधाभास।

शब्दानुक्रमणिका

रचना—दाईं ओर काष्ठकों में गंदकों की नंग्या दिखाई गई है।

विशेष सुविधा—प्रकाशक से डाक द्वारा मैगाई हुई पुस्तक पसन्द न आने पर पुस्तक प्रति की तिथि से तीन दिन के भीतर अपने व्यय पर रजिस्ट्री द्वारा विक्रय योग्य टकसाली अवस्था में लौटाने पर ग्राहक को उस से लिया हुआ मूल्यमात्र मनीआडर से लौटा दिया जायगा।

भारती मन्दिर, ४ हीरापुरी, गोरखपुर (उ०प्र०)

## गद्यपारिजातविवरण

इस ग्रन्थ में समृद्ध गद्य और गद्य काव्यों से चुने हुए अधो लिखित स्थला का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद दिया गया है। अनुवाद में पद्य आवश्यक पदों पर मौलिक व्याख्यात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। पाठ के आरम्भ में उमरा माग भा दिया गया है।

१—शतपथ ब्राह्मणो मत्स्यायनारोतदास ।

२—तैत्तिरायोर्षनिर्षदि शिक्षावन्त्री, भृगुयन्त्री च ।

३—वृहदारख्योपनिषदि याज्ञवल्क्यमंत्रो यासवाद् (२/४) ।

४—महाभाष्य व्याकरणोध्ययनप्रयाजनानि ।

५—समुद्रगुप्तप्रशस्त ।

६—दशकुमारचरित अष्टम उच्छ्रवाम ।

७—कादम्बर्याम— जायाल्याभ्रमचर्णनम्, जायालिवर्णनम्, मुनि-  
विषयको विचार, पतिविषये तापमाना जिज्ञासा तन्निवारण च,  
शुक्नासोपदेश ।

८—हर्षचरित सप्तम उच्छ्रवाम—(आदित युमारख्य वराहविपरिचय  
यावत्)

इस विषयमूल्या से ही पुस्तक की उपादेयता का अनुमान किया जा सकता है। इस ग्रन्थ का सा शाब्दिक, मौलिक और प्रामाणिक अनुवाद अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

पृष्ठ संख्या ३००

मूल्य ६)

सूचना—प्रत्येक प्रामाणिक प्रति पर लेखक के हस्ताक्षर अर्मेजी  
म (S K Gupta) अंकित मिलेंगे।

## विद्यार्थियों के लिये सहायक पुस्तकें—

प्रो० सुधीर कुमार गुप्त के आगामी प्रकाशन—

अगस्त-सितम्बर १९५४

(१) रघुवंश—दूसरा और तेरहवाँ सर्ग, प्रत्येक लगभग २)

(२) कुमारसम्भव—५ वाँ सर्ग, लगभग २)

(इन में विरचित भूमिका, मूलपाठ, संजीवनी टीका हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियाँ, परिशिष्ट और अनुक्रमणिकाएँ हैं) । अनुपम संस्करण ।

दिसम्बर, १९५४

(३) संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास ( प्रश्नोत्तर रूप में )  
द्वितीय परिवर्धित और संशोधित संस्करण, लगभग ३।)

फरवरी, १९५४

(४) अभिज्ञान शाकुन्तल और उसका एक अध्ययन—इसमें  
सभेद मूल पाठ, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियाँ, विरचित  
भूमिका, परिशिष्ट, अनुक्रमणिकाएँ तथा प्रश्नोत्तर होंगे ।

लगभग १०।

प्रो० गुप्त के से विद्वत्तापूर्ण, सरल, स्पष्ट, संक्षिप्त और पूर्ण  
संस्करण अन्यत्र अप्राप्य हैं । इनके मेघदूत आदि ग्रन्थ हाथों हाथ  
विक्रते रहे हैं । उनसे इन प्रकाशनों का उपादेयता का अनुमान कर  
सकते हैं ।

मूल्य अगाऊ भेज कर प्रति सुरक्षित करने वाले छात्रों और  
अध्यापकों को मूल्य का ३/४ कमीशन और फ्री डाक व्यय दिया  
जायगा । यह सुविधा केवल उन्हें ही दी जायगी जो अपनी प्रतियाँ  
क्रमशः १५ अगस्त, ३० सितम्बर और ३१ अक्टूबर १९५४ ने पूर्व  
सुरक्षित करावेंगे । इसी प्रकार पुस्तक-विक्रेताओं को भी विशेष  
अतिरिक्त सुविधा दी जायगी ।

## भारती सन्दिह,

नई दिल्ली,  
खुरजा (३० प्र०)

## अर्थव्यञ्जकतानित्रम्

इसमें चित्र व आकार में वाक्य प्रकार और साहित्यदर्पण में अर्थव्यञ्जना के प्रकारों का सरल संस्कृत में सक्षिप्त और मार्मिक व्यवस्था किया गया है। यह ७५-७०, शास्त्री और विशारद के व्याख्यान के लिए अनुपम वस्तु है। इस चित्र को दोवार पर सज्ज किया जा सकता है। बागम और छपाई बढ़िया है।

मूल्य -/४।

दृष्ट सम्मतिया—

1 Pt Gaur Shanker, M A, B Litt, P E S, Govt College Hoshiarpur (formerly at Lahore) and Member Board of Studies in Sanskrit Punjab University

It is very instructive and at the same time lucid and comparative"

2 Prof M K Sircar, M A (Calc & Dec), Formerly Head of the Sanskrit Deptt D A V College, Lahore and Lecturer Punjab University Lahore now Head of the Sanskrit Deptt Hanisa Raza College, Delhi

"I have recommended it to the M A students of the Punjab. I find the chart very useful for the students of Sahitya in M A and Shastr and Visharada Examinations"

3 Prof N N Chaudhuri, M A, K T, V T Shastri formerly Senior Lecturer in Sanskrit, Ramya College, Delhi Now Reader in Sanskrit, Delhi University, Delhi



It is admirably fitted to serve the purpose for which it is published. I have already recommended your 'citram' to my M. A. students

4. Pt. Vana Mali Sharma Chaturveda, Ahilyacharya, Kavya-Tirtha etc., Shri Mathur Chatur Veda Vidyalaya, Dempier Park, Mathura.

“श्रीयुत श्री सुधीर कुमार गुप्त” के काव्यप्रकाश तथा साहित्य दर्पण के यथार्थ अर्थानुसार अर्थव्यञ्जकताचित्र को देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। परिश्रम सराहनीय है। उनके इस काव्य में न केवल छात्रों को ही अपितु अध्यापकों को भी मरलता होती है।

इस की प्रति सभी साहित्याध्यापकों के पास अवश्य रहनी चाहिए।”

5. Pt. Brahma-nanda Suklo Vyakaranalankara Shastri, Shri Radha-Krishna Sanskrit College, Khurja (U. P.)

“प्राच्य प्रतीच्य-विद्याविनोदनिपुणानां श्रोमतां मतिमतां गुर्वार-गुप्तमहोदयानामभिनवां कृतिमार्थव्यञ्जनां चित्रतया पठस्या चित्रितमवलोक्य परं गुदमवातदानभिः। मानुः शारदायाः सेयायाः प्रसारप्रक्षारोऽयमिति चिन्तयानां महान्तमुपकारं करिष्यति इति च सर्वथा प्रचारमस्य कामये।”

भारती मन्दिर

नई दिल्ली

खुरजा (उ० प्र०)

डा० फलडमिंह, एम० ए०, डी० लिट्.,

# कामायनी सौन्दर्य



यह कामायनी की प्रामाणिक, मौकृतिक, दार्शनिक और भारतीय  
दृष्टि की मर्यादपूर्ण अनुपम आलोचना है। स्त्रीसाधियों के लिए  
शास्त्रपुस्तक, विद्वानों और आलोचकों के लिए संग्रहणीय और  
जनसाधारण का ज्ञानवर्धक है। नया संस्करण सजिन्द ४॥  
थजिन्द ४) पहला संस्करण—२)

मुख्य वितरक—

भारती मन्दिर,

नई बस्ती, लुरजा (उ० प्र०)

# कामायनी सौन्दर्य

डा० फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट्

(वैदिक एटीमॉलोजी, वैदिक दर्शन, भारतीय समाजशास्त्र; मूलाधार, साहित्य और सौंदर्य आदि प्रख्यात, मौलिक, मसार और प्रनुपम कृतियों क रचयिता)

आपने साहित्यक्षेत्र में भारतीय ढंग पर सांस्कृतिक तत्त्वों की परिचायका विवेचना का सूत्रपात कर एक नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया है। अपने साहित्य को यथार्थ रूप में समझने, उस में उचित अनुभूति प्राप्त करने तथा साहित्य को अत्रिच्छिन्न निरन्तर धारा की सतता के ज्ञान के लिए हमें इस प्रकार के मार्ग की नितान्त आवश्यकता थी।

कामायनी सौंदर्य का पहला संस्करण अगस्त १९४८ में निकला था। उस में ३+४+१६० पृष्ठ थे। उस की प्रशंसा विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की। एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए उसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया।

अब उसका नया संस्करण इस वर्ष नई सजधज के साथ प्रकाशित हुआ है। इस में पुस्तक का आकार पहले से दुगने से भी अधिक हो गया है। इस में २२+४२४ पृष्ठ हैं। विषयक्रम में परिवर्धन, परिवर्तन और संशोधन कर दिया गया है जिससे पुस्तक का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

नवीन शीर्षकों में खण्डानुसार कामायनी की कथा, दार्शनिक आधार-शिला और विश्व साहित्य में कामायनी उल्लेखनीय हैं।

पुस्तक न केवल परीक्षार्थियों के लिए ही पढ़ने योग्य है प्रत्युत समस्त हिन्दी और संस्कृत के विद्वानों, समालोचकों, भारतीय संस्कृति के प्रेमियों, भारतीय साहित्य-मेवियों और जनसाधारण के

विषय पढ़ने योग्य है। विषयसूची साय दी है जिस में पुस्तक की जानकारी का ज्ञान मद्दज में हो हो जाता है।

## विषय सूची

कथा-शरिचय—पूर्वपोठका १, चिन्ता २, आशा ३, भद्रा ४; काम ६, चामना ८, लज्जा १०, कर्म १३, ईष्यो १६; इडा २१, ध्यान २६, मधु २६, निर्वेद ३४, दर्शन ४०, रहाय ४६; आनन्द ४१।

कामायनी का आधार —

(१) दस्यु—कामायनी की देव-मभ्यता-५६, वैदिक देव-मभ्यता से तुलना-५७, कामायनी और वेदों में देव-६४।

(२) अमुरत्व—कामायनी की देव-मभ्यता में अमुरत्व ६६; यन्त्रा देव-मभ्यता-७१, अमुरमभ्यता (कामायनी में)-७५, अमुर-सभ्यता वेदों में)-७७।

(३) देवासुर-संग्राम—(क) ऐतिहासिक-७६; (ख) मौखिक-७७; (ग) दाम्पत्य जीवन-७६; (घ) राजनीतिक जीवन में-७९; भारत-प्रदेश-८०, (ङ) अमुरत्व की परतय-८२, (च) देवत्व की विजय-८२; (छ) अन्तर्जगत में देवासुर-द्वन्द्व-८३।

कामायनी के पात्र

मनु के तीन रूप—(१) वैदिक-वर्मकारण अथि—(अ) तपस्वी मनु-१००, (आ) हिंसक यशमान मनु-१०३; (२) मनु प्रजापति—१०३; इडा-१०८, रुद्र-११७, (३) प्रथम पथ-प्रदर्शन मनु—(क) 'प्रसाद' का पथ-प्रदर्शन-११६, पथ की रोज-१२०; प्राप्ति-१२०, पथ-प्रदर्शन-१२० (घ) वेद या पथ-प्रदर्शन-१२०; भद्रा-१२५, यम-यमी-१३०; कुमार-१३६; (४) जलप्लावन—१३६।

काव्य और महाकाव्य

(क) कवि और काव्य - (१) कवि-१४२; (२) रस क्या है? - १४६; (३) काव्य-१४८; (४) काव्यरस-१५१; (५) एकत्व, अनेकत्व, अद्वैत-१५३; (६) नाट्य-श्रेष्ठ-काव्य-१५७; (७) काव्य या साहित्य-१६३; (८) साहित्य काव्य के भेद-१६७; (९) आदि कवि और आदि कविता-१६८; (१०) काव्य प्रेरणा—(क) प्राचेतन-१७४; स्फोटवाद-१७५; (ग) नाद, अनाहतनाद तथा महानाद-१७७; (घ) प्रेरणा का उद्गम-१७८; (ख) महाकाव्य—(क) परम्परागत लक्षण-१८३; (ख) लक्षणों के अर्थ-१८६; (ग) लौकिक और अलौकिक समन्वय-१९१; (घ) देवागुर-संमान-१९१; (ङ) देव-द्वन्द्वचित्रण का उपयोग-१९८;

### कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्यात्मा)

(क) कामायनी में रस-१६६; भावविलास-२००, एकरस- ०७; (ख) रस का समाजीकरण-२०९; कथानक और नायक-०६; इतिहास-२०६; कथानक का सदाश्रयत्व-२१२; रस-समाजी-करण का रहस्य-२१५; (ग) चतुर्वर्गों प्राप्ति-काम-अर्थ-२१६; धर्मोच्च-२१८; (घ) कामायनी में रूपक-२२०; व्यष्टिसाधना-२१२; समष्टि-साधना-२२४ ।

### कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्य शरीर)

[क] बहिरंग-२२७; [ख] वस्तु-विस्तार की नाटकीयता-२३२; [ग] कामायनी के वर्णों विषय-प्रकृति का स्वरूप-२३७; प्रकृति-पुरुष का संघर्ष-२४३; [घ] प्रकृति के पुतलों का संघर्ष स्त्री-पुरुष में-२४४; समाज में-४४५; प्रकृति के पुतलों की भाग्य विधात्री-२४७; [ङ] नारी-रूप २४८; [च] प्रकृति-चित्रण-२६० ।

### दार्शनिक आधार-शिला

[१] व्यक्तिगत जीवन की देन-२७५; [२] गीतों की विभूति-

२६६ [३] जेवागम का प्रभाव ३०० [५] 'लहर' से त्रिपुर मुन्दरी-  
कामरला-२३५ महात्रिपुरसु दरी-३०८, त्रिपुर-३३०, शक्तिशक्तिमान-  
३३०, [८] समाज-ममीक्षण की समृद्धि-३१६।

त्रिपुर साहित्य में रुमायती—

आदिमानव या मानव सामान्य

(क) मन्वन्तर-३६८, मन्वन्तरों का रहस्य-३७३, (ख) विश्व  
साहित्य में मन्वन्तर-३८५।

आदि मानव—(ग) आदि मानव का रूपान्तर ३६६ प्रमुख  
महासाध्य ४०० उपसंहार ५१३।

### कुछ सम्मतियाँ

यह गम्भीर लेखक के पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य  
शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम है।

'डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्

'डा० पतहर्मिंद्र जी ने 'कामायनी' का विवेचन दार्शनिक,  
सांस्कृतिक और प्राचीन परम्परा के दृष्टिकोण में किया है।

यह पुस्तक हिन्दी के गौरव को बढ़ाने वाली है।' देशदूत।

'प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने वैदिक साहित्य का धार्मिक  
अनुशीलन इसके विशुद्ध भारतीय परम्परा और कामायनी की आधार-  
भूत बातों का विस्तार के साथ समझाया है।' बीणा

'मनु, धन्वा, इडा, कुमार और जनकलायन का शृंखलाबद्ध  
इतिहास पहली बार कामायनी मौल्य में मिलता है। महासाध्य के  
लक्षणों का विश्लेषण भी हिन्दी में पहली बार इतनी गम्भीरता से  
हुआ है। यों 'कामायनी-सौंदर्य' कामायनी पर लिखी सभी पुस्तकों  
में निराली और अनुपम पुस्तक है।' साहित्य मन्देश

डा० कन्हामिह एम० ए०, डी० लिट्

## साहित्य और सौन्दर्य

कानायनी सौन्दर्य के प्रख्यात लेखक की दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टि ने इस पुस्तक में प्रतिपादित विचारों को परम देदीप्यमान कर दिया है। लेखक का प्रकाशित वैदिक ज्ञान शास्त्रीय विषय के मूल सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में एक प्रभावशाली और रोचक तथा युक्तियुक्त साधन बन गया है। उससे वे इन विषयों को जीवन और उसकी संस्कृति का अंग बनाकर काव्य के चतुर्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य को सम्भव कर पाए हैं। पुस्तक में छे निबन्ध हैं, जिनके विषय तो पुराने ही हैं, परन्तु दृष्टि और प्रतिपादनशैली एक नया नई और वास्तविक है।

### निबन्धों के शीर्षक—

[१] कवि और काव्य—१-४४, [२] भारतीय महाकाव्य—  
४४-६२, [३] नेमिब्रूत का काव्यत्व—६३-७६, [४] माहेश्वर  
और संस्कृति—७७-८८, [५] सौन्दर्य और उसका शास्त्र—  
८९-११४, [६] पूर्व की ओर—११४-१३१। अन्त में पद सूची है।

द्वितीय और तृतीय अध्याय आदि आरूपक हैं। मूल्य १-१४-०  
डा० उष्य (मायारण बुक पोस्ट) ०-२-६

### कुछ सम्मनियों—

'कवि और काव्य' में लेखक ने विशेषतः 'रस' और 'काव्य' पर अपूर्व विचार सामने रखे हैं। लेखक का गंभीर मनन, मनन का निदिध्यासन, इस निबन्ध का पंक्ति-पंक्ति में बोल रहा है। मैं तो इसे हिन्दी साहित्य की संरक्षि मानता हूँ। और सब से बढ़िया बात यह है कि नये नये होते हुए भी लेखक की दृष्टि और आस्था





व्यंजनाओं और कलात्मक स्फुरणाओं से युक्त हैं। लेखक का यह प्रवास परम सफल और रोचक बन पड़ा है।

मूल्य १.४०० टाक वयव (साधारण बुक पोस्ट से) ०-२-०

भीमसेन शास्त्री, विद्याभूषण, एम० ए०, एम० आर्० एल०

## अलंकार दीपिका—

शास्त्री जी ने इसमें आगरा, राजपूताना आदि विश्वविद्यालयों में बी० ए० संस्कृत के पाठ्य-क्रम में निर्धारित काव्यदीपिका की अष्टम शिखा का विस्तृत उपोद्घात, हिन्दी अनुवाद और व्याख्या तथा परिशिष्टों और अनुक्रमणिकाओं से विभूषित सम्पादन किया है।

प्रथम परिशिष्ट में उदाहरणप्रतीक सहित समस्त कारिकाएँ दी गई हैं। उन से विषय को स्मरण कर परिशिष्ट २, ३ और अनुक्रमणिका २ की सहायता से विद्यार्थी अपनी परीक्षा स्वयं ले सकता है।

पृष्ठ संख्या—१:० आकार २०×३०/१६

मूल्य १-१२-० टाक वयव =)

मुख्य वितरक—

भारती मन्दिर, खुर्जा (३० प्र०)

पुस्तक विज्ञापक, भाषक प्रकाशक व विक्रेता

डा० फलहसिंह एम० ए०, डी० लिट

## वैदिक दर्शन

(इरजानस डालमिया पुरस्कार से पुरस्कृत और राजपूताना विश्वविद्यालय से स्नातक प्राप्त)

सामायनी सौन्दर्य आदि के प्रख्यात रचयिता की यह कृति अपनी अनन्य ही विशेषता रखती है। वैदिक दर्शन का इतना गम्भीर, विस्तृत, वैज्ञानिक, तार्किक और विशद व्यवधान अन्यत्र उपलब्ध नहीं। मैक्समूलर काउमन, कोथ, डा० रावाकृष्णन आदि की कृतियों में वैदिक दर्शन की गूढ़ और वास्तविक विचारधारा का परिचय प्राप्त नहीं होता। ब्रह्मसूत्र ऋषियों के दर्शन को प्रायः प्राय प्राकृतिक देवी-देवताओं, जड़ वस्तुओं आदि की स्तुति तक सीमित रखना ही इतर कृतियों में पाया जाता है। यह कृति इन दोषों में मुक्त है। लेखक की दृष्टि बड़ी व्यापक है। उसका क्षेत्र ऋग्वेद में उपनिषदों तक फैला हुआ है। सर्वत्र यद्य एक ही दर्शन, एक ही भाव, एक ही विचारधारा को पाता है। सक्षेप से इस कृति ने वैदिक दर्शन के विभिन्न तन्त्रों का समन्वय कर उन्हें एक सूत्र में पिरो सुन्दर सुकताहार का रूप दे दिया है। आकार २० × २०/१६ पृष्ठ २७४ मूल्य अजिल्द ४) मजिल्द ६) बाबब्यय ॥॥, १२)

### विषय सूची

- विण्डाएट—१. अयोध्यापुरी—[क] माटी का पुतला—१;  
[ख] पञ्चमोग—२. [ग] शरीरत्रय तथा तीन अवस्थाएँ—१।  
२ शक्ति—[क] क्रियाशक्ति—११; [ख] ज्ञानशक्ति—१३;  
[ग] इच्छाशक्ति—१४, [घ] सौन्दर्यानुभूति—१७, [ङ] अन्तःकरण तथा परा शक्ति—२२।

३. शक्ति और शक्तिमानु—[क] ओ३म-उमा-२४; [ख] वाक्-२५; [ग] आगम ग्रन्थों में वाक्-२५; [घ] नाद, अनाहत-नाद और महानाद-२७; [ङ] वाक् और वेद (अथवा शिर)-२६; [च] व्याहृतियां तथा ब्रह्मवाक्य (वेद)-३३ ।

४. पुरुष—[क] पुरुष और शक्ति का विकास-३४; [ख] एकस्वरीय से बहुस्वरीय संगीत-३६; [ग] पौकत पुरुष-४०; [घ] सम्राज, स्वराज् तथा विराज्-४६; [ङ] विमर्श और माया-४७ ।

पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड—१. मूल सिद्धान्त—[क] सादृश्य और एकता-६३; [ख] दोनों की एकता-६६; [ग] समाज के तत्त्व—७२; [घ] सादृश्य-एकता सिद्धान्त का महत्त्व-७४ ।

२. वैदिक-देवता-जन्म, जनक और जननी—[क] उत्पत्ति-७६; [ख] निधायरुण-८१; [ग] वरुण और आपः-८६; [घ] वाक्, वरुण और देवी-८६; [ङ] वरुण, असुरत्व तथा महत्-६७ ।

३. अदिति, दिति और उनके पुत्र—[क] अदिति और दिति-१०१; [ख] आदित्य और मनुयज्ञ-१०५; [ग] अग्नि-१०८; [घ] सोम-११५; [ङ] सोमवृत्त-१२५; [च] इन्द्र-१३५ ।

इदम् और अहम्—१. त्रिवेद और उनके शत्रु-मित्र—[क] श्वेन, सोम तथा इन्द्र-१४२; [ख] गायत्री, श्वेन तथा सोम-१४५; [ग] शम्बर, वृत्र, शुष्ण और सर्पराज्ञी-१४५; [घ] अश्व, अश्विनौ तथा उपारात्री-१५७; [ङ] बृहती, बृहस्पति तथा ब्रह्मा-१७१ ।

२. इदम् और अहम् की त्रिकुटी—[क] नाम-रूप-कर्म-१७८; [ख] छन्द और छन्दामा-१८२; [ग] ऋषि, देवता और छन्द-१८५; [घ] ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र-१६२ ।

नामरूप जगत्—१ उत्पत्ति—[क] सृष्टि-१६६, [ख] प्रजनन-२०७ मिथुनत्वप्रक्रिया-२०८, [ग] साम सृष्टि-२६०।

२ सृष्टि प्रक्रिया—अशुद्ध और शुद्ध सृष्टि—[क] अर्ध-२१७, [ख] मयत्सर और उमरो प्रतिमा-२१० [ग] मयत्सर की वाक् २१४ [घ] मय मर की सृष्टि-२१४।

३ दाहन प्रक्रिया—[क] पंच धाम और पंच क्रम-२३८, [ख] दाहन का विवरण-२३४ अमुरधाम का दाहन-२३४ पितृ-लोक का दाहन २३४ मनुष्यलोक का दाहन-२३४ ऋषिलोक का दाहन २३४ देवलोक का दाहन-२३५ गन्धर्वाभरमां के लोक का दाहन २३५ सण्त्तर का दाहन-२३४ इतर-जत लोक का दाहन-२३६।

४ कल्पप्रक्रिया—[क] सृष्टि और सृष्टि २३८, [ख] श्वर और कल्प २४०।

५ ऋतु प्रक्रिया—[क] ऋतु-२४१ [ख] ऋतु और ऋतु-२४४ [ग] वैराजिक सृष्टि पर सिद्धयलोकन-२४५।

बुद्ध सम्मतिया

*Dr. Sanku Kumar Chatterji, Calcutta University*

I admire the wide range of reading and thought you manifest in your work. You have sought to give the esoteric, philosophical background of the Vedas as forming the basis of Hindu philosophy, ritual and mythology. This is a most fascinating topic and naturally those who believe in the unity of Indian culture and in the ideology behind the Veda to be identical with those behind the Purana and the Jantra will find your work to be stimulating and full of new ideas."

*His Excellency R. R. Dirakar, The Governor of Bihar.*

"I am glad that you have upheld the view that the Vedas are not merely a collection of the babblings of infant humanity but are full of guidance to spiritual aspirants."

*Dr. C. K. Raja, The Iranological Institute, Tehran (Iran)*

"I find that you have given some new interpretation and that it is very deep and comprehensive."

मुख्य वितरकः—

भारती मन्दिर, नई बन्ती, गुरजा (३० प्र०)

पुस्तक चिन्तापक, प्रापक, प्रकाशक और विक्रेता

डा० फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट्

## भारतीय समाज शास्त्रः मूलाधार

मूल्य सजिल्द १०।) अजिल्द १५) डाकब्यय १।)।

डा० फतहसिंह कामायनी सौन्दर्य, वैदिक दर्शन, साहित्य और सौन्दर्य तथा वैदिक एटिमोलोजी आदि उच्च कोटि के विद्वत्ता-पूर्ण अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों के कारण विद्वत्समाज में सुप्रसिद्ध ही हैं। उनकी आध्यात्मिक, और सांस्कृतिक शैली ने अध्ययन की एक नई परम्परा चलाई है जिसमें आधुनिक दृष्टि और प्राचीन दृष्टियों का सुन्दर और प्रभावात्पादक समन्वय किया है।

इन्हीं प्रख्यात लेखक की लेखनी से यह पुस्तक प्रकट हुई है। 'प्रस्तुत पुस्तक समाजशास्त्र पर लिखी गई अब तक की सभी

पुस्तकों से अलग-सी जान पड़ेगी। अब तक जो पुस्तकें इस विषय पर लिखी गई हैं उनका दृष्टिकोण प्रायः भौतिकवादी ही रहा है, परन्तु यहाँ पर समाजशास्त्र को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा गया है। दूसरी विशेषता यह है कि उममें उन समाज शास्त्रोय सिद्धान्तों का भी यथासंभव समावेश किया गया है जो भारतीय ऋषियों एवं मुनियों के मुस्लिम में उद्धृत हुए थे। यथासंभव इन सिद्धान्तों के क्रियान्मक रूप तथा उस पर आश्रित एवं उसमें अनुशासित समाज के क्रमिक विकास को भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है।

### विषय सूची

१. विषय प्रवेश—परिभाषा-१-५, विषय का स्वरूप और विस्तार-५ १७, अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध-१७ २३।

२. समाज और व्यक्ति—[क] समाज का नासंख्य-२४-२४; समाज और लोक-२५-३१, लोकत्व और समाजत्व-३१-३२; लोकमत, समाजमत और राष्ट्रमत-३२-३३ अन्तर्राष्ट्रीय समाज ३३-३४, विश्वसमाज-३४-३७, समाज क्या है?-३७-३६; [ख] व्यक्ति का नाम-रूप-व्यक्ति-४०-४०, चिन्तन की अभिव्यक्ति ४०-४१ व्यक्ति का व्यवहार-४५-४७, समाज की दृष्टि-४७ ४६, [ग] व्यक्तियों से समाज बनता है। -४० ५६।

३. प्राणन-यज्ञ—[क] प्राणन-५७ ५८ [ख] यज्ञ की कल्पना ५८-५६, पुरुषयज्ञ-५६-६३, समष्टि में पुरुषयज्ञ-६१-६६, समाज में पुरुष-यज्ञ-६६-६७, पुरुष-यज्ञ का प्रतीक ६७-६८, शिवलिंग -६८-७२।

[ग] भ्रम-यज्ञ-७३-७४; भ्रम का महत्त्व-७४-७४, भ्रम

वर्गीकरण-७५-८०; वर्गव्यवस्था-८०-८२; [घ] आशमण-८२-८५; श्रमणवाद-८५-८७।

४. समाज का विकास - [क] विकास के सात लोक-८८-८९; व्यक्ति-विकास-९२-९३; व्यक्ति में ममष्टि का विकास-९३-९५; लोक में समाजत्व का विकास-९६। [ख] हास के लोक-९६-१०१; [ग] चार युग-१०१-१०५; युग-भेद-१०५-१०६; [घ] नारी, नारायणी और बृहती-१०६-११५; [ङ] मन्वन्तर-११५-१२१; मन्वन्तरों का रहस्य-१२१-१३५।

५. विकास-मिथान्—सिद्धावलोकन-१३५-१३८; उत्क्रमण-निक्रमण-११८-१४८; अनुविचलन-१४९-१५४; समाजग्रथ-१५४-१५७; पुरुषवाद-१५७-१६४; चार मोहरे-१६४-१६८; आधुनिक विकासवाद के ढंग पर-१६८-१७३।

६. विकास के मत—ऐतिहासिक मत-१७४-१७८; आत्मवादी मत-१७८-१८६; अवतारवाद-१८६-२०५।

७. भारतीय विकासवाद और क्रान्तिकम-[१] भारतीय विकासवाद-२०५-२०७; [१] भारतीय संस्कृति का क्रान्तिकम-२०८-२१४; [३] गान्धी का मामगान-२२५-२३७।

द्वितीय खण्ड में भारतीय समाजशास्त्र के क्रियात्मक रूप और तृतीय खण्ड में वर्तमान समाज और उसको समन्वयों का विवेचन होगा।

मुख्य विवरक —

**भारती मन्दिर, नई बस्ती, खुरजा (७० प्र.)**

पुस्तक विज्ञापक, प्रापक, प्रकाशक और विक्रेता



*Dr Iatah Singh, M A, D Litt*

# The Vedic Etymology.

(Being)

A Critical evaluation of the Science of Etymology as found in Vedic Literature

The book contains a critical evaluation of all the etymologies found scattered over the vast Vedic Literature. These derivations have often been regarded as 'nonsense', having no philological value at all. On critical examination however, the present work has found them not only to be of utmost philological value but even of great help to the interpretation of Vedic texts.

In his foreword the author has discussed the problems concerning the nature of Vedic Etymologies, the apparent absurdity in them and words having more than one derivation and has finally arrived at certain laws of semantics underlying these etymologies. The number of these laws is eleven. It forms a part of the author's D Litt Thesis of the Banaras University.

The book is thus indispensable to all students, teachers, research scholars of Vedic Literature, philology, Sanskrit Literature and philosophy and religion.

Number of entries 833    Fine printing & get up

Page 235    Size 20 30 8    Rs 24/-

*O of Agents & Suppliers —*

**BIHARATI MANDIRA,**

**Nai Basti, KHURJA (U P)**

*Mailers, Order Suppliers, Book sellers & Publishers*



**ANNOUNCEMENT:--**

The research department attached to the Bharati Mandira proposes to issue the following books in 1955. Orders can be booked in advance on payment of prices indicated against each.

१. सूर्यदेवह्यपरिष्ठितवैदिकभाष्यम्--The work will contain all the comments of the author on Vedic Mantras found scattered in his commentary on the Gita. The book will also contain footnotes giving interpretations of other commentators & scholars. Rs. 10/-/-

२. निघण्टुनिरुक्तनिर्घण्टनादिकोषः (शास्त्र-कोषः):--

The work will contain all the etymologies, interpretation and discussions found in the Nighantu and the Nirukta. New light is also thrown on some readings of the two works, not noticed by Dr. L. Sarup. Rs. 20/-/-

३. दयानन्द्रीयनिघण्टुनिरुक्तभाष्यम्--The work will contain all the interpretations of Nighantu words and Nirukta passages found in the works of Dayananda Sarasvati. Rs. 5/-/-

4. Etymologies in the work of Dayananda. It is proposed to evaluate critically all the etymologies found in the works of Dayananda. Rs. 20/-/-

Issued by:--

The Research Department.

**BHARATI MANDIRA,** Nai Basti,

*KHURJA. (U. P.)*

## आचार्य अमरदेव जी

१ वैदिक उपदेशमाला—इस जपु कृति में बारह वैदिक उपदेशों का व्यवस्थित और प्रतिपादन किया गया है। इनके प्रयोग में प्रत्येक मानव अपने, कुल, समाज और राष्ट्र के जीवन को उन्नत बना सकता है। लेखक की इच्छा है कि प्रत्येक मानव एक काम में एक उपदेश पर आचरण करे और इस प्रकार एक वर्ष में समस्त उपदेशों का अपने जीवन का अंग बना ले। उपदेशों के शीर्षक ये हैं—

[१] उपदेश ग्रहण करना-१, [२] एकान्त विचार-८, [३] प्रातःकाल उठना-१६, [४] प्रलोभन को जीतना-२३, [५] धीयरक्षा-३१, [६] त्याग-४२, [७] देशभक्ति-५४, [८] सुशासन-६१, [९] भ्रष्टा-६७, [१०] सत्य-७६, [११] अहिंसा-८३, [१२] विजयप्रेम-६१।

तीसरा संस्करण मूल्य आज़ाद ०-१२-०

हाकरवय ०-१६

२ वैदिक चिनय—प्रथम खण्ड—यह इस ग्रन्थ का पाँचवा

संस्करण है। पूरे संस्करणों में मामूली प्रायुदायक व्याथामों का समाप्त था, वह इसमें दूर कर दिया गया है। चित्र आटूटनेपर पर एक रंग में छपे हैं। प्रतिदिन के पाठ के लिये एक वेद मन्त्र भावात्मक व्याख्या और शब्दार्थ सहित रक्खा गया है। पुस्तक स्वाध्याय और प्रार्थना के लिये उत्तम और उपयोगी है। प्रथम खण्ड में चार मन्त्रों के स्वाध्याय के निमित्त १२४ मन्त्र हैं।

मूल्य २-०-०

हाकरवय ०-५-६

३ तरंगित हृदय—इस कृति में लेखक ने अपने मानस-सर में उड़ने वाली विचारतरंगों के २१ शब्द चित्र मञ्जित किये हैं। स्वर्गीय स्व. भट्टानन्द जी का कथन है—'तरंगित हृदय से निकली

हुई विचार तरंग माला का हृदय का ढार बना कर जो शुद्ध हृदय सञ्जन पहिरेंगे, मास्तिष्क को शान्त करने वाली सुगन्धी उन्हें अवश्य मिलेगी।

### संगृहीत शब्द चित्र—

[१] नमस्कार-१; [२] तेरा कौन है?-५; [३] चातक का वैराग्य-८; [४] थोड़ा सा-११; [५] सताने वाला कौन है?-१५; [६] प्रतिष्ठा-२५; [७] 'थोड़ा सा'-३३; [८] हंसता हूँ-४१; [९] सन्ध्या-४६; [१०] उद्बोधन-१०; [११] भयंकर-अग्निकाण्ड-५४; [१२] तेरी धोखेवाजी-६७; [१३] नग्नता-७४; [१४] मेरी यात्रा-७६; [१५] अदूरदृष्टि-८५; [१६] निराले आदमी-६३; [१७] ज्ञान की प्राप्ति-१००; [१८] घर का स्वामी-१०५; [१९] योगमय-१०८; [२०] चले चल-११३; [२१] ओह वह प्रार्थना-११७।  
छपाई आदि उत्तम। पाँचवा संस्करण। मूल्य १-४-०  
डाकव्यय ०-२-६

४ मन नहीं टिकता क्या करें?—इस विद्वान्ता पर आचार्य जी ने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को समय-समय पर जो उत्तर दिये हैं वे यहाँ पर सुचारु रूप से संगृहीत हैं। इनमें मन को एकाग्र करने के उपायों का विवेचन किया गया है। पृष्ठ संख्या २१।

मूल्य ०-३-० डाकव्यय ०-१-०

### ५-वेदरहस्य—३ खण्ड

इस ग्रन्थ में आचार्य जी ने श्री अरविन्द की अनुमति से उनके 'The Secret of the Veda' का हिन्दी अनुवाद किया है। आवश्यक स्थलों पर संक्षिप्त कथन को कुछ समझा कर लिखा गया है तथा अन्य परिधर्षन भी किए गये हैं जिससे हाँ पुस्तक उपयोगी हो गई है वहाँ अनुवाद होते हुए भी स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बन पड़ी है।

प्रथम खण्ड में वेद का प्रतिपाद्य विषय, द्वितीय में चुने हुए सूक्तों का अनुवाद और तीसरे में देवताओं के स्वरूप का विवेचन है।

खण्डशः विषय सूची—

१म खण्ड—[१] वरुण और उषसा हल-१, [२] वैदिकवाद का मिहावलोकन (क)—पंडितक साहित्य-११, [३] वैदिकवाद का सिद्धावलोकन (ख)—वैदिक विद्वान्-२१; [४] आधुनिक मत-३०, [५] आध्यात्मिकवाद के आधार-४४, [६] वेद की भाषावैज्ञानिक पद्धति-६२, [७] अग्नि और सत्य-७५; [८] वरुण, मित्र और सत्य-६०, [९] अग्नि, इन्द्र, विश्वदेवा-१०३; [१०] सरस्वती और उसके सहचारी-११८, [११] समुद्रों और नदियों का रूपक-१३०; [१२] मातृ नदियों-१४२; [१३] उषा की गोप-१६०, [१४] उषा और सत्य-१७०, [१५] आंगिरस उपारुपान और गोओं का रूपक-१८१; [१६] ग्योया हुआ सूर्य और खोयी हुई गोप-१९८; [१७] आंगरिच प्रथि-२१३; [१८] सात-खिरीं वाला विचार, स्वः और दशम्या अथि-२३३, [१९] मानव-वितर-२५८; [२०] वितर की विषय-२७०; [२१] देवशुनी सरमा-२८६; [२२] अन्वहार के पुत्र-३०८; [२३] दस्युओं पर विजय-३२८; [२४] परिणामों का भार-३३८।

द्वितीय खण्ड—[१] इन्द्र और अगस्त्य का संवाद-१७, [२] इन्द्र, दिव्य प्रकाश का प्रशंसा-२३, [३] इन्द्र और विचार-शक्तियों-३६; [४] अग्नि प्रकाशपूर्ण संकल्प-५०; [५] सूर्य सविता, रचयिता और पोषक-६४, [६] दिव्य उषा-७५, [७] भग सविता आतन्द्रोपमास्ना-८८, [८] वायु, प्राण शक्तियों का अधिपति-९४, [९] ब्रह्मसति आत्मा का शक्ति-१०७, [१०] अर्यादेव-भानन्द के अधिपति-१२२; [११] ऋभु-अमरता के शिल्पी-१३६, [१२] विष्णु,

विश्वव्यापी देव-१४४; [१३] सोम, आनन्द व अमरता का अधिपति-१४६ ।

रैतीय खण्ड—[१] (श्री अरविद का) प्राक्कथन-६; [२] वैदिक यज्ञ और देवताओं के रूपक-३६; [३] पराशर ऋषि के आग्नेय सूक्त (मण्डल-१)-५०; [४] परुच्छेप ऋषि के आग्नेय सूक्त (मण्डल-१)-७६; [५] गृत्समद ऋषि के आग्नेय सूक्त (मण्डल २)-८४; [६] भरद्वाज ऋषि के आग्नेय सूक्त (मण्डल-६)-१२२; ।

छपाईं छादि सुन्दर और आकर्षक ।

मूल्य अजिल्द क्रमशः ८), ३), ४);

सजिल्द क्रमशः ६), ४), ५)।

टाक व्यय (साधारण) क्रमशः—

अजिल्द—०-६-०; ०-५-६; ०-५-६

सजिल्द—०-६-६; ०-६-०, ०-५-६

विज्ञापक और प्रापक

भारती मन्दिर, नईवस्ती, खुरजा (उ०प्र०)

पुस्तक विक्रेता व प्रकाशक

पं० उदयश्रीर शास्त्री,

## • साँख्य दर्शन का इतिहास—

(हास्य विषयक बहिरंगपरीक्षात्मक मौलिक ग १)

मुन्दर छत्राई और कागज - कपड़े की जिन्द पृष्ठ ३० । १-६ आकार  
२० × ३० स ३०) हास्यय (मागारण १-)

लेखक की विद्वत्ता उनकी उपाधियों में ही आई जा सकती है। आप विद्याभारत, घेदरत्न, न्यायतोर्थ, साध्य-योग तीर्थ और ब्रह्म-ना-चार्य हैं। अपनी भूमिका में श्री डा० चामुदेव शरण अमरनाथ निर्यत है—'साँख्यदर्शन के इतिहास का विवेचन एक प्रकार से गचान भारतीय दर्शनिक विचारों के मागोवाग इतिहास में सम्बन्धित है। श्री उदयश्री जी ने अत्यन्त श्रम, प्रिय, विस्तृत अध्ययन और सूक्ष्म विवेचनात्मक प्रणाली में साँख्यदर्शन के इतिहास—विक्रम की सभी प्रय न समयाश्री पर प्रकाश डाला है, उन्होंने अपने ग्रन्थ के दो भाग विचे है। प्रस्तुत भाग जो स्वयं काफी विस्तृत है, साँख्य शास्त्र की एक प्रकार से बहिरंग परीक्षा है।'

श्रीयुत शास्त्री जी की जो स्थापना मन में अधिक माननीय महत्त्व-पूर्ण और स्थायी मूल्य की कही जायगी, यह यह है कि पट्टयाथात्मक सूत्रों के रूप में निर्मित जो शास्त्र है, जिसका प्राचीन नाम 'पट्टितन्त्र' था, उसके कर्ता कविन थे। पट्टितन्त्र को मूल ग्रन्थ मानन के विरोध में हीन युक्तियाँ दी जा रही हैं। शास्त्री जी ने बहुत ही प्रामा-णिक ढंग में समभवत पहली बार ही उन युक्तियों का आमूल निराकरण किया है। ... ..

डा० मणलदेव शास्त्री ने अपने प्राक्वधन में लिखा है— प्रसन्नता की बात है कि हमारे प्राचीन मित्र श्री पं० उदयश्री शास्त्री जी ने जो

सांख्य दर्शन के गिने चुने विद्वानों में हैं, प्रकृतदर्शन का दार्शनिक तथा ऐतिहासिक दृष्टियों से वर्षों तक गम्भीर अनुशीलन करने के पश्चात् अपने विचारों को लेखबद्ध किया है। प्रस्तुत पुस्तक में सांख्यसाहित्य के क्रमिक इतिहास की दृष्टि से अपने विचारों का विद्वत्तापूर्ण शैली से निरूपण किया है। ग्रन्थ आपके गम्भीर अध्ययन और अध्यवसाय का उच्चतम प्रमाण है। आपके विचारों से सर्वत्र मःमति हां या न हो, पर ग्रन्थ को उपयोगिता और उदादेयता में सन्देह हो ही नहीं सकता। इसमें पूर्ण आशा है कि विद्वन्मण्डली उत्साह के साथ हृदय से इस ग्रन्थ का अभिनन्दन और स्वागत करेगी।

पुस्तक आठ प्रकरणों में समाप्त हुई है जिनके नाम हैं—(१) महर्षि कलि-१-६६; (२) कपिल प्रणीत पण्डितन्त्र-७०-१०३; (३) पण्डितन्त्र अथवा सांख्यपञ्चधाया-१०४-१७३; (४) वर्तमान सांख्यसूत्रों के उद्धरण-१७४-२२२; (५) सांख्यपञ्चधाया की रचना-२२३-२७६, (६) सांख्यसूत्रों के व्यवहार-२२०-२३७, (७) सांख्यसप्तति व्याख्या-कार-२३८-४७३, (८) अन्य प्राचीन सांख्यकार्य-४७४-५६६।

**भारती मन्दिर, खुर्जा (उ० प्र०)**

पुस्तक विज्ञापक, प्रापक, प्रकाशक व विक्रेता

डॉ० सुधीर कुमार गुप्त, एम ए., पीएच. डी., शास्त्री, प्रभाकर  
 संस्कृत-साहित्य का सुबोध इतिहास



यह लौकिक सस्कृत साहित्य का प्रामाणिक, नई खोजों के रस  
 विभूषित, कोष आदि के इतिहासों के समान मौलिक, उच्चमतीय, संपूर्ण,  
 सुन्दर और शुद्ध द्वारा हुआ तथा कालिदास की निधि आदि अनेकों शैक्षिक  
 समस्याओं पर नया प्रकाश डालने वाला एकमात्र संस्करण। यह  
 विद्यार्थियों के लिए पाठ्य और सहायक पुस्तक, विद्वानों और विचारकों के  
 लिये विचारों को उद्बोधक और समग्रणीय, सर्वसाधारण के ज्ञानवर्धक  
 तथा रोचक, पारितोषिक और भेद के उपयुक्त तथा पुस्तकालय-योग्य है।  
 दूसरा संस्करण कर्गलवद्ध ४ अथवा ५/१

भारती मन्दिर, ४ हीरापुरी, गोरखपुर (५)



# संस्कृत साहित्य का सुवोध इतिहास

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, स्वर्णपदकी

(वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन, मेघदूत और उस की वैदिक पृष्ठभूमि, दशकुमारचरित, शुकनासोपदेश, गद्यपारिजातविवरण, संस्कृत व्याकरण, अर्थव्यञ्जकताचित्र, नेचर और वैदिक शाखाएँ और ऋग्वेद का धर्म, पास्कुर गृह्यसूत्रस्थ उपनयन सूत्र और वैदिक सूक्तसंग्रह आदि के प्रख्यात, मौलिक और ससार लेखक तथा सम्पादक)

डा० सुधीर कुमार गुप्त एक प्रसिद्ध और अनुभवी विद्वान् हैं। आप की लेखनी में शक्ति है, भाषा में ओज और बल हैं। विषयवर्णन में गाम्भीर्य सरलता, स्पष्टता, विशदता और नई दृष्टि हैं। आप की शैली युक्तियुक्त और प्रवाहशील हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत साहित्य के विकास का एक सुगम, संक्षिप्त अर्थात् संचिप्य और क्रमिक परिचय प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

यह इस पुस्तक का दूसरा संस्करण है। इस का पहला संस्करण १९५१ में रोहतक से एक सहायक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ था। उस में लगभग १६० पृष्ठ थे। अध्यापकों ने उस की मुक्तकण्ठ प्रशंसा की। विद्यार्थियों में वह इतना प्रिय हुआ कि दो वर्ष में ही वह संस्करण समाप्त हो गया।

अब यह दूसरा संस्करण नई सज्जध के साथ प्रकाशित किया गया है। इस में ग्रन्थ की काया ही पलट गई है। इस का आकार पहले से कई गुना बढ़ गया है। इस में कुल ६१० पृष्ठ हैं।

इस संस्करण में अनेकों नये विषय सम्मिलित कर दिये गए हैं। पहले से विद्यमान विषयों में आवश्यक परिवर्तन और संशोधन भी कर दिये गये हैं, यथा नाटककार और काव्यकार कालिदास के पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व का सम्पादन

और उन की तिथि, उपमा कालिदासत्व, भास और शुद्रक को तिथि और व्यक्तित्व तथा नाटक को उत्पत्ति के बार्दों के स्थल ।

इस संस्करण में कवियों ने गुण दोषों के साथ उन के ग्रन्थों के सार और अन्य कवियों से तुलना भी दिए गए हैं । पाठटिप्पणियों में B. A., B. A. Hons., M. A., I. C S., I. A S., P. C S. आदि परीक्षाओं से प्रत्येक विषय से सम्बन्धित प्रश्न सङ्गीत किए गए हैं । इस से पुस्तक पाठ्यपुस्तक होने हुए सहायक पुस्तक का भी काम करती है ।

इन प्रकार इस पुस्तक का ज्ञान विस्तृत हो जाने और स्तर के उँचा हो जाने से यह न केवल सपरस्त विद्याविद्यालयों की परीक्षाओं और प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए परम उपयुक्त है, प्रयुक्त गमस्त सम्भृत, हिन्दी और भारतीय इतिहास के विद्वानों, समालोचकों, भारतीय-शाब्दिक-सेरियों और जनसाधारण के लिए पठनीय है ।

आगे दी हुई विषय-सूची से ग्रन्थ के स्तर और क्षेत्र का अनुमान सहज में ही किया जा सकेगा ।

## विषय-सूची

### १. विषयप्रवेश १-२९

वैदिकशाब्दिक का सिद्धांतश्लोक—१, संस्कृत शैलीकाव्य की भाषा—४, सम्भृत साहित्य के अध्ययन का महत्त्व—७; आधुनिक काल में सम्भृतसाहित्य का पुनरुद्धार—१०, लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत की विशेषताएँ—१६, संस्कृत, पाली, प्राकृत और आधुनिक भारतीय भाषाएँ—१६, भारतीय लिपि का प्रादुर्भाव और विकास—२१, सम्भृत साहित्य में ऐतिहासिक भावना का अभाव—१५, इतिहासनिर्माण के साधन—१७ ।

### २. वीरकाव्य—रामायण, महाभारत और पुराण ३०-८६

वीरकाव्य की उत्पत्ति और विकास—३०, रामायण का कर्तृत्व—३० शाखाएँ और विस्तार—३३, रामायण के दो भाग—३४, रामायण

होमर काव्यों का अनुकरण—३५; रामायण की तिथि—३६; रामायण की रचना का उद्देश्य और विषय—३८; रामायण का महत्त्व—४०; रोचक रमणीय शैली और गुण—४२; महाभारत का कर्तृत्व—४४; महाभारत का विषय—४६; महाभारत के विषयों की उत्पत्ति और विस्तार—४८; महाभारत में प्रक्षेप—५१; महाभारत का रचनाकाल—५२; महाभारत का महत्त्व—५४; भगवद्गीता—५८; रामायण और महाभारत की तुलना—५९; रामायण और महाभारत के सार—६१; पुराणों का सामान्य परिचय—६१; पुराणों का विशेष अध्ययन—पुराणों का लक्षण—६३; पुराणों के विषय और उन का विकास—६४; पुराणों के नाम और उन के विषयों के सार—६६; उपपुराण—६६; पुराणों का कर्तृत्व—७०; पुराण मूलतः कृत्रिमों की परम्परा नहीं है—७३; पुराणों का रचनाकाल—७४; साहित्य में पुराणों का उल्लेख—७६; आख्यानों की शक्ती—७६; पुराणों में शुद्ध याज्ञिक संस्कृति का अभाव—७७; पुराणों की निचली सीमा—७८; पुराणों का महत्त्व—८० ।

३. महाकाव्य—अ० कालिदास के पूर्ववर्ती कवि १अ—२२अ

कालिदास से पूर्व काव्यशैली की सम्पन्नता—१अ; संस्कृत काव्यशैली की उत्पत्ति और विकास—५ अ; संस्कृतकाव्य की विशेषताएँ—८ अ; पाणिनि—११ अ; वररुचि—१२ अ; अश्वघोष का जीवन और काल—१३ अ; अश्वघोष की कृतियाँ—१४ अ; अश्वघोष का कवित्व—१६ अ; अश्वघोष की कृतियों की उपलब्धि का महत्त्व—१९ अ; अश्वघोष और कालिदास की तुलना—२० अ; मातृचेष्ट—२२ अ ।

४. महाकाव्य [ चालू ]—आ० कालिदास और उन के ग्रन्थ २३अ—६५अ

कालिदास की तिथि—२३अ; कालिदास का जीवन—२६ अ; जन्मस्थान—३० अ; व्यक्तित्व—३१ अ; कालिदास की कृतियाँ—३२ अ;

श्रुतुंगदास—३४ अ; नैषधूत—३६ अ, कुमारगम्भर—३८ अ, रघुनश  
 —४१ अ, कालिदास के विशेष गुण—४६ अ, धलंशरों का प्रयोग—४८ अ,  
 उषा कालिदास—४९ अ, अन्य धलंशर—५२ अ, अर्थान्तरन्यास  
 की दृष्टा—५२ अ, श्लोक—५३ अ, छन्दों का प्रयोग—५३ अ, वर्णन-  
 शक्ति—५३ अ, दोष—५४ अ, दूतकार्यों की परम्परा—५४ अ, नैषधूत  
 के अनुकरण—५५ अ, कालिदास का प्रकृतिपरिर्गन—५७ अ; कालिदास  
 के पाठ्यों में जंघन आदर्श—६० अ, वैदर्भी रीति के मुख्य गुण—६५ अ ।

५ महाकाव्य [ उपसंहार ]—३० कालिदास के उत्तरकालीन कवि  
 ६६ अ—११३ अ

परमेन—६६ अ, मेण्ड या भतृमेण्ड—६६ अ, रायणाजुनीय या  
 आर्जुनरायणीय—६७ अ; भारवि—तिथि—६७ अ; गुण दोष—६८ अ,  
 किराताजुनीय की कथा और उस का स्रोत—७० अ, भारवि में कृत्रिमता  
 —७३ अ, भारवि का व्याकरण का प्रयोग—७४ अ, भारवि का अर्थगौरव  
 और व्यापहारिक ज्ञान—७६ अ, भट्टि—७६ अ; कुमारदास—८० अ;  
 माघ—तिथि—८२ अ; सिधुवालमघ की कथा और उस का स्रोत  
 —८३ अ, मूलकथा में परिवर्तन—८५ अ, माघ के गुण-दोष और  
 शैली—८६ अ, भारवि और माघ की तुलना—८८ अ, कालिदास, भारवि,  
 माघ और भीष्म की तुलना—९० अ, हरिजय—९० अ, कवि-  
 रहस्य—९३ अ, चंमन्द्र—९३ अ, कपलाश्वयुदय—९४ अ, मय—९४ अ,  
 भीष्म की तिथि—९४ अ, भीष्म की कृत्रिमता—९८ अ, नैषधचरित और  
 उस की कथा—९८ अ, नैषधचरित की पूर्णता—९९ अ, मूलकथा में  
 परिवर्तन—१०० अ, भीष्म का महत्त्व—१०० अ, संस्कृत महाकाव्यों की  
 परम्परा में भीष्म का स्थान—१०३ अ; विलस या द्वयर्थक काव्य—१०६ अ,  
 जैन कवियों की देन—१०८ अ, हरिचन्द्र—११० अ, संस्कृतकाव्यों में  
 उत्तरोत्तर कृत्रिमता और अवनत रचि—११० अ ।

## ६. ऐतिहासिक काव्य

११४ अ—१२८ अ

ऐतिहासिक काव्य की उत्पत्ति और विकास—११४ अ; प्राकृत में ऐतिहासिक काव्य—११७ अ; गउडवहो—११७ अ; संस्कृत के ऐतिहासिक काव्य—११८ अ; हर्षचरित—११८ अ; नवसाहस्रानुचरित—११९ अ; विक्रमाङ्कदेवचरित—११९ अ; राजतरंगिणी—१२० अ; राजतरंगिणी का ऐतिहासिक महत्त्व—१२२ अ; संस्कृत कवियों की तिथि के निर्णय में वाण का महत्त्व—१२५ अ; अप्रधान ऐतिहासिक काव्य—१२६ अ ।

## ७. गद्यकाव्य और चम्पू

१२९ अ—१८१ अ

गद्य की उत्पत्ति और विकास १२९ अ; गद्यकाव्यशैली का विकास दीर्घकालीन—१३४ अ; यूनानी प्रभाव १३५ अ; महाकाव्य की विशेषतायें—१३६ अ; गद्यकाव्य के भेद—कथा और आख्यायिका—१३७ अ; गद्यकाव्यों की विरलता के कारण—१३९ अ; संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास की रूपरेखा—१४० अ; गद्यकाव्यों का विस्तृत अध्ययन—मुच्यु—१४२ अ; वासवदत्ता की कथावस्तु और उस का आधार—१४४ अ; कथा का आधार—१४५ अ; वाण—जीवन—१४५ अ; वाण का रचनाकाल—१४७ अ; कादम्बरी की कथा—१५१ अ; कथा का मूल न्रोत—१५४ अ; वाण की व्यावहारिक बुद्धि और पाण्डित्य—१५४ अ; वाण का प्रकृतिनिरीक्षण—१५७ अ; दरिडन्—व्यक्तित्व—१५९ अ; तिथि—१६० अ; कृतियां—१६१ अ; दशकुमारचरित—१६२ अ; गुण और दोष—१६२ अ; शैली—१६३ अ; दशकुमारचरित की कथावस्तु—१६५ अ; दशकुमारचरित की कथावस्तु का श्रोत—१६७ अ; वाण और दरिडी की तुलना—१६८ अ; पिल्लो काल का गद्यकाव्य—१७० अ; शीलभट्टारिका—१७० अ; धनपाल—१७० अ; उदयमुन्दरीकथा—१७१ अ; गद्यचिन्तामणि—१७२ अ; वेमभूपालचरित—१७२ अ; आधुनिक गद्यकाव्य—शिवराजविजय—१७३ अ; निवन्धलेखन—१७३ अ; दयानन्द सरस्वती—१७४ अ; भीमसेन—१७४ अ;

हृषीकेश भट्टाचार्य—१७४ अ, अन्य निबन्धलेखक—१७५ अ, चम्पूकाव्य की उत्पत्ति और विकास—१७५ अ, चम्पूकाव्य की विशेषतायें—१७७ अ, नलचम्पू—१७७ अ, यशस्तिलकचम्पू—१७८ अ, जीमन्धरचम्पू—१७९ अ, रामायणचम्पू—१७९ अ, भारतचम्पू—१७९ अ, वरदाग्निकापरिचय चम्पू—१८० अ, पौराणिक चम्पू—१८० अ, विश्वगुणादयं चम्पू—१८० अ, सम्प्रदायों के विवेचक चम्पू—१८१ अ, स्मृतिशास्त्रादि चम्पू—१८१ अ, आधुनिक काल के चम्पू—१८१ अ ।

८. औपदेशिक जन्तुकथायें (नीतिकथायें) और लोकप्रिय कथायें  
१८२ अ—२१६ अ

भारत में जन्तुकथायों की उत्पत्ति और विकास—१८२ अ, उत्पत्ति—१८२ अ, विकास—१८४ अ, औपदेशिक जन्तुकथायों की विशेषतायें—१८५ अ, औपदेशिक जन्तुकथायों और लोकप्रिय कथायों में भेद—१८७ अ, जन्तुकथायों का सक्षिप्त नियन्त्रण—१८९ अ, पंचतन्त्र—१८९ अ, पंचतन्त्र का लेखक—१९० अ, पंचतन्त्र का रचनाकाल—१९० अ, पंचतन्त्र का विषय—१९१ अ, बौद्ध ग्रन्थ नहीं है—१९१ अ, कथा १९२ अ, पंचतन्त्र की शैली और गुणदोष—१९४ अ, पंचतन्त्र की शाखायें—१९५ अ, तन्त्राष्टाधिका—१९६ अ, सरल ग्रन्थ ( The Textus Smplicior ) १९६ अ, पूर्णमद्र का निष्पादित संस्करण—१९६ अ, दक्षिणी पंचतन्त्र—१९७ अ, नैपाली पंचतन्त्र—१९७ अ, हितावदेश—१९७ अ, पहलवी रूपान्तर और उस पर आभित अन्य पाश्चात्य भाषाओं के रूपान्तर—१९९ अ, भारतीय भाषाओं में अनुवाद—१९९ अ, गुणाव्य की बृहत्कथा और उस का साहित्य—२०० अ, तिथि—२०० अ, व्यक्तित्व—२०२ अ, स्थान—२०३ अ, ग्रन्थ का रूप—२०४ अ, बृहत्कथा के विषय और उन का आधार—२०४ अ, महत्व और गुण—२०५ अ, बुद्धम्वामी की बृहत्कथा श्लोकसंग्रह—२०५ अ, काश्मीरी बृहत्कथा—२०६ अ, बृहत्कथामञ्जरी—

२०७ अ; कथासरित्सागर—२०८ अ; साहित्यिक प्रकाश कथायें—२१० अ; वेतालपंचविंशतिका—२११ अ; कथा—२११ अ; शुकसप्तति—२१२ अ; कथा—२१२ अ; सिंहासनद्वयशिका—२१२ अ; सामान्य कथायें—२१३ अ; शिक्षाप्रद या नीति कथायें—२१४ अ; परिशिष्टार्थान्—२१४ अ; उपमिति-मयप्रपंचकथा—२१४ अ; औपदेशिक जन्तुकथाओं का पश्चिम पर प्रभाव—२१५ अ; पंचतन्त्र के पश्चिमी रूपान्तर—२१८ अ; शुकसप्तति के अनुवाद २१६ अ; अनुवादों में आख्यानों में हेरफेर—२१९ अ ।

६. मुक्तक और सूक्ति लेखक २२० अ—२६६ अ

संस्कृतमुक्तककाव्य की विशेषतायें—२२० अ; संस्कृतमुक्तक काव्य की उत्पत्ति और विकास—२२२ अ; मुक्तककवियों का विशेष अध्ययन—२२८ अ; भर्तृहरि—२२८ अ; अमरु—२३४ अ; तिथि—२३४ अ; रचना का उद्देश्य—२३५ अ; विशेषतायें—२३५ अ; विल्दग्न—२३७ अ; जयदेव की तिथि—२३८ अ; गीतगोविन्द की विशेषतायें—२३६ अ; गीतगोविन्द की लोकप्रियता और रथाति—२४२ अ; गीतगोविन्द का अष्टांश मूल—२४३ अ; शृंगारिक मुक्तककाव्य—२४३ अ; शृंगारतिलक—२४४ अ; षट्कर्परकाव्य—२४६ अ; मयूरशतक—२४७ अ; आर्यासप्तशती—२४७ अ; सुभाषितसंग्रहों में उपलब्ध शृंगार मुक्तक पद्य—२४८ अ; स्तोत्र और धार्मिक मुक्तक काव्य—२४६ अ; चण्डीशतक—२५० अ; सूर्यशतक २५१ अ; मातंग दिवाकर—२५१ अ; सूक्ति या सुभाषित संग्रह—२५४ अ; प्राकृत मुक्तककाव्य—२५६ अ; हाल की गाथासप्तशती—२५६ अ; तिथि—२५६ अ; स्वरूप—२५७ अ; विषय—२५७ अ; शैली आदि—२५७ अ; अन्य काव्य—२५८ अ; नीति मुक्तक काव्य—२५८ अ; प्रबोधक काव्य—२६४ अ ।

१०. संस्कृत नाटक की उत्पत्ति, विकास और विशेषताएँ २६७ अ—३०४ अ

उत्पत्ति और विकास—विहंगम दृष्टि—२६७ अ; उत्पत्ति—२६७ अ; भारतीय नाटक का विकास क्रम—२६६ अ; विशेष अध्ययन—भरत

१६६ अ; नाटक की उत्पत्ति में धार्मिक नियात्रों और  
 २७२ अ; वीरकाव्यों का योग—२७४ अ, नाटकों  
 की साक्षी—२७६ अ; पतंजलि की साक्षी—२७७ अ;  
 धार्मिक या लौकिक—धार्मिक—२८० अ, लौकिक—  
 संस्कृत नाटक का मूल प्राकृत नाटक—२८८ अ, संस्कृत नाटक पर  
 प्रभाव—२९० अ, संस्कृत नाटक पर शकों का प्रभाव—२९६ अ,  
 संस्कृत नाटक की विशेषताएँ—२९८ अ; नाटकों में संस्कृत और प्राकृत का  
 प्रयोग—३०३ अ ।

११. संस्कृत नाटक का विकास—भास, शूद्रक और कालिदास  
 ३०५ अ—३७१ अ

त्रिवेण्ड्रम नाटकों का कर्तृत्व (भास की समस्या)—३०५ अ; भास  
 की विधि—३०६ अ, कृतिया—३११ अ, भास की नाट्यकला—३१२ अ;  
 भास की शैली—३१४ अ; रूपों की भाषाएँ—३१६ अ, छन्द—३१७ अ;  
 पिछले कवियों पर प्रभाव—३१७ अ; भास के नाटकों की कथाएँ—३१९ अ,  
 भास की अन्य रचनाएँ—३२० अ, शूद्रक के पूर्ववर्ती नाटककार—३२१ अ;  
 शूद्रक—३२१ अ; मृच्छकटिक—३२२ अ, कथानक की मौलिकता—  
 ३२५ अ; मृच्छकटिक का कर्तृत्व—३२६ अ, तिथि—३२८ अ; शूद्रक का  
 चरित्रचित्रण—३२९ अ; मृच्छकटिक की शैली—३४१ अ; मृच्छकटिक  
 की प्राकृत—३४२ अ; नागदत्त और मृच्छकटिक का सम्बन्ध—३४४ अ;  
 नाटककार कालिदास—३४७ अ; नाटकों के कथासार—मालविकाग्निमित्रम्  
 —३४८ अ; गिरनोर्वशीयम्—३४९ अ; अभिज्ञानशाकुन्तल—३५० अ;  
 कालिदास के नाटकों की प्रमाणितता और शारदाएँ—३५१ अ, कालिदास  
 की नाट्यकला—३५३ अ, कालिदास के दोष—३५७ अ, कालिदास का  
 चरित्रचित्रण—३५८ अ; कालिदास की शैली—३६० अ; उपमा कालि-  
 दासस्य—३६२ अ, वर्खनराजि—३६६ अ, कालिदास का संदेश—३६८ अ;  
 भाषा और छन्द—३७० अ ।



१२. नाटकों का विकास (चालू)—कालिदास के कथायें—२१० अ;  
 कुसुमसूतिका—२१२ अ;  
 च कथायें—२१३ अ;  
 अश्वघोष के नाटक—३७२ अ; शारिपुत्र—१४४ अ; उपमितिलाक्षणिक और गणिका नाटक—३७४ अ; अश्वघोष के नाटक प्रभाव—३७५ अ; अश्वघोष के नाटकों के हृन्द—३७६ अ; चन्द्र या कृष्णत्वाद—३७६ अ; हर्ष—३७८ अ; हर्ष के नाटकों का कर्तृत्व और तिथि—३८० अ; हर्ष के नाटकों की कथायें—३८३ अ; रत्नावली—३८३ अ; प्रियदर्शिका—३८४ अ; नागानन्द—३८६ अ; हर्ष चतुर अनुकर्त्ता—३८८ अ; मेन्द्र विक्रम वर्मा का मत्तविलास—३८९ अ; भवभूति—सामान्य अध्ययन—तिथि—३९० अ; कृतियाँ और नाट्यकला—३९० अ; गुण दोष और शैली—३९३ अ; जीवन का यथार्थ चित्र—३९४ अ; पात्रों के अनुरूप भाषण—३९४ अ; भावप्रकाशन की शक्ति—३९४ अ; भवभूति को भाषा और हृन्द—३९७ अ; भवभूति—विशेष अध्ययन—व्यक्तित्व—३९७ अ; भवभूति के नाटकों की कथायें—३९९ अ; महावीरचरित—३९९ अ; मालतीमाधव—४०१ अ; उत्तररामचरित—४०४ अ; भवभूति का चरित्रचित्रण—४०६ अ; विदूषक का अभाव—४०७ अ; भवभूति का आलोचकों के प्रति भाव—४०८ अ; नाटक का आदर्श—४०९ अ; प्रेम का आदर्श—४०९ अ; प्रकृतिवर्णन—४१० अ; कवय रस का चित्रण—४१२ अ; कालिदास और भवभूति की तुलना—साम्य—४१५ अ; वैषम्य—४१७ अ; प्रकृतिचित्रण—४१७ अ; प्रेम का आदर्श—४१७ अ; उपमाएँ—४१८ अ; रस—४१८ अ; चरित्रचित्रण—४१८ अ; शैली—४१९ अ; विशाखदत्त—४१९ अ; रचनाएँ—४२२ अ; मुद्राराक्षस की कथा—४२२ अ; शैली और गुणदोष—४२६ अ; कौमुदीमहोत्सव—४२६ अ; शक्तिभद्र—४३० अ; हनुमन्नाटक—४३० अ; भट्टनारायण—४३१ अ; वैष्णोसंहार—४३२ अ; कथा—४३२ अ; नाटकीय कला—गुण और दोष—४३५ अ; मुरारि—४३८ अ; अनन्तराघव—४३८ अ; राजशेखर—४३९ अ; रचनाएँ—४४० अ; चोमीश्वर—४४२ अ;

१—४४५ अ, कृष्णमिश्र—४४६ अ, प्रयाग  
 शक्ति या अमस्तुतप्रशसामक रूपक—४४६ अ,  
 शैली—४५२ अ, कृदमाला का कथासार—४५२ अ,  
 नाटककार—शिवस्वामी—४५४ अ, अन्नगर्हर्ष मातरा  
 न; यशोवर्मनन्—४५५ अ, मयूरराज ४५५ अ, अन्य नाटक

### १३. भारत और पश्चिम का सम्बन्ध और आदान प्रदान

४५७ अ—४६४ अ

भारत का पश्चिम से प्राचीनकाल में सम्बन्ध—४५७ अ, भारत और पश्चिम का पारस्परिक आदान प्रदान—४६० अ, वीरकाव्य और नाटक—४६० अ, कृष्णपूना पर ईसाई प्रभाव—४६० अ, दर्शन—४६२ अ, विज्ञान—४६३ अ, रसायनशास्त्र—४६४ अ, ज्यामिती—४६४ अ, खेती—४६४ अ, शिल्प और कला—४६४ अ ।

#### परिशिष्ट

१ बुद्ध ग्रन्थों के कर्षीसार जो मूल में नहीं दिये गए हैं

१ इ—४ इ

सौंदरानन्द—१ इ, बुद्धचरित—२ इ,

२ प्रश्नसमूह १—१०७

४ इ—४३-इ

# डा० सुधीर कुमार गुप्त=का

लातः : दशकुमारचरितं प्रथमोऽङ्कासः

२ दशकुमारचरितम् (पृ० पी० १-३, उ० पी०)

३ शुक्नासोपदेशः

४ Nature of Vedic Shakhas

५ Authorship of Some of the Hymns  
of the Rigveda

६ वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन का सार

७ ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख

विस्तृत सूची पत्र संगोपं ।

सूचना—डाक द्वारा मन्दिर से मंगाई हुई स्वप्रकाशित सभी पुस्तकें नापस-  
होने पर पट्टच की तिथि से तीन दिन के भीतर अपने व्यय ।  
रविष्ट्री द्वारा विक्रेण योग्य टंकसाली अवस्था में लौटाने पर ग्राह  
को उस से लिया हुआ मूल्य मात्र मनी आर्डर से लौटा दि  
जायगा ।

भारती मंदिर, अनुसन्धान शाला,

1765 8 हीरापुरी, गोरखपुर ।

F 15

भारत प्रेस, गोरखपुर ।